ध्यान-विचार

आचार्य श्री विजय कलापूर्ण सूरिजी महाराज

श्री अरिहंत परमात्मा की प्रसन्नता की प्रसादी को क्या आप प्राप्त करना चाहते हैं ? तो उनकी आज्ञा को आत्म सात करिये।

"अपने चित को स्फटिक के समान निर्मल बनाये रखना" यही प्रभु की आज्ञा है ।

सभी जीवो को आत्मतुल्य देखने में दर्शन गुण की, सभी जीवो को आत्मतुल्य जानने में ज्ञानगुण की, सभी जीवों के साथ आत्मतुल्य व्यवहार में चरित्रगुण की सार्थकता है।

मूल्य : रु० १९५

॥ चरमतीर्थपति विश्ववत्सल श्री वर्धमानस्वाभिने नमः ॥

ध्यान-विचार

[सविवेचन]

: प्रेरक :

तत्वद्रष्टा नमस्कार निष्ट योगमूर्ति
पन्यास प्रवर श्री भद्रंकर विजयजी महाराज

: विवेचन-कर्त्ता :

कच्छवागड देशोद्धारक
पूज्य आचार्यदेव श्री विजय कनक सूरीश्वरजी महाराज के
प्रशिष्य पूज्य आचार्य श्री विजय कलापूर्ण सूरिजी महाराज

: हिन्दी अनुवादक :

श्री नैनमलजी सुराणा सिरोही (राज०)

: प्रकाशक :

श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मन्दिर
भूपतवाला, हरिद्वार-२४९ ४१० (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण : दिल्ली, १९९७

© श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मन्दिर, भूपतवाला, हरिद्वार

वितरक:
मोतीलाल बनारसीदास
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ११० ००७
८, महालक्ष्मी चैम्बर, वार्डेन रोड, मुम्बई ४०० ०२६
१२०, रॉयपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, मद्रास ६०० ००४
११, सनाज प्लाजा, सुभाष नगर, पुणे ४११ ००२
१६, सेन्ट मार्क्स रोड, बंगलौर ५६० ००१
८, केमेक स्ट्रीट, कलकत्ता ७०० ०१७
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
चौक, वाराणसी २२१ ००१

श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर, भूपतवाला,
हरिद्वार-२४९ ४१० (उ० प्र०) द्वारा प्रकाशित तथा जैनेन्द्रप्रकाश जैन,
श्री जैनेन्द्र प्रेस, ए-४५ नारायणा, फेज़-१, नई दिल्ली ११० ०२८ द्वारा मुद्रित

श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ हरिद्वार, उत्तर प्रदेश

संक्षिप्त परिचय :

आध्यात्मिक साधना में मंदिरों-तीर्थों का विशेष महत्व है । तीर्थों से नि:सृप्त होने वाली वीतरागता की ज्योति सांसारिक कर्मों में लिप्त मनुष्य को सदैव अपनी ओर आकर्षित करती रहती है- यही कारण है कि भारत में प्राचीनतम समय से तीर्थ-यात्रा को जीवन का पवित्रतम अनुष्ठान माना जाता है ।

समस्त भारत में जैन तीर्थ अपनी अनूठी स्थापत्य कला, वैभव, कला-कौशल एवं अप्रतिम निर्माण सौंदर्य के लिए अत्यंत प्रसिद्ध हैं । इन तीर्थों में पालीताणा, सम्मेत शिखर, आबू, तारंगा, गिरनार, मांडवगढ़, पावापुरी, क्षत्रिय कुण्ड, राजगृही, राणकपुर, हस्तिनापुर, कांगड़ा, शंखेश्वर, अयोध्या जैसे तीर्थ विशेष प्रसिद्ध हैं । जैन तीर्थों की इसी श्रृंखला में एक अभिनव तीर्थ उदय हुआ है-श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ श्वेताम्बर तीर्थ हरिद्वार, उत्तर प्रदेश-जिसके प्रति सारे जैन समाज की आस्था और निष्ठा समर्पित है । जब से चिन्तामणि पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा पधारी है, देव संकेत के अनुसार अनेक व्यंतर देवों को सम्यकत्व की प्राप्ति हुई है और होती रहेगी-युगों तक इस तीर्थ की महिमा अक्क्षुण बनी रहेगी ।

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के निर्वाण-स्थल अष्टापद के मार्ग में स्थित हरिद्वार नगर में जैन तीर्थ का उदय होना एक अविस्मरणीय ऐतिहासिक घटना है ।

पावन-भूमि हरिद्वार में वर्षों से कोई श्वेताम्बर जैन मन्दिर नहीं था । मोतीलाल बनारसीदास संस्थान के स्वर्गीय सुन्दर लाल जी जैन को यह अभाव सदैव खटकता रहा । सेठ कस्तूरभाई लालभाई की भावना भी यही थी कि इस पुण्य-भूमि पर एक भव्य जैन मन्दिर के साथ धर्मशाला, भोजनशाला व उपाश्रय का निर्माण होना चाहिए, किन्तु दोनों महानुभावों का यह स्वप्न उनके जीवनकाल में पूरा न हो सका ।

लाला सुन्दरलाल के भतीजे पद्मश्री शान्तिलाल जी जैन ने अपनी भावना सुश्रावक श्री शोरीलाल जी जैन नाहर ब्यावर निवासी (वर्तमान में मद्रास निवासी) के समक्ष रखी । अन्त:प्रेरणा से प्रेरित होकर श्रीयुत शोरीलाल जी ने स्वयं को इस सम्पूर्ण परियोजना के साथ तन-मन-धन से जोड़ा व तीर्थ निर्माण का समस्त कार्यभार अपने कंधों पर लिया । सर्वप्रथम भूमि का क्रय श्री शान्तिलाल जी ने अपने मित्र श्री ज्ञानचन्द जी जैन के सहयोग से किया । दैवयोग से मद्रास निवासी श्री अमरचन्द जी वैद, जिन्हें अपने दिवंगत पिताश्री का दैविक सान्निध्य प्राप्त है, भी इस परियोजना की महत्वपूर्ण कड़ी बने और मन्दिर निर्माण का स्वप्न साकार हुआ ।

मन्दिर का निर्माण दो खण्डों में हुआ है । भोयरे के गर्भगृह में 51" की श्री आदिनाथ भगवान

की श्वेतवर्ण प्रतिमा स्थापित कर दी गई, साथ ही भोयरे के रंगमण्डप में सीमंधर स्वामी व श्री महावीर स्वामी की प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं । मुख्य खंड के गर्भगृह में श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जी की प्रतिमा के अतिरिक्त श्री शान्तिनाथ जी व श्री नेमिनाथ जी की प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित किया गया है । कौली मण्डप में अधिष्ठायक श्री पार्श्व यक्ष एवं अधिष्ठायिका श्री पद्मावती यक्षिनी को प्रतिष्ठित किया गया है ।

शिल्प :

मन्दिर के शिल्प की योजना भारत के सुप्रसिद्ध सोमपुरा श्री अमृतभाई त्रिवेदी जी के सुयोग्य निर्देशन में बनाई गई । मन्दिर निर्माण का दायित्व श्री हर्षद चावड़ा को सौंप दिया गया ।

अंजनशलाका प्रतिष्ठा :

दैविक मार्गदर्शन के अनुरूप मन्दिर की अंजनशलाका प्रतिष्ठा महोत्सव शुभ मुहूर्त माघ शुक्ल 6, रविवार दिनांक 5 फरवरी 1995 को परम वंदनीय आचार्य भगवंत श्रीमद् पद्म सागर सूरीश्वरजी महाराज की पावन निश्रा में निर्विघ्न सम्पन्न हुआ ।

उपाश्रय, भोजनशाला व धर्मशाला :

मन्दिर से संलग्न तिमंजिले उपाश्रय, धर्मशाला एवं भोजनशाला की सुविधायें उपलब्ध हैं । वर्तमान में 200 यात्रियों के आवास की व्यवस्था है । एक अतिरिक्त विशाल धर्मशाला के निर्माण की योजना भी हाथ में है तथा इसके लिए भूमि का क्रय भी हो चुका है।

सुश्रावक श्री शोरीलाल जी नाहर के अर्न्तमन की भावना आरम्भ से ही यह रही है कि इस मन्दिर परिसर में नवकार-पीठ की स्थापना हो । इस वृहद योजना के अन्तर्गत सर्वप्रथम आध्यात्म योगी आचार्य कलापूर्ण सूरि महाराज जी की पुस्तक "ध्यान-विचार" जिसका अनुवाद उनके शिष्यों ने ही गुजराती से हिन्दी में किया है, का प्रकाशन होने जा रहा है । हमारा परम सौभाग्य है कि प्रकाशन का लाभ हमे प्राप्त हो रहा है ।

दीपावली
1996

ट्रस्टीगण
चिन्तामणी पार्श्वनाथ तीर्थ, हरिद्वार

सिद्धाचलमण्डनश्रीऋषभदेवस्वामिने नमः ।
श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ।
णमोऽत्थुणं समणस्स भगवओ महइमहावीरवद्धमाणसामिस्स ।
अनन्तलब्धिनिधानाय श्रीगौतमस्वामिने नमः ।

पूज्यपादाचार्यमहाराज श्रीमद्विजयसिद्धिसूरीश्वरजी पादपद्मेभ्यो नमः ।
पूज्यपादाचार्यमहाराज श्रीमद्विजयमेघसूरीश्वरजी पादपद्मेभ्यो नमः ।
पूज्यपादसद्गुरुदेव मुनिराज श्री भुवनविजयजी पादपद्मेभ्यो नमः ।

किंचित् वक्तव्य

जिनेश्वर भगवान के शासन में ध्यान का अत्यन्त महत्त्व है बारह प्रकार के तप में ध्यान को उत्कृष्ट तप के रूप में स्वीकार किया गया है । गाढ़ कर्मों के क्षय, आत्मशुद्धि और विविध लब्धियों तथा सिद्धियों की प्राप्ति में ध्यान जैन दर्शन में जैन शासन में महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकृत है । भगवान हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने योगशास्त्र के चौथे प्रकाश में कहा है—

मोक्षः कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो मतः ।
ध्यानसाध्यं मतं तच्च, तद् ध्यानं हितमात्मनः ॥ ११३॥

कर्मों के क्षय से ही मोक्ष प्राप्त होता है, कर्मों का क्षय आत्म-ज्ञान से होता है और ध्यान से आत्मज्ञान होता है। अतः ध्यान आत्मा का हितकारी है।

सचमुच, यह स्थिति होने पर भी जैन संघ में ध्यान का प्रचार दीर्घ काल से लगभग नहींवत् हो पाया है ।

अतः सामान्यतया विचार करने वाले जैन जैनेतर मनुष्यों को यही प्रतीत होता है कि जैन धर्म में क्रियाकाण्ड और उत्सवों का बाहुल्य है । तथा ध्यान जैसी साधनाओं का सर्वथा अभाव है । यह बात अनेक चिन्तकों-विचारकों को अखरती रही है । उल्लेखनीय है कि योग एवं ध्यान में गहरी रूचि रखने वाले, उद्योगपति होते हुए भी अभ्यासी एवं विद्वान् स्व० सेठ अमृतलाल कालीदास दोशी के मन में भी यह बात बहुत अखरती थी । अतः इस विषय के प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थों की जैन ग्रन्थ भण्डारों और जैन ग्रन्थ संग्रहालयों में खोज करने पर उन्हें "ध्यान विचार" नामक लघु पर महान् आकर जैसा ग्रन्थ प्राप्त हुआ । उन्होंने तुरन्त ही उसका अनुवाद करवाया और प्रकाशित रूप प्रदान किया । मैंने उस समय अपनी प्राथमिक समझ के अनुसार उक्त अनुवाद में सहयोग भी प्रदान किया था ।

फिर भी, उसके विशिष्ट विवेचन की तो खास आवश्यकता महसूस होने के साथ-साथ यह माना कि विशिष्ट अभ्यास के विशिष्ट अधिकारी ही इसके लेखन में अपना योगदान दें । अतः विशिष्ट

अभ्यासी एवं विशिष्ट अधिकारी आचार्य श्री विजयकलापूर्णसूरीश्वरजी महाराज के कर-कमलों से यह विवेचन सम्पन्न हुआ है जिसे स्व० सेठ अमृतलाल कालीदास की संस्था—जैन साहित्य विकास मंडल, बम्बई की ओर से गुजराती भाषा में प्रकाशित किया गया और अब हिन्दी भाषा में मोतीलाल बनारसीदास की ओर से इसका प्रकाशन हो रहा है यह अपार हर्ष का विषय है।

विवेचक आचार्य श्री ने अनेक ग्रन्थों के पठन-मनन के आधार पर अनेक वर्षों तक अथक परिश्रम करने के बाद यह विवेचन तैयार किया जिसके लिए वह ध्यान-साहित्य रसिकों के अभिनन्दन के पात्र हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पठन-मनन से पाठक यह अच्छी तरह समझ सकेंगे कि जैन शासन में ध्यान की अनेक प्रणालियां प्रचलित थी जिनमें से कुछ आज भी यथोचित और यथासम्भव रूप से क्रियान्वित की जा सकती हैं ।

पाठकगण इस ग्रंथ के पठन-मनन निदिध्यासन से लाभान्वित हों और जैन संघ में ध्यान की परम्परा योग रूप में सम्यक् प्रकार से पुनर्जीवित हो। तथा इसके द्वारा उनका आत्म कल्याण हो यही हमारी हार्दिक कामना है।

विक्रम संवत् २०४५
श्रावण शुक्ला ८
चारूपतीर्थ ३८४२८५
[जिला मेहसाणा]
उत्तर गुजरात

पूज्यपादाचार्य महाराज श्रीमद्विजयसिद्धिसूरीश्वर
पट्टालंकार पूज्यपादाचार्य महाराज श्री मेघ सूरीश्वर
शिष्य पूज्यपाद गुरुदेव मुनिराज श्री भुवन विजयान्तेवासी
मुनि जम्बूविजय

अनुक्रमणिका

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ हरिद्वार : संक्षिप्त परिचय	३
२.	किंचित् वक्तव्य	५
३.	ग्रन्थ का विषयानुक्रम	८
४.	प्रेरणादाता पूज्य पन्यास भगवत श्री भद्रंकरविजयजी गाणिवर्य के सम्बन्ध में	१३
५.	पू. पं. भगवंत श्री भद्रंकर विजयजी गाणिवर्य का प्रेरक हस्तलिखित पत्र	१८
६.	पू. पं. भगवंत श्री भद्रंकर विजयजी गाणिवर्य के हस्तलिखित पत्र का हिन्दी अनुवाद।	२२
७.	ध्यान-विचार—ग्रन्थ परिचय	२४
८.	चौबीस भेदों का परम रहस्यार्थ	३४

ग्रन्थ का विषयानुक्रम

पूर्व विभाग

	विषय	पृष्ठ
	ध्यान विचार (विवेचन सहित) मंगलाचरण।	३
	मंगल आदि अनुबन्ध चतुष्टय	४
	''झाणाई'' पद का रहस्यार्थ	६
१.	ध्यान की परिभाषा	७-३४
	चंचल चित्त के प्रकार ८, ध्यान के अधिकारी १०, अध्यात्मयोग क्या है? ११, भावना योग क्या है? १२, ध्यान के प्रकार: आर्त्तध्यान १३, आर्त्त ध्यान के चार प्रकार १३, रौद्रध्यान २४, रौद्रध्यान के चार प्रकार १५, रौद्र ध्यान के लक्षण १६, शुभध्यान का प्रारम्भ १६, भावध्यान के मुख्य चार प्रकार १७, ध्यान योग्य चिन्ता-भावना एवं स्थान १७, ध्यान के योग्य स्थान १८, स्थान की अनियतता १८, काल की अनियतता १८, आसन की अनियतता का कारण १९, धर्म-ध्यान के चार आलम्बन १९, धर्म ध्यान के चार लक्षण २०, सामयिक आदि आवश्यक २०, ध्यान-प्राप्ति का क्रम २१, ध्यातव्य २१, आज्ञाविचय का स्वरूप २२, अपायविचय का स्वरूप २४, मिथ्यात्व आदि की अनर्थता २५, विपाक-विचय का स्वरूप २६, संस्थान-विचय का स्वरूप २६, धर्मध्यान एवं मैत्री आदि भाव २९, (१) आज्ञा विचयध्यान एवं मैत्री-भाव ३०, (२) अपाय विचय ध्यान एवं प्रमोदभाव ३१, (३) विपाक विचय ध्यान एवं करुणा-भाव ३२, (४) संस्थान विचय ध्यान एवं माध्यस्थ्य भाव ३३, धर्म-ध्यान की अनुप्रेक्षाएँ ३३, धर्म-ध्यान के बाह्य चिह्न ३४, धर्मध्यान का फल ३४	
२.	परम ध्यान	३५-४१
	शुक्लध्यान के चार आलम्बन ३५, शुक्लध्यान के चार लक्षण ३५, शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ ३६, प्रथम अर्थात् प्रथम शुक्लध्यान ३६, शुक्लध्यान का आंशिक स्वाद ३७, रूपातीत ध्यान ३९, परमात्म-मिलन की कला ३९, शुक्लध्यान के अधिकारी ४०	
३.	शून्यध्यान	४१-४५
	चित्त की बारह अवस्थाओं का वर्णन ४४	

४. परम-शून्यध्यान ४५

५. कलाध्यान ४६-५०

कुण्डलिनी का स्वरूप ४७, योगशास्त्र में कुण्डलिनी ४९, कलाध्यान की प्रक्रिया ५०, साढ़े तीन कलाओं का रहस्य ५०

६. परमकला ध्यान ५०-५२

७. ज्योति ध्यान ५२-५४

आत्म-ज्योति एवं अनुभव-ज्ञान ५३

८. परमज्योति ध्यान ५५-५८

९. बिन्दु ध्यान ५८-६३

मन्त्र की दृष्टि से बिन्दु का महत्त्व ५९, बिन्दु की दृष्टि से नमस्कार महामन्त्र ६०, बिन्दु-नवक के स्थान ६२

१०. परम बिन्दु-ध्यान ६३-६७

गुणास्थानक तथा गुण श्रेणी का स्वरूप ६४

११-१२. नाद-परम-नाद-ध्यान ६८-७३

नाद एवं प्राण का सम्बन्ध ६८, वाणी का सृष्टि-क्रम एवं नाद ६९, साधना-क्रम तथा नाद ७०, अनाहत क्या है? ७१, यन्त्र की दृष्टि से अनाहत ७१, अनाहत का उद्गम ७२, अनाहतनाद से बाह्य ग्रन्थियों का भेद ७२, "अनाहत-नाद" से आन्तर (कार्मण) ग्रन्थियों का भेद ७३, अनाहत-शब्द के प्रकार और उनका फल ७३

१३-१४. तारा एवं परम-तारा ध्यान ७४-७९

कायोत्सर्ग के उद्धेश्य-निमित्त ७५, अप्रमत्त अवस्था में ध्यान ७७

१५-१६. लय-परम-लय ध्यान ७९-८६

परमात्म-स्वरूप का चिन्तन ८१, योग की दृष्टि से लय-परम-लय ८४, आगमिक की दृष्टि से लय-परम-लय ८५, द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप ८५

१७-१८. लव-परम-लव ध्यान ८६-९०

उपशम श्रेणी ८६, क्षपक श्रेणी ८८

१९. मात्रा-ध्यान ९०-९२

रूपस्थ-ध्यान सालम्बन ध्यान है ९१

२०. परम-मात्रा ध्यान ९२-११७

अक्षर न्यास का महत्त्व ९४, (१) शुभाक्षर वलय ९४, (२) अनक्षर वलय ९४, (३) परमाक्षर वलय ९५, (४) अक्षर वलय ९७, (५) निरक्षर वलय ९८, (६) सकलीकरण वलय ९८, (७) तीर्थंकर मातृवलय ९९, (८) तीर्थंकर पितृ-वलय १०२, (९.) तीर्थंकर नामाक्षर वलय १०३, प्रभुनाम की महिमा १०४, (१०) सोलह विद्यादेवियों का वलय १०५, (११) अठाईस नक्षत्रों का वलय १०६, (१२) अठासी ग्रहों का वलय १०६, (१३) छप्पन दिक्कुमारियों का वलय १०६, (१४) चौंसठ इन्द्रों का वलय १०७, (१५) चौबीस यक्षिणियों का वलय १०७, (१६) चौबीस यक्षों का वलय १०८, सम्यग्-दृष्टि देव-देवियों के नाम-स्मरण के विविध स्थान १०८, सम्यग्-दृष्टि देव-देवियों के विशिष्ट कार्य १०९, (१७) स्थापना-चैत्य वलय १०९, जिन मूर्ति का माहात्म्य ११०, चैत्य की उपासना एवं संख्या-निर्देश १११, (१८ से २१) साध्यादि वलय ११३, तीर्थ की महत्ता ११४, (२२ से २४) भवन-योगादि वलय ११५, ''परम-मात्रा ध्यान'' की विशालता ११५, ''परम-मात्रा ध्यान'' की उपयोगिता ११६

२१. पद ध्यान **११७-१५५**

आगम-दृष्टि से परमेष्ठि नमस्कार का माहात्म्य ११७, परमेष्ठि नमस्कार का फल ११८, पद-ध्यान एवं परमेष्ठि नमस्कार ११९, पूजा के चार प्रकार १२१, गुणस्थान की दृष्टि से पूजा १२२, ''प्रतिपत्ति'' पूजा का तात्पर्य १२२, अरिहन्तादि पदों का विशिष्ट रहस्य-भूत अर्थ १२३, योग की दृष्टि से नमस्कार १२६, स्थान आदि योगों की व्यापकता १२७, ''नमो'' पद के द्वारा इच्छा आदि योग १२८, ध्यान की दृष्टि से नमस्कार १२८, अरिहाण थुत्तं सार्थ १२९, पंच परमेष्ठि चक्र की महिमा १३३, नवकार (पंचपरमेष्ठियों) के अधिकारी एवं उसका फल १३४, परमेष्ठि-नमस्कार क्या है? १३४, शेष ध्यान-भेदों का निर्देश १३५, परमाक्षरों के ध्यान का रहस्य १४१, ''पद-ध्यान'' एवं ''पदस्थ ध्यान'' १४३, नमस्कार के ध्यान की विविध प्रक्रियाएँ १४४, मन्त्र की दृष्टि से नवकार का महत्त्व १४५, नवकार मन्त्र की परम गुरुता १४५, नवकार की शाश्वत विद्यमानता १४५, विधिपूर्वक आराधना करने से तीर्थंकर-पद १४६, नवकार पंच-परमेष्ठि भगवानों की मन्त्रात्मक देह है १४६, पतित-पावन नवकार १४७, यन्त्र की दृष्टि से नवकार का महत्त्व १४७, चउविहज्झाणथुत्तं १४७, मूलाधार आदि १० चक्रों में परमेष्ठि पदों की ध्यान प्रक्रिया १४८-१५४

२२. परम-पद ध्यान **१५५-१५७**

तात्त्विक नमस्कार १५५

२३. **सिद्धि ध्यान** १५७-१६१

सिद्धि ध्यान का रहस्य १५८, सिद्ध परमात्मा का स्वरूप १५९, सिद्ध स्वरूप के ध्यान की एक प्रक्रिया १६१

२४. **परमसिद्धि ध्यान** १६१-१६६

"परमसिद्धि ध्यान" में तन्मयता सिद्ध करने का उपाय १६३, इस सम्बन्ध में आगम प्रमाण १६५

उत्तर विभाग

चिन्ता (चिन्तन) का स्वरूप तथा उसके भेद १६९-१८६

सात प्रकार की चिन्ता का स्वरूप १७१, चित्त के तीन प्रकार १७२, भावना का स्वरूप एवं उसके भेद १७३: (१) ज्ञान भावना १७७, (२) दर्शन भावना के प्रकार और स्वरूप १८१, (३) चरित्र भावना के प्रकार और स्वरूप १८१, (४) वैराग्य भावना के प्रकार और स्वरूप १८३

अनुप्रेक्षा १८६-१९७

बारह भावनाओं का स्वरूप १८७, सोलह विद्यादेवियों के नाम १९७

भवनयोग एवं करणयोग आदि का वर्णन १९७-२१४

योग, वीर्य आदि के कार्य-कारण भेदों का विचार २००, प्रणिधान आदि का वर्णन २०५, प्रणिधान आदि योगों मे चारित्र-योग २०६, मन की चार अवस्थाएँ और प्रणिधान आदि २०८, भवनयोग २०८, करणयोग २१०, बारह करणों का रहस्यार्थ २११, सामर्थ्य-योग आदि का स्वरूप २१४

छियानवे करणों का स्वरूप २१५-२३८

योग तथा करण में विशेषता २१६, (१) उन्मनीकरण २१६, करण एवं भवन की व्याख्या २१८, (२) निश्चित्तीकरण २१९, (३) निश्चेतनीकरण २२०, (४) निःसंज्ञीकरण २२१, (५) निर्विज्ञानीकरण २२३, (६) निर्धारणीकरण २२४, (७) विस्मृति-करण २२६, (८) निर्बुद्धीकरण २२६, (९) निरीहीकरण २२७, (१०) निर्मतीकरण २२८, (११) निर्वितर्कीकरण २२९, (१२) निरूपयोगीकरण २३१, ध्यान के भेदोपभेदों की विशालता २३४, छियानवे करणों की अपेक्षा से ९२१६ भेद २३५, भवन योग की अपेक्षा से ९२१६ भेद २३६, परम-ध्यान आदि २३ ध्यानों की अपेक्षा से ध्यान भेद २३७

(१) योग के आलम्बन २३८, (२) वीर्य-योग के आलम्बन २४२, ज्ञानाचार के आठ

प्रकार २४३, दर्शनाचार के आठ प्रकार. २४४, चारित्राचार के आठ प्रकार २४५, तपाचार के बारह प्रकार २४६, वीर्याचार के छत्तीस प्रकार २४७, (३) स्थामयोग के आलम्बन २४७, आठ करणों का स्वरूप २४८, (४-६) उत्साह, पराक्रम और चेष्ट-योग के आलम्बन २५३, लोक पुरुष २५३, अधोलोक २५४, मध्यलोक २५४, ऊर्ध्वलोक २५५, अधोलोक की व्यवस्था २५६, ऊर्ध्वलोक की व्यवस्था २५७, चौदह राजलोक की स्पर्शना २५७, लोक-स्वरूप के चिन्तन का महत्त्व २५८, लोकस्वरूप के चिंतन बिन्दु २५८, (७) शक्तियोग के आलम्बन २५९, जीव द्रव्य की स्वतन्त्रता एवं विशिष्टता २६०, जीव के दो लक्षण २६३, जीवों का सम्बन्ध २६४, निमित्त की आवश्यकता २६५: मैत्री आदि भावों की व्यापकता २६६, अजीव तत्त्व की चिन्ता २६७, पुण्य-पाप तत्त्व की चिन्ता २६८, आस्रव तत्त्व की जिन्ता २६८, संवर तत्त्व की चिन्ता २६८, निर्जरा तत्त्व की चिन्ता २६८, बंध तत्त्व की चिन्ता २६८, मोक्ष तत्त्व की चिन्ता २६८, परम तत्व की चिन्ता २६९, चिन्ता का फल २६९, (८) सामर्थ्य-योग के आलम्बन २६९, सिद्ध स्वरूप का चिन्तन २७०, मोक्ष का स्वरूप २७०, सिद्ध परमात्मा २७०, सिद्धों का अवस्थान क्षेत्र २७१, सिद्धों के गुणों की अनन्तता २७३, सिद्धि के सुख की पराकाष्ठा २७३, सिद्धि के सुख की अनन्तता २७४, ज्ञान-दर्शन की अनन्तता २७४, चारित्र-गुण की अनन्तता २७५, वीर्यगुण की अनन्तता २६५।

परिशिष्ट विभाग

परिशिष्ट १.	आचार्य श्री पुष्पभूति महाराज	२७९
परिशिष्ट २.	आद्य गणधर प्रभृति साधु संख्या, आद्य महत्तरा प्रभृति साध्वी संख्या	२८१
परिशिष्ट ३.	९६ भवनयोग तथा ९६ करणयोग	२८३
परिशिष्ट ४.	३६३ पाखंडियों का स्वरूप	२८६
परिशिष्ट ५.	"पासत्था" आदि साधुओं का स्वरूप	२९०
परिशिष्ट ६.	चौदह गुणस्थान	२९२
परिशिष्ट ७.	प्रणिधान का प्रभाव, "समाधान" के सन्दर्भ में दृष्टान्त समाधि के सन्दर्भ में दृष्टान्त	२९८
परिशिष्ट ८.	भाषा के ४२ प्रकार	३०१
ध्यान-विचारः (मूल पाठ)		३०७

प्रेरणादाता पूज्य पन्यासजी भगवान

यह स्पष्ट करते हुए अत्यन्त हर्ष होता है कि मुझे इस अद्भुत ग्रन्थ-रत्न का परिचय कराने वाले पूज्य पन्यास प्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य हैं, जिनके विरल चुम्बकीय व्यक्तित्व से अधिकतर जैन समाज सुपरिचित एवं प्रभावित है और जिन्हें "श्री नवकार वाले महाराज" कहकर पुकारने में गौरवानुभूति होती है । उन महामना महापुरुष के पुनीत दर्शन एवं शुभ सम्पर्क का प्रथम लाभ मुझे विक्रम संवत २०१३ में मांडवी (कच्छ) में प्राप्त हुआ था ।

प्रथम दर्शन से ही उनके प्रति मेरे अन्तःकरण में अनुपम अहोभाव एवं पूज्यभाव का प्रादुर्भाव हुआ था और फिर तो ज्यों-ज्यों आपश्री के निकट सम्पर्क एवं समागम के अवसर प्राप्त होते रहे, त्यों-त्यों मेरे अन्तर में अंकुरित उक्त अहोभाव में वृद्धि होती रही ।

उल्लेखनीय है कि पूज्य पन्यासजी महाराज श्री के प्रभावशाली सम्पर्क में आकर तथा उनकी वात्सल्यमयी निश्रा में रहकर अनेक व्यक्तियों ने जीवन में अपूर्व प्रेरणा प्राप्त की एवं उनके बताये हुए मार्ग पर चलकर आत्मरणकार पूर्ण जीवन के अपूर्व आनन्द का अनुभव किया। उन प्रातः स्मरणीय गुरुवर्य के असीम आशीर्वाद एवं अनुकम्पा के पात्र बनकर अनेक व्यक्ति धन्य एवं कृतार्थ हुए ।

मेरे जीवन पर भी इन आत्म-प्रतापी महापुरुष ने जो असंख्य-अपरिमित उपकार किए हैं, अपने नेत्रों से अमृत-वृष्टि की है, उनका मैं शब्दों के माध्यम से वर्णन करने में असमर्थ हूँ। इन परमोपकारी महापुरुष का प्रतिपल स्मरण कर उनके चरणारविन्द में कृतज्ञतापूर्वक नतमस्तक होकर मैं सदा कृतार्थता का अनुभव करता हूँ।

"ध्यान-विचार" विषयक प्रेरणा

परिश्रम की तनिक भी परवाह किये बिना पात्र आत्माओं को पत्रों के माध्यम से पूर्ण सन्तोष एवं समाधान कराने वाले पूज्य पन्यासजी महाराज ने मुझे भी प्रत्यक्ष रूप से तथा परोक्ष रूप से, पत्रों के माध्यम से अत्यन्त प्रेरणा प्रदान की । एक प्रेरणात्मक कृपा पत्र में आपश्री ने लिखा था कि "आपने ध्यान-विचार प्रकरण देखा होगा, यदि नहीं देखा हो तो एक बार अवश्य देख लें, ध्यान-विषयक अनेक रहस्यमय बातों का उसमें वर्णन है ।'नमस्कार स्वाध्याय' (प्राकृत विभाग) में वह प्रकाशित हो चुका है।"

"ध्यान-विचार" पढ़ने के सम्बन्ध में पूज्यश्री के उपरोक्त प्रेरक शब्द पढ़कर मेरा रोम-रोम पुलकित हो गया और मेरे अन्तर में एक ऐसा अपूर्व भावोल्लास उत्पन्न हुआ मानों पूज्य गुरुदेव मेरी साधना के मार्ग में आने वाले विघ्नों को दूर करने तथा अपूर्व भावोल्लास प्रकट करने के लिये मुझे इस प्रेरणा के रूप में अमाप शक्ति प्रदान कर रहे हैं। कैसा महान् अनुग्रह ! कैसा परम उपकारकभाव!

ग्रन्थ के रूप में श्री तीर्थंकर भगवान

पूज्य पन्यासजी भगवान् के उपकारक निर्देशानुसार ''नमस्कार स्वाध्याय'' पुस्तक प्राप्त करने के लिये प्रसिद्ध ज्ञान भण्डारो में खोज की गई । लगभग डेढ़ महीने के प्रयास के पश्चात् जिस दिन मुझे उक्त ग्रन्थ प्राप्त हुआ, वह दिन मेरे लिये अत्यन्त आनन्दमय-धन्य बन गया ।

परम कृपालु अरिहन्त भगवान एवं असीम उपकारी गुरुदेवों का विनय एवं सम्मानपूर्वक स्मरण-वन्दन करके मैंने ग्रन्थ को पढ़ना प्रारम्भ किया । एक बार आदि से अन्त तक मैंने उसे पढ़ लिया, जिससे ध्यान-विषयक मेरी अनेक जिज्ञासाएँ सन्तुष्ट हुईं । आज तक कहीं भी जानने अथवा सुनने में नहीं आया था, ऐसा ध्यान-विषयक अद्भुत एवं रहस्यपूर्ण वर्णन पढ़कर आत्मा असाधारण आनन्द से ओत-प्रोत हो गई। उस धन्य क्षण में मुझे पुनः इस बात का विश्वास हो गया कि—''सचमुच श्री जिनशासन एक परिपूर्ण एवं सर्वांग-समृद्ध धर्मशासन है, जिसमें ध्यान, योग अथवा अध्यात्म विषयक समस्त साधनाओं तथा सिद्धियों का निदर्शन किया गया है। आवश्यकता है केवल हममें उस प्रकार की सच्ची जिज्ञासा जागृत करने की और आगम ग्रन्थों में छिपे हुए उन रहस्यमय गूढ़ संकेतों को जानने, समझने एवं अनुभव करने के लिए यथार्थ दृष्टि एवं पात्रता विकसित करने की। ''ध्यान विचार'' के प्राथमिक पठन से आनन्द-विभोर बनी मेरी आत्मा में ऐसा अपूर्व भावोल्लास उत्पन्न हुआ मानों ग्रन्थ के रूप में साक्षात् श्री तीर्थंकर भगवान का पदार्पण हुआ हो और वह ध्यान योग के सम्बन्ध में कोई अद्भुत प्रेरणा का दिगन्तव्यापी प्रकाश प्रस्फुटित कर रहे हों। ज्ञानी भगवान ने सत्य ही कहा है—

शास्त्रे पुरस्कृते तस्माद्, वीतरागः पुरस्कृतः ।
पुरस्कृते पुनस्तस्मिन्, नियमात् सर्वसिद्धयः ॥ (षोडशक)

अर्थात् जो शास्त्र को प्रस्तुत करता है वह वास्तव में वीतराग भगवान को ही प्रस्तुत करता है । जहाँ वीतराग भगवान को प्रस्तुत किया जाता है वहाँ निश्चय ही समस्त प्रकार की सिद्धियाँ विद्यमान होती हैं ।

अपार करुणादृष्टि

परार्थ-व्यसनी श्री तीर्थंकर भगवान की आज्ञा में स्वयं के ''अहं'' को विलीन कर देने वाले महात्मा पुरुष दूर-दूर रहकर भी उपकार करते रहते हैं। इस तथ्य के प्रति अटूट श्रद्धा के साथ में भी ''ध्यान-विचार'' के पठन-मनन से प्राप्त उपलब्धियों को अपने क्षेत्र से अत्यन्त दूरी पर स्थिरता किये हुए पूज्य पन्यासजी महाराज को लिख भेजता और कतिपय अस्पष्ट प्रतीत होने वाली बातों अथवा अपनी शंकाओं का उनसे स्पष्टीकरण मंगवाता। मेघ की तरह वह स्वयं मुक्त मन से वृष्टि करते अर्थात् शीघ्र ही उन सब बातों के उत्तर देकर मेरी जिज्ञासा को शांत करने के लिए प्रत्येक

बात का स्पष्टीकरण भेजते जिससे आराधना एवं पठन-लेखन आदि कार्यों में मुझे बहुत सरलता और सहजता प्रतीत होने के साथ-साथ अप्रतिम सहायता भी प्राप्त होती । इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही "ध्यान-विचार" विषयक अनेक बातों के स्पष्टीकरण से सबंधित आपश्री का एक प्रेरक-पत्र प्रकाशित किया गया है, जिसको पढ़ने से आपश्री की आन्तरिक साधना, अगाध अनुप्रेक्षा, अलौकिक चिन्तन शक्ति एवं अपार करुणा-दृष्टि स्वतः स्पष्ट हो जाती है ।

आत्मिक साधना में प्रेरक एवं पूरक पूज्य पन्यासजी महाराज की प्रभावपूर्ण निश्रा में रहने के लिए मेरे मन में दीर्घ काल से प्रबल इच्छा थी। मेरी उक्त अभिलाषा विक्रम संवत् २०३१ में पूर्ण हुई। और जिस क्षेत्र में मेरी उक्त अभिलाषा पूर्ण हुई वह क्षेत्र था एकान्त, शान्त, साधन करने के योग्य स्थान "राता महावीरजी तीर्थ" उक्त समय चैत माह की शाश्वत ओली का था । पूज्य पन्यासजी भगवान की पुण्य निश्रा में चल रही श्री नवपदजी की आराधना के धन्य एवं पावन प्रसंग पर प्राप्त हुए इस सुअवसर से मेरा मन आनन्द-विभोर हो गया । पूज्यश्री की पावन निश्रा में श्री नवपदजी की उत्तम आराधना करने के साथ उनके गुण-वैभव का विशेष परिचय प्राप्त करने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त होने से आपश्री की सेवा से अधिकाधिक लाभान्वित होने के लिए मन अत्यन्त उत्सुक हो उठा ।

सह-चातुर्मास का अपूर्व लाभ

चैत महीने की ओली की आराधना निर्विघ्न सम्पन्न होने के पश्चात् शेष काल में आपश्री की सेवा में रहने का शुभावसर प्राप्त हुआ। इतना ही नहीं, बल्कि तत्पश्चात् वि० संवत् २०३१ का चातुर्मास बेड़ा (राजस्थान) में और वि० संवत् २०३२ का चातुर्मास लुणावा (राजस्थान) में आपश्री की प्रभावशाली निश्रा में ही करने का अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ ।

कई महीनों के इस दीर्घकालीन सहवास से मुझे उनमें विद्यमान विनम्रता, उदारता, क्षमा, निर्मलता, गम्भीरता, अनुकम्पा, करुणा, गुण-ग्राहकता, समता, परोपकार-परायणता आदि अनेक गुणों को अत्यन्त निकट से निहारने एवं अनुभव करने का अवसर प्राप्त हुआ, जिसके प्रभाव से उनके प्रति मेरे सम्मान और श्रद्धा में असीम अभिवृद्धि हुई।

श्री पंच परमेष्ठि भगवन्तों के प्रति आपश्री का अनन्य समर्पण-भाव देखकर अच्छे-अच्छे चिन्तक भी मुग्ध हो जाते हैं तथा जीवन में "नमस्कार-साधना" के अमृत-पान के आकांक्षी अनेक जिज्ञासु साधकों, चिन्तकों, साक्षरों तथा श्रमणों की आध्यात्मिक देह के निर्माण में आपश्री का असाधारण योगदान है ।

स्याद्वाद-रत्नाकर के गोताखोर पूज्य पन्यासजी भगवान को गहनतम तत्त्वज्ञान के जटिल प्रश्नों के तत्काल ठोस एवं आधार सहित उत्तर देते सुनकर अनेक तत्त्वज्ञ भी आपश्री के चरणों में नतमस्तक हो जाते। सतत सहवास के कारण मुझे भी ऐसे अनेक अनुभव हुए हैं।

पूज्यश्री ऐसे वात्सल्यमय थे कि अपने अमूल्य समय में से प्रतिदिन नियमित रूप से घण्टा-डेढ-घण्टा निकालकर मुझे नमस्कार महामन्त्र, परस्परोपग्रहो जीवानाम्, "उपयोग लक्षणम्" ये सूत्र, मैत्री आदि चार भावनाएँ, सामयिक भाव, ध्यान-योग एवं समाधि आदि पदार्थों के गहन रहस्य समझाते और उनके आधारभूत विविध शास्त्र-पाठ भी स्पष्ट किए। तदुपरान्त *ललित-विस्तरा, पंचसूत्र, आध्यात्मसार* आदि ग्रन्थों से विशिष्ट अर्थ एवं ऐदपर्यार्थ समझाने के साथ-साथ उन भावों को आत्मसात् करने की प्रेरणा भी प्रदान करते थे ।

"ध्यान-विचार" के लेखन हेतु प्रेरणा

सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति की भूमिका स्तर एवं शक्ति के सच्चे पारखी पूज्य पन्यासजी महाराज उसकी योग्यता एवं रूचि के अनुसार उसे ऐसी प्रेरणा एवं ऐसा प्रोत्साहन प्रदान करते थे कि उसमें सुषुप्त शक्तियाँ क्रमश: प्रकट होने के साथ कार्यान्वित होने लगती, जिससे प्रत्येक प्रोत्साहित व्यक्ति अपने स्तर के अनुसार आराधना के भाव से अभिभूत होकर अध्ययन, मनन, स्वाध्याय, तप वैयावच्च, भक्ति, जाप, ध्यान तथा वक्तृत्व-लेखन आदि कार्यों में प्रयत्नशील होने के साथ-साथ स्वपरोपकार के लिए तत्पर हो जाता ।

आपश्री के सम्पर्क में रहकर तथा "सिद्ध प्राभृत" एवं "ध्यान-विचार" का अध्ययन करने के बाद मैंने उनका संक्षिप्त सार लिखने का प्रयास किया था ।

"बेड़ा" के चातुर्मास में मैने "सिद्ध प्राभृत" संक्षिप्त सार पूज्यश्री को अवलोकनार्थ दिया । आपश्री ने उसका आद्योपान्त ध्यानपूर्वक अध्ययन किया परन्तु उसकी अनेक त्रुटियों के संबंध में कुछ निर्देश दिये बिना, उन्होंने मेरे प्रथम प्रयास के लिए आत्म-सन्तोष एवं प्रसन्नता व्यक्त करके लेखन सम्बन्धी कतिपय आवश्यक निर्देश देते हुए, मुझे प्रोत्साहित करते हुए कहा, "ध्यान-विचार" का शब्दार्थ प्रकाशित है, तनिक विवेचन करके उक्त ग्रन्थ के पदार्थों को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। आप यह कार्य आरम्भ करें ताकि आपको एवं अन्य साधकों को भी महान् लाभ हो सके ।"

अत: प्रश्न यह है कि साधक की योग्यता को झिंझोढ़कर जागृत करने में आपश्री की किन विशेषणों से प्रशंसा की जाए?

ग्रन्थ-समाप्ति एवं कृतज्ञता

अत: पूज्यश्री की वात्सल्यमयी उक्त प्रेरणा से उल्लसित होकर मैंने "ध्यान-विचार" का लेखन प्रारम्भ कर दिया। आपश्री की पुण्य-निश्रा में "चौबीस ध्यान प्रकार" तक का जो विवेचन लिखा गया असका निरीक्षण, शुद्धिकरण तथा संशोधन आपश्री ने कर दिया और शेष लेखन मैंने वि० संवत् २०३३ में आघोई (कच्छ) के चातुर्मास में पूर्ण किया । कालान्तर में पूज्यश्री की अस्वस्थता के

समाचार प्राप्त होने पर चातुर्मास पूर्ण होने के पश्चात् पुनः पूज्यश्री की पुण्य निश्रा प्राप्त करने का सुअवसर मिला ।

शारीरिक अस्वस्थता में भी मन की स्वस्थता एवं समता में स्थिर पूज्य पन्यासजी महाराज को "ध्यान-विचार" का शेष लेखन भी मैं उनकी समयानुकुलता के अनुसार पढ़कर सुनाता और उनके निर्देशानुसार उसमें आवश्यक सुधार एवं संशोधन करता रहता । इस प्रकार "ध्यान-विचार" के विवेचन का लेखन समाप्त होने पर आपश्री ने प्रसन्नता व्यक्त की और उक्त ग्रंथ के समुचित रूप से प्रकाशित होने की अभिलाषा व्यक्त की ।

ध्यान योग एवं अध्यात्म जैसे गूढ़ एवं गहन विषयों पर लेखनी चलाना मेरी शक्ति के परे है, यह मैं समझता हूँ। अतः आज पर्यन्त जो कुछ लेखन हुआ है अथवा हो रहा है, वह समस्त प्रभाव पूज्यश्री की प्रेरणा एवं कृपा-दृष्टि का ही है । यह तथ्य कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हुए मुझे अपार हर्ष की अनुभूति हो रही है । वास्तव में इस ग्रन्थ में मेरा योगदान कुछ भी नहीं अतः यह जिनका है उन्हीं के कर-कमलों में समर्पित करके मैं स्वयं को मुक्त और निर्बन्ध अनुभव करता हूँ।

विजय कलापूर्णसूरि

आश्विन शुक्ला १० रविवार
वि० संवत् २०४२
दिनांक १२-१०-१९८६
मांडवी (कच्छ)

પૂ. પં. ભગવંત શ્રી ભદ્રંકરવિજયજી ગણિવરનું પ્રેરણાદાયક હસ્તલિખિત પત્ર

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं

[illegible]

(૨)

એ ચાર ભાગમાં છે, [illegible]
આત્માના [illegible] પરમાત્માના
[illegible]

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं

(3)

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

इस ग्रन्थ-लेखन के प्रेरक तत्त्वदृष्टा स्व० पूज्य पन्यास श्रीभद्रंकर विजयजी महाराज का एक प्रेरणाप्रद पत्र
(हिन्दी अनुवाद)

मुण्डारा, अश्विन कृष्णा १

ज्ञानादि गुण-सम्पन्न श्री कलापूर्णसूरिजी सपरिवार वन्दनादि ।

शुक्ल एकादशी का पत्र समय पर मिला, ''ध्यान-विचार'' ग्रन्थ के परिशीलन से आनन्दानुभूति हुई—यह जानकर सन्तोष हुआ ।

''सुन्नं कल जोई'' गाथा पूर्वगत श्रुत की होनी चाहिए, उसका मूल अभी तक प्राप्त नहीं हुआ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ''ध्यान-शतक'' की गाथा के प्रमाण दिये हैं, जिनमें ''ध्यान-शतक'' के रचयिता भाष्यकार से भी यह कृति प्राचीन होना सिद्ध होता है । टीका की रचना भी आगमिक पदार्थों से युक्त है, जिससे सिद्ध होता है कि टीकाकार भी कोई आगमधर महापुरूष है। ध्यान, शून्य आदि प्रत्येक के साथ 'परम' शब्द जोड़कर व्यवहार-निश्चय दोनों का समन्वय किया है ।

''मात्रा एवं परम-मात्रा'' इन दो प्रकारों में प्रथम प्रकार मात्रा का है, जिसमें ''तीर्थंकरमिव आत्मानं पश्यति'' है और परम मात्रा में चतुर्विंशतिवलय परिवेष्टित आत्मा का ध्यान है। उस केवल्य अवस्था के पश्चात् सपरिकर परमात्म-दशा का ध्यान संभव है। इसका पुनः अवलोकन करेंगे तो अधिक स्पष्ट होगा।

श्री ''उपदेश-पद महाग्रन्थ'' की गाथा ८९० से ८९८ तक की टीका में एक राजा को रानी के ध्यानाभ्यास का विस्तृत वर्णन है। वह तभी यदि नहीं देखा हो तो देख लें, जिसमें रानी के संशय का उन्मूलन करने के लिए आचार्य महाराज ने जो ध्यान बताया है उसकी प्रथम गाथा निम्नलिखित है—

संपुन्न चंद वयणो सिंहासण संठिओ सपरिवारो।
झायव्वो य जिणिंदो केवलवरनाणुज्जलो धवलो ।।

तत्पश्चात् ध्यान-संबंधित सभी गाथाएं देखने योग्य हैं जिनसे ''परम-मात्रा'' ध्यान की प्रतीति होती है । उपदेशपद का अनुवाद युक्त ग्रन्थ पास में हो तो पृष्ठ ५२६ से ५३० तक देख लेना अभीष्ट होगा।

अंतिम ''पद-परमपद'' और ''सिद्धि-परमसिद्धि'' इनमें दोनों ध्यान सभी ध्यानों में सर्वोत्कृष्ट हैं। नमस्कार महामंत्र का ध्यान व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार से करने का स्पष्ट विधान उससे प्राप्त होता है।

ध्यान के प्रारम्भ में सात चिन्ता, चार भावना एवं ध्यान के अन्त में बारह अनुप्रेक्षा—यह भी शास्त्रीय

प्रक्रिया है। भावना एवं अनुप्रेक्षा शब्दों में जो अन्तर है वह स्पष्ट होता है। ''अनु पश्चात् प्रेक्षणम्।'' ध्यान होने के पश्चात् अनुप्रेक्षा द्वारा जिस संसार के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है उसके संस्कार अधिक गहराई में जाते हैं और उस प्रकार वैराग्य पुष्ट होता है ।

बारह भावनाओं में भी प्रथम छः का संसार की असारता समझने के लिये तथा अन्तिम छः का धर्म की सारभूतता समझने के लिए चिन्तन किया जा सकता है । ग्रन्थ में यह स्पष्ट नहीं है कि उनका चिन्तन किस प्रकार किया जाए तो भी निर्मल प्रज्ञा द्वारा शास्त्र से अविरुद्ध बनकर चिन्तन किया जा सकता है।

ग्रन्थ में भवनयोग, करणयोग में प्रथम आठ करणों का स्वरूप वीर्य-गुण के विकास की रीति को सूचित करता है और तत्पश्चात् बारह करणों का विचार ज्ञान-गुण के प्रकर्ष की प्रक्रिया को सूचित करता है ''ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः''। यह सूत्र इन दो गाथाओं के द्वारा निर्दिष्ट है, भवन तथा करण शब्दों के द्वारा निसर्ग एवं अधिगम—दो प्रकार की प्राप्ति का उपाय संगृहीत कर लेता है।

आज्ञा विचय आदि चार प्रकार के ध्यान के चिन्तन के लिए एक लेख प्राप्त हुआ है । आपके अवलोकनार्थ भेजूँगा ।

आचार्य महाराज का हस्त-लिखित पत्र प्राप्त हुआ। ध्यान-विचार के सम्बन्ध में अनुप्रेक्षा जानकर हर्ष हुआ । लेखन-कार्य सम्पूर्ण होने आया है, यह भी ज्ञात हुआ । योग एवं करण का विषय अत्यन्त गहन होते हुए भी उसका समुचित प्रकार से स्पष्टीकरण हो रहा है जो अध्येताओं के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा ।

卐

"ध्यान-विचार" ग्रन्थ परिचय

अनन्त ज्ञान-ज्योति के पुञ्ज, करुणा के महासागर, तीर्थंकर भगवान श्री महावीर स्वामी ने समग्र विश्व में ज्ञान का प्रकाश फैलाया है। भगवान के श्रीमुख से आत्मतत्त्व आदि तत्त्वों का स्वरूप सुनकर तथा ग्रहण कर प्रथम गणधर श्री गौतम स्वामीजी महाराज ने स्वयं स्फटिक सदृश निर्मल-निष्कलंक आत्मा का, आत्मा के द्वारा, आत्मा में ही अनुभव कर उक्त अनुभव-ज्ञान का सच्चा मार्ग समस्त मुमुक्षु साधकों के लिए उपकारी सिद्ध हो उसके लिये शास्त्रों में अद्भुत प्रकार से गुम्फित कर बताया है जो आज भी जिनागमों में विद्यमान है, जो अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने वाले प्रकाश की तरह जगमगा रहा है। ज्ञानी गुरुओं के सानिध्य में अपनी पात्रतानुसार उसका अध्ययन-मनन कर उस मार्ग से परिचित हुआ जा सकता है और उसकी आराधना की जा सकती है।

देवदुर्लभ इस मानव-जन्म की सार्थकता आत्मा को पहचानने एवं उसका अनुभव करने में निहित है।

आत्मा के तीन प्रकार

प्रत्येक देहधारी जीव में तीन प्रकार की आत्मा विद्यमान हैं—

बहिरात्मा, अन्तरात्मा, एवं परमात्मा।

आत्मा के ये तीन प्रकार वास्तव में आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं । जीव जब तक देह आदि बाह्य पदार्थों में आत्म-बुद्धि युक्त होता है तब तक वह "**बहिरात्मा**" कहलाता है, जीव के आन्तरिक चक्षु खुलने पर जब आत्मा में ही आत्म-बुद्धि होती है तब वह "**अन्तरात्मा**" कहलाता है तथा जब जीव पूर्णज्ञान एवं पूर्णानन्दमय अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तब वह "**परमात्मा**" कहलाता है ।

यह "परमात्मा" प्रच्छन्न रूप से समस्त जीवों में विद्यमान है। प्रगाढ़ अज्ञान रूपी भस्म से आच्छादित उस परमात्म स्वरूप की अनुभूति प्रबल ध्यान शक्ति से ही हो सकती है ।

पूर्वोक्त तीन अवस्थाओं में बहिरात्म-दशा त्याज्य है, अन्तरात्म-दशा उपाय/साधन रूप है और परमात्म-दशा उपेय/साध्य स्वरूप है ।

अन्तरात्म-दशा के द्वारा बहिरात्म-दशा का परित्याग करके परमात्म-दशा प्राप्त करना ही मानव जीवन का सार है। समस्त शास्त्रों का सार, तात्पर्यार्थ भी निष्कर्षत: यही है ।

ध्यान-योग का अधिकारी कौन?

ध्याता अन्तरात्मा ही ध्यान-योग का अधिकारी है। शास्त्रों में वर्णित समस्त प्रकार की ध्यान-योग की साधना परमात्म-दशा प्राप्त करने और उसका अनुभव करने के लिए है, परन्तु ध्यान-योग की

साधनाएँ उसके सच्चे अधिकारी के बिना फलदायी नहीं होती । अतः ध्यान-योग का सच्चा अधिकारी कौन है यह समझना परम आवश्यक है ।

पूज्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने "ध्याता अन्तरात्मा" अर्थात् अन्तरात्म-दशा को प्राप्त करने वाले साधक को ध्यान-योग का अधिकारी बताया है ।

ध्यान-योग के पथ पर अग्रसर होने के अभिलाषी व्यक्ति को सर्वप्रथम ध्याता ध्येय एवं ध्यान का वास्तविक स्वरूप समझना अनिवार्य है। ध्याता, ध्येय एवं ध्यान की शुद्धि त्रिवेणी-संगम तुल्य है । इन तीनों की एकता रूपी समापति साधक को परम पवित्र करती है एवं समस्त दुःखों को समूल नष्ट कर परम सुख प्रदान करती है। यहां हम ध्याता, ध्येय एवं ध्यान के स्वरूप पर संक्षेप में विचार करेंगे।

बहिरात्म-दशा में जीव अपनी देह के साथ ही तन्मयता-एकरूपता का अनुभव करता है, तब तक वह ध्यान-योग-विषयक चाहे जितना ज्ञान रखता हो तो भी उस पर ध्यान-साधना का प्रभाव नहीं पड़ता। साधना मात्र ज्ञान से-समझ से साध्य नहीं है, समझ के अनुसार चित्त की वृत्तियों का शुद्धीकरण एवं स्थिरीकरण आवश्यक है, जिसके लिए बहिरात्मभाव अर्थात् देह एवं तत्सम्बन्धी समस्त पौद्गलिक पदार्थों के प्रति होने वाले अहंकार एवं ममत्व भाव का परित्याग अनिवार्य है । आत्म-ज्ञानी महापुरुष ने जिनका आदर किया है और उपदेश दिया है वे यम, नियम, प्रत्याहार एवं धारणा रूपी अनुष्ठान उस बहिरात्म-भाव को नष्ट करके अन्तरात्म-भाव को प्रकट करने तथा स्थिर करने के प्रमुख साधन हैं।

दृष्टिगोचर होने वाला यह शरीर "मैं" नहीं परन्तु देह से भिन्न, परमात्मा सदृश जो आत्म-तत्त्व है वही "मैं" हूँ। ऐसी स्पष्ट समझ से समस्त मनस्तंत्र का गठन होता है। तब ही ध्यान-योग की साधना प्रारम्भ करने के लिये आवश्यक यम-नियम आदि पालन करने की सच्ची रूचि उत्पन्न होती है और देह आदि से सम्बन्धित बातों में साक्षी विकसित होती है ।

उदाहरणार्थ कस्तूरी मृग स्वयं की नाभि में विद्यमान कस्तूरी की सुगन्ध से प्रेरित होकर वह जहां है, वहां उसे खोजने के बदले वन में दौड़-भाग करता है—यह बहिरात्म-भाव है, हार-थक कर जब वह मृग कस्तूरी जहां है वहां आकर्षित होता है—यह अन्तरात्म-भाव है और कस्तूरीमय हो जाना परमात्म-भाव है। यह उदाहरण तीनों भावों अर्थात् तीनों दशाओं को स्पष्ट करता है।

बहिरात्म-भाव का परित्याग कर भीतर प्रविष्ट होना अन्तरात्म-प्रवेश है । यह झुकाव अथवा प्रवेश ज्यों-ज्यों सुदृढ़ होता है त्यों-त्यों दैहिक कार्यों के प्रति रूचि समाप्त हो जाती है लेकिन साक्षी-भाव रहता है, जिससे अन्तरात्म-भाव सुदृढ़ बनता है।

जीवात्मा एवं परमात्मा का सम्यग् योग अन्तरात्म दशा है। यह अन्तरात्मदशा ध्यान-योग एवं आत्मानुभव स्वरूप है। ज्यों-ज्यों अन्तरात्म दशा का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों जीवात्मा पर

आच्छादित अज्ञान-अविद्या के आवरण दूर होते जाते हैं और परमात्म-स्वरूप की सहज ज्योति प्रकट होती जाती है।

ध्याता-अन्तरात्मा अपनी प्रत्येक वृत्ति एवं प्रवृत्ति में ध्येय स्वरूप परमात्मा को ही केन्द्र में रखकर उनकी आज्ञानुसार यम, नियम आदि का यथाशक्ति पालन करता हुआ क्रमशः धारणा, ध्यान एवं समाधि का अभ्यास करता है, जिसे योग-शास्त्र में ''अष्टांग-योग'' की संज्ञा प्रदान की गई है।

ये साधना और अनुष्ठान करते समय परमात्मा के नाम एवं सदुपदेशों का सतत स्मरण रहने से साधक को परमात्मा का सतत प्रणिधान रहता है और इस प्रणिधान के प्रभाव से ही परमात्मा के साथ एकता-एकात्मता रूप समापत्ति (सहज समाधि) सिद्ध होती है ।

समापत्ति परमात्म-मिलन-स्वरूप है अतएव इसे योगियों की जननी कहा गया है। उन परम गुरु परमात्मा की अनन्य भक्ति के प्रभाव से साधक को इस जन्म में ही परमात्मा के दर्शन होते हैं, उनसे साक्षात्कार होता है। उसमें भी विशिष्ट कोटि का आत्म-दल युक्त साधक तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन कर तीसरे भव में तीर्थंकर पद प्राप्त करता है। इनके अतिरिक्त अन्य भव्य आत्मा विशिष्ट भक्ति-योग के फलस्वरूप ''सिद्ध'' पद प्राप्त करते हैं।

जीवन में परम-भक्ति का स्पर्श होने पर साधक को परम तृप्ति का अमृतानुभव होता है। ''अमर अविनाशी आनन्दमय मेरा स्वरूप'' ऐसा अनुभव नियमा परमानन्द में परिवर्तित होता है। फिर तो उस आत्मा के लिए प्राप्त करने जैसा कुछ भी शेष नहीं रहता। उसके शोक-सन्ताप आदि सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और परम गुण-सम्पत्ति प्रकट होती है। इस अवस्था का यथार्थ सुख शब्दातीत है।

तात्पर्य यह कि बहिरात्म-भाव नष्ट होने पर समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है। सुख बाहर नहीं है ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाने से ऐसी सुखद अनुभूति होती है।

अन्तरात्म-भाव प्रकट होने से मोह-तिमिर का सर्वथा नाश हो जाता है। जीव को मिथ्या में सत्य की भ्रान्ति यह मोह-तिमिर कहाता है। स्वरूप-सम्मुखता रूपी अन्तरात्म-भाव के प्रभाव से वह नष्ट हो जाता है।

परमात्म-दर्शन रूपी समापत्ति की एक बार अनुभूति होने के पश्चात् साधक उस स्थिति तक पहुँचने के लिए, उसमें अधिकाधिक समय तक स्थिर होने के लिए प्रयत्न करता है परन्तु कभी-कभी मोहजन्य संस्कारों की प्रबलता में जब वृद्धि हो जाती है तब चित्त डांवाडोल हो जाता है। इससे मन परमात्मा के उपयोग से भृष्ट होकर बाह्य विषयों की ओर दौड़ने लगता है अथवा यह कहिये कि अन्तरात्म-भाव छोड़कर बहिरात्म-भाव में कूद पड़ता है। उस समय साधक को परमात्मा के नाम का स्मरण, मन्त्र, जाप, गुण-कीर्तन, शास्त्राध्ययन, चिन्तन, मनन तथा शुभ भावना आदि आलम्बनों द्वारा मन की वृत्तियों को शान्त, स्थिर एवं एकाग्र बनानी चाहिए जिससे सम्यग् ज्ञान के

संस्कार सुदृढ़ बनने पर मन परमात्मा के ध्यान में स्थिरता-एकाग्रता प्राप्त कर सके, तन्मय हो सके ।

जिस साधक के हृदय में अपने परम ध्येय स्वरूप परमात्मा के प्रति अपूर्व आस्था, अविचल श्रद्धा एवं अनन्य भक्ति है, वह विषम से विषम परिस्थिति से अथवा बाह्य एवं आन्तरिक विघ्नों से न तो घबराता है, न भयभीत होता है और न ही तनिक भी विचलित होता है । ऐसे विकट समय में वह तुरन्त परमात्मा का स्मरण करता है, उन्हें पुकारता है और—

''किंकर्त्तव्यविमूढ़ोऽस्मि प्रद्ये शरणं च तम्''

जैसी प्रार्थना करता हुआ उनकी शरण में समा जाता है। उस समय उसके अन्तर का एक-एक तार ''तू-ही-तू-ही'' पुकार उठता है। उसके शब्दों में आर्जव एवं मार्दव होता है। शरणागत की आर्द्रता उसके रोम-रोम में कमल-पत्र पर पड़े ओस के बिन्दुओं की तरह लगी हुई रहती है ।

तात्पर्य यह है कि चित्त की शुद्धता का प्रतिपल पूर्णतः यत्न करना ध्याता का विशेष कर्त्तव्य है। चित्त-शुद्धि के बिना आत्म-शुद्धि असंभव है। इस तथ्य के प्रति दृढ़ आस्था वाला साधक ही अन्तरतम की साधना में सफल होता है।

ध्येय परमात्मा

ध्यान की सफलता अथवा सिद्धि तब ही प्राप्त होती है यदि ध्येय भी उतना ही उच्च, परम पवित्र और सर्व गुण सम्पन्न हो अर्थात् ध्याता के ध्येय रूप में परमात्मा ही हो तो—

''जेह ध्यान अरिहन्त को, तेहिज आतम ध्यान''

परमात्मा का ध्यान स्व-आत्मा का ही ध्यान है, क्योंकि आत्मा के शुद्ध स्वरूप और परमात्मा के मध्य कोई भेद नहीं है। अतः जो साधक परमात्मा को ही एक अनन्य शरणदाता मानकर उसकी किसी शर्त के बिना शरणागति स्वीकार करता है, उसकी परमात्मा सब प्रकार से रक्षा करता है । उसके अतिरिक्त इस लोक में अन्य कोई रक्षक नहीं है।

श्री अरिहन्त परमात्मा ''अभय'' प्रदान करने वाले हैं, वह शरणदाता हैं, अपनी शरण में आए हुए व्यक्ति को वह पूर्णतः निर्भय, निश्चिन्त एवं स्वतुल्य बना देते हैं, क्योंकि उनका यह सहज स्वभाव है।

ज्ञानपूर्वक परमात्मा की शरण ग्रहण करने से उनमें निहित शुद्ध धर्म का सम्मान होता है, जिससे शरणागत साधक में भी उसी प्रकार का शुद्ध धर्म प्रकट होता है।

परमात्मा के आलम्बन के बिना कोई भी साधक अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकता। अतः मुमुक्षु साधकों को सर्वप्रथम परमात्मा का स्वरूप पहचानना चाहिए और सदा उसका ध्यान करना चाहिए।

परमात्मा का शुद्ध स्वरूप

साधक ने जिन्हें अपने परम ध्येय के रूप में स्वीकार किया है, जिन्हें अपने त्राण, प्राण, शरण और आधार माना है, वे परमात्मा परम ज्योति स्वरूप हैं, परमेष्ठी-परम पद पर अवस्थित हैं, निरंजन हैं, अजन्मा हैं, सनातन-नित्य हैं, शम्भू एवं स्वयंभू हैं, जिन-वीतराग हैं। जिनमें विज्ञान, आनन्द और ब्रह्म एकात्मता को प्राप्त हुए हैं, जो शुद्ध हैं, बुद्ध हैं समस्त उपाधियों एवं समस्त विकारों से सर्वथा रहित हैं, जो व्यक्ति के रूप में मोक्ष में स्थित हैं एवं शक्ति के रूप में समस्त जीव-जगत् में व्यापक हैं, जहाँ से वाणी पुनः लौटती हैं और जहां मन की गति नहीं होती, उन परमात्मा का अकल, अगम्य स्वरूप मात्र शुद्ध अनुभव-गम्य हैं।

जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण एवं शब्द रहित हैं, जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप हैं, सम्पूर्ण विश्व के जीवों को सन्तप्त करने वाले राग-द्वेष आदि अठारह महादोषों-आन्तरिक शत्रुओं को जिन्होंने सर्वथा निर्मूल कर दिया है और जो अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द एवं वीर्य आदि अनन्त गुणों से सम्पन्न हैं ऐसा है परमात्मा का स्वरूप।

परमात्मा के दो प्रकार हैं साकार एवं निराकार। पहला संदेह अवस्था में धरातल पर विचरण करके उपदेश द्वारा ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाले सर्वज्ञ, वीतराग श्री तीर्थंकर परमात्मा साकार परमात्मा हैं और दूसरा घाती-अघाती समस्त कर्मों का पूर्णतः क्षय करके मन, वाणी और देह से रहित बने परम ज्योतिर्मय, निरंजन, निराकार, सच्चिदानंदमय, पूर्ण शुद्ध स्वरूप को प्राप्त, पूर्ण गुणवान सिद्ध पारमात्मा निराकार परमात्मा हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में परमात्मा के दोनों स्वरूपों का निर्देशन कर भिन्न-भिन्न पद्धतियों से उनके ध्यान में स्थिरता, एकाग्रता एवं तल्लीनता प्राप्त करने के उपाय भी बताये गए हैं।

वीतराग, अरिहन्त, जिन, शम्भु, बुद्ध, महादेव आदि नाम उपरोक्त शुद्ध स्वरूप वाले परमात्मा के ही वाचक हैं, ताकि किसी भी नाम से जो भक्तात्मा उनका स्मरण, वन्दन, पूजन, कीर्तन, ध्यान आदि उनके समान पूर्ण, शुद्ध स्वरूप प्राप्त करने के लक्ष्य से करता है, वह क्रमशः उस प्रकार का शुद्ध स्वरूप अवश्य प्राप्त करता है क्योंकि प्रत्येक जीव में प्रच्छन्न रूप से परमात्म-स्वरूप विद्यमान है। इलिका भ्रमरी के ध्यान से जिस तरह भ्रमरी बन जाती है, उस प्रकार से साधक परमात्म-ध्यान से अपना प्रच्छन्न परमात्म-स्वरूप प्रकट कर सकता है।[१]

परमात्मा का अपना यह सहज स्वभाव है कि अपने आश्रित भक्त साधक को अपने समान स्वरूप

---

१. **आत्मा मनीषिभिरयं, त्वदभेदबुद्ध्या,**
ध्यातो जिनेन्द्र! भवतीह भवत्प्रभावः ।।७ ।।
-"कल्याण-मन्दिर स्तोत्र"

प्रदान करना। अतः "निज सम फलद" कहकर ज्ञानी महापुरूषों ने परमात्मा की स्तवना की है, गुण-गान किया है।

स्व-तुल्य स्वरूप प्रदान करने के परमात्मा के सहज स्वभाव को जानकर योगी-पुरूष उनका अभेद-भाव से ध्यान करते हैं[१] और उक्त अभेद ध्यान के प्रभाव से स्वयं में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान परमात्म-स्वरूप का वरण करते हैं।

जितेन्द्रिय, क्षमाशील, सदाचारी एवं शुभ अध्यवसाय वाले जो साधक भिन्न-भिन्न साधना और उपासना-ध्यान मार्गों के द्वारा परमात्म स्वरूप का अनुभव करते हैं अथवा प्राप्त करते हैं वे समस्त साधक परमात्मा के ही सेवक हैं। अपनी-अपनी पात्रता के अनुसार साधक शीघ्र अथवा विलम्ब से मुक्ति पद-परमात्म स्वरूप प्राप्त करते हैं जिससे उनके सेवक-भाव को कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती।[२]

इस प्रकार परमात्मा के यथार्थ शुद्ध स्वरूप को पहचान कर जो साधक उसे ही अपना अनन्य शरणदाता एवं ध्येय के रूप में स्वीकार करता है, उनके शरण एवं ध्यान में एकरूप बनता है, वह साधक क्रमशः परमात्म भाव से भावित हो जाता है परमात्म स्वरूप को अनुभव करता है और स्वयं परमात्म स्वरूप बन जाता है।

इस प्रकार हमने ध्याता एवं ध्येय के स्वरूप का विचार किया। अब हम ध्यान-योग एवं समाधि का विचार करें।

साधना-पथः, ध्यान-योग एवं समाधि

अनेक मुमुक्षु साधक भिन्न-भिन्न ध्यान अथवा योग मार्ग की उपासना करके भी एक ही परब्रह्म-स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करते हैं।

---

१. **थोअव्व संपया ओह इयरहेऊ वओग तद्धेऊ।**
सविसेसुवओग सरुव, हेउ नियमसमफलयमुक्खे॥
-चैत्यवन्दन भाष्य ॥ ३५॥
य एव वीतरागः स देवो निश्चीयतां ततः।
भविनां भवदम्भोलिः स्वतुल्यपदवीप्रदः ॥ ४६॥
-"*योगसार*" प्रथम प्रस्ताव

२. **जितेन्द्रिया जितक्रोधा दान्तात्मानः शुभाशयाः।**
परमात्मगतिं यान्ति विभिन्नैरपिवर्त्मभिः ॥ ११॥
नूनं मुमुक्षवः सर्वे परमेश्वर-सेवकाः।
दुरासन्नादिभेदास्तु, तद् भृत्यत्वं निहन्ति न ॥ १२॥
-"*परमात्म ज्योतिपंचविंशिका*"

जिस प्रकार भिन्न-भिन्न मार्गों से प्रवाहित नदियां अन्त में एक ही समुद्र में समा जाती हैं, उसी प्रकार ध्यान, योग एवं समाधि के भिन्न-भिन्न प्रकारों के द्वारा साधक अन्त में पर-ब्रह्मस्वरूप परमात्म-पद प्राप्त करता है।

इस प्रकार साधनों में भिन्नता होने पर भी एक ही साध्य को सिद्ध करने वाले होने से परमार्थतः उन सब में एकता है ।

अन्तरात्म-दशा साधक अवस्था है, जिसमें चतुर्थ गुण-स्थानक से अर्थात् सम्यग् दृष्टि से लगाकर बारहवें गुण स्थानक (क्षीण मोह) तक के साधक ध्यान, योग एवं समाधि की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का अनुभव करते हैं। अतः ध्यान स्वरूप होने के कारण तीनों एक हैं।[१]

प्रस्तुत "ध्यान-विचार" ग्रन्थ में ध्यान, योग एवं चिन्मात्र समाधि (करण) के भेद, प्रभेद एवं उनका स्वरूप बताकर साधक-दशा में उत्पन्न होने वाले ध्यान, योग एवं समाधि की समस्त भूमिकाओं के निर्देश दिये गए हैं तथा ध्याता एवं ध्येय के स्वरूप का भी वर्णन किया गया है । उसका अध्ययन-मनन करने से योगी पुरुषों ने कैसे-कैसे ध्यान प्रयोगों, कैसी-कैसी योग साधनाओं एवं समाधि की अनुभूति करके केवल ज्ञान एवं निर्वाण-पद प्राप्त किये हैं अथवा प्राप्त करेंगे यह ज्ञात किया जा सकता है और साधक स्वयं उस साधना-पथ का अनुसरण करके स्वयं में अन्तर्निहित पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण आनन्दमय स्वरूप को प्रकट कर सकते हैं।

ध्यानं एकाग्रसंवित्तिः

अर्थात् एकाग्रध्यान अर्थात् एक आलम्बन युक्त, एक ध्येययुक्त ज्ञान, अर्थात् विजातीय ज्ञान रहित सजातीय ज्ञान की धारा ध्यान है ।

ध्यान-योग से सम्बन्धित ग्रन्थों में ध्यान की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ उपलब्ध हैं।

"श्री समवायांग सूत्र" में एक वस्तु में अन्तर्मुहूर्त काल तक चित्त की अवस्था को 'ध्यान' कहा गया है ।

तत्वार्थ सूत्रकार ने एकाग्र चिन्ता निरोध अर्थात् किसी एक विषय में चित्त की स्थिरता को "ध्यान" की संज्ञा दी है ।

पूज्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने मोक्ष-प्रापक धर्म-व्यापार को (योग) "ध्यान" रूप में स्वीकार किया है।

---

१. **योगो-ध्यान-समाधिश्च धीरोधः स्वान्त-निग्रहः।**
अन्तः संलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृताः बुधैः॥
–"*आदिपुराण*" सर्ग (२१)

श्री पतंजलि ऋषि ने स्वरचित योग-सूत्र में चित्त-वृत्ति निरोध को ''योग ध्यान'' संज्ञा से अभिहित किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में उपयुक्त ध्यान-परिभाषा ''चिन्ता एवं भावनापूर्वक स्थिर अध्यवसाय'' में उक्त परिभाषाओं की अपेक्षा तनिक विशेषता प्रतीत होती है और वह विशेषता यह है कि उसमें चित्त को ध्यान की भूमिका में प्रेरित करने अर्थात् ध्यान में स्थिर करने के लिए ध्यान से पूर्व जिस चिन्तन एवं भावना की प्रेरक शक्ति आवश्यक है, उसका स्पष्ट निर्देश किया गया है।

स्थिर-निश्चल अध्यवसाय अर्थात् आत्मा का परिणाम-आत्मा का उपयोग ध्यान है। ध्यान में स्थिरता-निश्चलता लाने के लिए प्रथम ध्येय पदार्थ का चिन्तन एवं भावन करना पड़ता है। यह होने के पश्चात् ध्यान एकाग्रतापूर्वक निश्चल हो सकता है ।

ध्यान में चेतना अर्न्तमुखी होकर अन्तरात्म रूप में परिणत होती है और तत्पश्चात् सर्वथा अहंकार रहित होकर परम शुद्ध परमात्मस्वरूप में उल्लसित बनती है। अपनी देह आदि के अनुकूल बाह्य सामग्री की प्राप्ति एवं प्रतिकूल सामग्री के परिहारार्थ हिंसा, असत्य, चोरी, काम-क्रोध-मान-माया-लोभ-ईर्ष्या, निन्दा आदि पापों के सम्बन्ध में चित्त में जो विचार-वृत्तियाँ बार-बार उत्पन्न होती हैं और उनके अनुरूप जीवन में जो प्रवृत्ति निरन्तर रहती हैं वे समस्त अशुभ चिन्तन एवं अशुभ भावना से उत्पन्न होने के कारण अशुभ हैं।

इस प्रकार अनादि काल से अभ्यस्त अशुभ चिन्ता एवं अशुभ भावना के कारण जीव को बार-बार आर्त्त एवं रौद्र ध्यान होता है। इन दोनों प्रकार के अशुभ ध्यान संज्ञी (मनयुक्त) एवं असंज्ञी (मनरहित) समस्त जीवों में न्यूनाधिक अंशों में होते ही हैं।

इस अशुभ ध्यान का निवारण करके शुभ ध्यान की उपलब्धि के लिए शुभ चिन्ता एवं शुभ भावना आवश्यक है।

चिन्ता विचारात्मक है। इसमें जीव आदि तत्त्वों का तथा ध्यान, परम-ध्यान आदि के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। शुभ चिन्ता मुख्यतः सात प्रकार की होती हैं।

भावना आचारात्मक है, जिसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वैराग्य का अभ्यास करना चाहिए मुख्य चार प्रकार की शुभ भावना है।

सात प्रकार की चिन्ता और चार प्रकार की भावना का इस ग्रन्थ में विस्तृत वर्णन किया गया है।

आगमिक परिभाषा में कहें तो चिन्ता 'ग्रहण-शिक्षा' स्वरूप है और भावना 'आसेवन शिक्षा' स्वरूप है।

इस प्रकार शुभ चिन्ता एवं शुभ भावना के सतत अभ्यास से स्थिर, शुभ अध्यवसाय रूप निश्चल ध्यान-दशा प्रकट होती है ।

चिन्ता एवं भावना ध्यान की पूर्व भूमिका है। साधक ने जिस प्रकार का ध्यान करने का लक्ष्य बनाया हो, तदनुरूप चिन्ता एवं भावना से अत्यन्त सरलतापूर्वक धयान दशा में प्रवेश किया जा सकता है और उसमें स्थिरता प्राप्त कर उत्तरोत्तर प्रगति की जा सकती है।

योग के आठ अंगों में ध्यान सातवाँ अंग है, जिसकी प्राप्ति इससे पहले छः अंगों का अभ्यास करने से ही होती है। उसी प्रकार यहां चिन्ता एवं भावनापूर्वक ध्यानाभ्यास में भी उन छः प्रकार के अंगों का अन्तर्भाव हो चुका है।

योग-मार्ग के समस्त ज्ञाताओं ने ध्यान-साधना से पूर्व धारणा की अनिवार्यता स्वीकार की है। उसी प्रकार यहाँ वर्णित चिन्ता एवं भावना भी धारणा-स्वरूप होने से ध्यान से पूर्व इसकी भी इतनी ही अनिवार्यता सिद्ध होती है।

चिन्तन रूप ज्ञान-शक्ति एवं पंचाचार के अभ्यास रूप वीर्य-शक्ति के द्वारा साधक के आत्म-परिणाम जब ध्येय में स्थिर होते हैं, तब उसे ध्यान कहा जाता है।

ध्येय-परमात्मा में ध्याता-अन्तरात्मा का एकाग्रचित्त होना और परमात्मा का संयोग होना ध्यान् योग है।[१]

ध्यान योग, मोक्ष का राजमार्ग

"**ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः।**" अनन्त ज्ञानी श्री तीर्थंकर परमात्मा ने सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-क्रिया को मोक्ष का मार्ग बताया है। सम्यग्-दर्शन एवं ज्ञान दोनों सहवर्ती होने से दर्शन का समावेश सम्यग् ज्ञान में हो जाता है । अतः यहाँ उसका अलग से उल्लेख नहीं किया गया।

सम्यग् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र—ये तीनों मिलकर मोक्ष-मार्ग बनते हैं। इन तीनों की विधिपूर्वक की जाने वाली आराधना मोक्ष का राजमार्ग है। इन तीनों शुभ ध्यान में अन्तर्भूत होने की अवस्था को मोक्ष का राजमार्ग कहा जा सकता है।

शुभ ध्यान के मुख्य दो प्रकार हैं— १. धर्म ध्यान, २. शुक्ल ध्यान।

इन दोनों में समग्र मोक्ष मार्ग समाविष्ट है, जिससे ध्यान-योग द्वादशांगी रूप श्री जिनशासन का सार है, रहस्यार्थ है। शेष समस्त अनुष्ठान ध्यान-योग सिद्ध करने के साधन हैं, जिससे ध्यान मोक्ष प्राप्ति का अनन्तर कारण है और शेष सर्व-विरति, देश-विरति आदि सदनुष्ठान परम्परा से मोक्ष-साधक बनते हैं। इस कारण समस्त ज्ञान आदि आचारों के सम्यक् पालन के द्वारा जो साधक शुभ ध्यान को सिद्ध करने का सुलक्ष्य रखते हैं, उन्हें उन अनुष्ठानों की विधि सम्मानपूर्वक की गई पवित्र

---

१. "**योगो मयि एकचित्तता**"
संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।

आराधना के प्रभाव से क्रमशः धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान करने की योग्यता प्राप्त होती है।

ग्रन्थकर्त्ता महर्षि ने स्वयं ध्यान से पूर्व श्रुत-चिन्ता एवं ज्ञान आदि आचारों के पालन स्वरूप भावना का ध्यान के लक्षण के रूप में वर्णन करके श्रुतज्ञान एवं शुभ अनुष्ठान के अभ्यास की अनिवार्यता का स्वागत किया है । इसका प्रधान कारण यह है कि श्रुतज्ञान एवं तदनुष्ठानों के सेवन से ही जीव की योग एवं उपयोग रूपी दोनों शक्तियों का उत्तरोत्तर विकास होता है।

जीव की मुख्य दो शक्तियाँ हैं—योग एवं उपयोग। योग आत्मा की क्रियात्मक अर्थात् वीर्य-स्फुरण रूप शक्ति है तथा उपयोग ज्ञानात्मक शक्ति है । प्रत्येक प्रवृत्ति में जीव की ये दोनों शक्तियाँ क्रियाशील होती हैं। जिनके तारतम्य घटने-बढ़ने से ध्यान की भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ हो सकती हैं।

चौबीस ध्यान भेदों का संक्षिप्त स्वरूप

१. ध्यान : प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रदर्शित २४ ध्यान-मार्ग भेदों में प्रथम भेद धर्म-ध्यान का है, जिसमें आज्ञा-विचय आदि रूप धर्म-ध्यान का निर्देश है। वास्तव में परमात्मा और उनकी आज्ञा दोनों एक हैं। जिनाज्ञा का ध्यान श्री जिनेश्वर परमात्मा का ही ध्यान है । अतः परमात्म-भक्त अन्तरात्मा प्रभु की आज्ञा को प्रभु-स्वरूप मानकर सर्वप्रथम उसका ही ध्यान करता है ।

श्री जिनाज्ञा की महिमा

श्री जिनेश्वर भगवान समग्र जीवराशि के परम हित-चिन्तक, परम आप्त पुरूष हैं। उनके त्रिकालाबाधित वचनों के संग्रह-रूप द्वादशांगी-जिनागम अत्यन्त निपुण हैं, क्योंकि उनमें आत्म-द्रव्य आदि का अत्यन्त सूक्ष्म फिर भी तथ्य रूप स्वरूप बताया गया है। वह आत्मा के केवलज्ञान आदि गुणों के स्वरूप को यथार्थ रूप से प्रकाशित करते हैं तथा उन गुणों की प्राप्ति के अचूक उपाय समझाते हैं।

श्री जिनाज्ञा अमोघ है, समस्त जीवों के समस्त कष्टों को कहने वाले हैं, समस्त जीवों का परम-हित, सुख एवं कल्याण करने वाले हैं और जिसमें जीवमात्र के परम हित का सर्वोच्च गान है। इस जिनाज्ञा की त्रिविधि-त्रिकरण योग से आराधना करने से अनन्त आत्माओं ने शाश्वत सुख प्राप्त किया है, प्राप्त कर रहे हैं और भविष्य में प्राप्त करते रहेंगे। आज्ञा की अखण्ड आराधना ही चारित्र है। यदि एक जिन-वचन को भी आत्मसात् किया जाए तो केवल ज्ञान प्राप्त होता है—"**एकमपि जिनवाचनं निर्वाहकं भवति**"। कहने का तात्पर्य यह है कि श्री जिनाज्ञा ही मोक्ष का सच्चा मार्ग है । इसकी आराधना से शिव-पद प्राप्त होता है और विराधना से संसार परिभ्रमण।

जिनकी आज्ञा इतनी प्रभावशालिनी है, उन श्री जिनेश्वर भगवान का प्रभाव कितना? शब्दातीत, कल्पनातीत, एक "अचिन्त्य" शब्द के द्वारा ही उनके प्रभाव के प्रकृष्ट भाव को पुनः-पुनः प्रणाम

करना पड़े वैसा अपार, अगाध, अपरिमेय।

मां की ममता से हम सब सुपरिचित हैं, धरती की क्षमा से हम सुपरिचित हैं, चन्द्रमा की शीतलता का हमें अनुभव है, सूर्य की प्रचण्ड़ तेजस्विता से हम परिचित हैं और सागर की गम्भीरता का भी हमें अनुमान है। यदि माता, धरती, चन्द्रमा, सूर्य, सागर आदि निजी गुणों की अनंत रूप से अभिवृद्धि कर दी जाए तो भी जिनके गुणों की गरिमा के समक्ष जो तुच्छ सिद्ध हो, ऐसे अचिन्त्य गुणवान् प्रभावशाली श्री जिनेश्वर भगवान के गुणों की महिमा जिसने यत्किंचित् प्रमाण में भी समझी है, जानी है, आनन्दानुभूति की है उसे भगवान के अतिरिक्त सब सूना-सूना निरर्थक प्रतीत होता है। उसे अपनी देह रिक्त कलेवर सी, निष्चेतन सी प्रतीत होती है अर्थात् भगवान ही उसकी आत्मा बन जाते हैं। उनका नाम स्मरण करने से उसके समस्त प्राण हर्ष विभोर हो जाते हैं। उनके गुणों का कीर्तन करने से उसकी साढ़े तीन करोड़ रोमावलि में हर्ष के दीपक प्रज्वलित होते हैं। उसका समग्र चित्त भगवान के परम कल्याणकारी विशुद्ध स्वरूप में एकाकार हो जाता है । इस प्रकार आज्ञा के ध्यान से आज्ञाकारक परमात्मा का ही ध्यान होता है।

तात्पर्य यह है कि श्री जिनेश्वर भगवान की आज्ञा की आराधना, ध्यान योग के द्वारा भावपूर्ण स्तुति एवं स्तवन के द्वारा, उत्तम द्रव्यों आदि से होती पूजा के द्वारा तथा व्रत-नियम-चारित्र के पालन के द्वारा होती है।[१]

द्रव्य पूजा रूप द्रव्यस्तव भी भावस्तव (भाव पूजा) का कारण है, स्वर्ग एवं अपवर्ग (मोक्ष) प्रदान करने वाला है और चित्त की प्रसन्नता का कारण है अतः गृहस्थ जीवन में श्रावकों को द्रव्यस्तव पूजा आदि अवश्य करने चाहिए, क्योंकि मानव अनेक कर्म-युक्त होने पर भी द्रव्य पूजा आदि के द्वारा प्रकट हुए शुभ भावों के द्वारा सर्व विरति प्राप्त करके क्रमशः समस्त कर्मों का समूल क्षय करके समस्त जीवों को स्वयं से होने वाली पीड़ा से मुक्त करके मुक्ति-सुख का वरण करता है।

श्री जिनाज्ञा के इस सहज तारणहार प्रभाव के प्रति असीम श्रद्धा रखता हुआ सुज्ञ साधक उसका पालन करने में सर्वत्र सदा तत्पर रहता है।

अर्थात् आज्ञा-विचय धर्म-ध्यान अर्थात् श्री जिनेश्वर भगवान की विश्व-हितकारिणी आज्ञा का निर्मल एवं स्थिर चित्त से, एकाग्रता से चिन्तन, मनन, पालन समस्त ध्यान भेदों का मूल है, उनकी नींव है।

आज्ञा-विचय धर्म-ध्यान में अभ्यस्त होने के पश्चात् शेष परम ध्यान आदि ध्यान क्रमशः सरलतापूर्वक सिद्ध होते हैं।

---

१. **इयं तु ध्यानयोगेन भावसारस्तुतिस्तवैः।**
पूजादिभिः सुचारित्रचर्यया पालिता भवेत् ॥ २८॥
– *योगसार* (प्रथम प्रस्ताव)

ध्यान आदि के अभ्यास से साधक का चित्त ज्यों-ज्यों अधिक निर्मल, स्थिर एवं एकाग्र होता जाता है, त्यों-त्यों वह परमात्मा-स्वरूप से विशेष तन्मयता करता है।

चित्त को स्फटिक तुल्य निर्मल बनाना ही परमात्मा की आज्ञा है, इस अपेक्षा से समग्र ध्यान, अथवा योग का साधना जिनाज्ञा का पालन स्वरूप होने से प्रतिपत्ति-पूजा है जो समस्त प्रकार की पूजाओं में श्रेष्ठ है। उपशान्त मोह, क्षीण-मोह एवं सयोगी केवली को भी जिनाज्ञा पालन स्वरूप प्रतिपत्ति-पूजा होती है। देश-विरति से लगाकर केवलज्ञानी तक की भूमिकाएं प्रतिपत्ति-पूजा स्वरूप हैं।

इस प्रकार विचार करने पर स्पष्टतया समझा जा सकता है कि इस ग्रन्थ में निर्दिष्ट २४ ध्यान-भेद एवं उनके समस्त उपभेद जिनाज्ञा पालन रूपी प्रतिपत्ति-पूजा के द्योतक हैं। उन ध्यानों के आलम्बन से भक्त-साधक भगवान के शुद्धतम स्वरूप में तन्मय होकर क्रमशः स्व-शुद्ध स्वरूप सिद्ध करता है।

२. परम-ध्यान : प्रथम धर्म-ध्यान के दीर्घकालीन अभ्यास से जब साधक आत्मा में उत्कट प्रकार की क्षमा, मृदुता, ऋजुता, सन्तोष वृत्ति, अनुपम सहनशीलता आदि गुणों एवं मैत्री आदि भावों का संवर्धन होता है, तब परम-ध्यान स्वरूप शुक्ल-ध्यान का प्रारम्भ होता है ।

धर्म-ध्यान शुक्ल-ध्यान का बीज है।

परम-ध्यान शुक्ल-ध्यान का प्रथम प्रकार "पृथक्त्व-वितर्क-सविचार" स्वरूप है। वह मुख्यतः अपूर्व करण आदि ८ से ११ गुणस्थानकों में श्रेणिस्थ जीवों को प्राप्त होता है एवं गौण रूप से अप्रमत्त मुनि को भी रूपातीत ध्यान के समय शुक्ल-ध्यान का अंश मात्र होता है।[१]

किसी भी प्रकार अथवा पद्धति से होने वाला ध्यान जब ध्येयाकार की अवस्था प्राप्त करता है तब वह "समापत्ति" कहलाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में परम शब्द से निर्दिष्ट परम-ध्यान, परम-शून्य, परम-कला आदि ध्यान-ध्येय के साथ ध्याता की एकता-समरसी भावरूप समापत्ति सूचित करते हैं।

३-४. शून्य-परम-शून्य : किसी भी प्रकार के विकल्प अथवा आकार के आलम्बन के बिना ध्यान-साधना का प्रारम्भ नहीं हो सकता। ध्यान-मार्ग के पथिक मुमुक्षु साधक को सर्वप्रथम साकार एवं सविकल्प ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। जब सविकल्प ध्यान के दीर्घकालीन अभ्यास के पश्यात् चित्त बाह्य व्यापार एवं वृत्ति से शून्य हो जाता है, तब वह सगुण, साकार परम ब्रह्मरूप ध्येय के साथ तादात्म्य भाव स्थापित करता है । इसे "भाव-शून्य" ध्यान कहते हैं। इस ध्यान के सतत्

---

१. **तत्राष्टमे गुणस्थाने शुक्लसद्ध्यानमादिमम्।**
ध्यातुं प्रक्रमतेसाधु-राद्यसंहननान्वितः॥

-गुणस्थान क्रमारोह

अभ्यास से जब चित्त बाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार की वृत्तियों से शून्य हो जाता है, उस समय वह निरंजन, निराकार, ज्ञान एवं आनन्दमय आत्मा का अनुभव करता है।

यहाँ उल्लिखित शून्य ध्यान चित्त को विकल्परहित बनाने के अभ्यास-स्वरूप है जिसके फलस्वरूप उन्मनीकरण आदि चिन्मात्र समाधि प्राप्त होने पर निरंजन, निराकार, आत्मा का अनुभव होता है ।

चित्त की क्षिप्त, निद्रा आदि अवस्थाओं में जो विचार-शून्यता होती है, वह आत्म-शुद्धि एवं स्थिरता के लक्ष्य से रहित होने से द्रव्य शून्यता'' है। इसी प्रकार से कुछ अन्य प्रयोगों द्वारा मन को विचार-विकल्प-शून्य कर देने मात्र से ध्यान-जनित आत्मिक आनन्द की अनुभूति नहीं की जा सकती, परन्तु आज्ञा-विचय आदि शुभ-ध्यान के सतत् एवं दीर्घकालीन अभ्यास के प्रभाव से चित्त जब अल्प समय के लिए विकल्प रहित बनता है, तब ही यथार्थ आत्मिक आनन्द की अनुभूति की जा सकती है । इसीलिये शून्य-ध्यान का निर्देश आज्ञा-विचय आदि धर्म-ध्यान के पश्चात् किया गया है तथा शेष कला आदि ध्यान भी आज्ञा-विचय आदि ध्यान अभ्यास के पश्चात् ही यथार्थ रीति से साध्य होते हैं।

परम-ध्यान एवं शून्य-ध्यान के सतत् अभ्यास से ''परम-शून्य-ध्यान'' सिद्ध होता है। मल को सर्वप्रथम त्रिभुवन-व्यापी करने के बाद उसे एक वस्तु में ''संकुचित'' कर वहां से पृथक् करने की स्थिति परम-शून्य ध्यान बन जाती है।

५-६. कला-परम-कला : चित्त की विकल्परहित अवस्था हो जाने से प्राणशक्ति रूपी कुण्डलिनी सहज रीति से ऊर्ध्वगामी हो जाती है। इसका मुख्य कारण शुभ ध्यान की प्रबलता है, जिससे उस साधक को देश, काल, करण अथवा आसन आदि किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती ।

कला ध्यान सहज समाधि को सूचित करता है। उस अवस्था में साधक को अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। आचार्य श्री पुष्पभूति का दृष्टान्त इसकी पुष्टि करता है। वह कला ध्यान के प्रभाव से दीर्घ काल तक समाधि में लीन रह सके थे।

''परम-कला ध्यान'' महाप्राण ध्यान के समय चौदह पूर्वधर श्रुत केवलियों को होता है। कुण्डलिनी-उत्थान की समस्त प्रक्रियाएँ कला ध्यान में अन्तर्भूत हैं।

७-८. ज्योति-परम-ज्योति : प्रशस्त ध्यान के अभ्यास से जब मन आत्म-तत्त्व में लीन हो जाता है उस समय सहज शान्त आन्तरिक ज्योति प्रकट होती है । इसे ''अनुभव प्रकाश'' भी कहते हैं। अन्तर में परमात्मा के दर्शन होने में भक्त-साधक इस प्रकार का अनुभव प्रकाश प्राप्त करता है। प्राप्त अनुभव प्रकाश की उसके निरन्तर अभ्यास से ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों दुःखदायी

क्लिष्ट कर्मों का नाश[१] होता जाता है और "परम-ज्योति स्वरूप" परमात्म-पद का वरण करता है।

ज्योति-ध्यान के दीर्घकालीन अभ्यास के प्रभाव से परम समाधि की अवस्था में "परम-ज्योति" का प्रादुर्भाव होता है। परम-ज्योति स्वरूप यह ज्ञान प्रकाश चिरकालिक एवं स्थायी होता है।

स्थिर अध्यवसाय रूप जिस ध्यान विशेष से आत्मानुभव रूप ज्योति-परम-ज्योति का प्रकटीकरण होता है उस ध्यान को ज्योतिर्ध्यान और परम ज्योतिर्ध्यान कहते हैं।

इस परम-ज्योति की सिद्धि परम ज्योतिर्मय परमात्मा के प्रति वन्दन पूजन-कीर्तन-स्मरण एवं चिन्तन आदि द्वारा अनन्य आदर-सम्मान पूज्य भाव धारण करने से ध्यान में सहज तन्मयता आने से होती है।

ये दोनों ध्यान आत्मा की ज्ञान-शक्ति का सामर्थ्य बताते हैं, जिनके प्रभाव से आत्म-प्रदेशों में चिपके हुए कर्म-स्कंध ढीले पड़ जाते हैं।

९-१०. बिन्दु-परम-बिन्दु : पूर्व वर्णित ध्यानों के निरन्तर, दीर्घकालीन अभ्यास में "बिन्दुध्यान" सरलता से सिद्ध होता है जिसके फलस्वरूप आत्मा के परिणामों में ऐसी स्थिरता आती है कि आत्मा के साथ घनीभूत बनकर चिपके हुए कर्म शिथिल होकर पके फन की तरह झड़ जाते हैं।

ॐ अर्हं आदि मन्त्र पदों पर रहे हुए बिन्दु का ध्यान भी प्रस्तुत बिन्दु-ध्यान में सहायक होता है। (जिससे उसे भी उपचार से बिन्दु-ध्यान कहा जा सकता है।)

बिन्दु ध्यान के दीर्घकालीन अभ्यास से आत्म-विशुद्धि की वृद्धि होने से 'परम-बिन्दु' ध्यान का प्रारम्भ होता है ।

श्री जिनागमों में उल्लिखित सम्यक्त्व आदि नौ गुण श्रेणियों में होने वाले आत्म-ध्यान को "परम-बिन्दु" ध्यान कहा गया है। इस ध्यान में साधक आत्मा की विशुद्धि में उत्तरोत्तर समय में असख्यंगुणी वृद्धि होती रहती है, जिसके साथ-साथ कर्म-दलों की निर्जरा में भी उत्तरोत्तर असंख्यगुणी अभिवृद्धि होती जाती है।

११-१२. नाद-परम-नाद : बिन्दु आदि ध्यानों में साधक को प्राथमिक स्तर पर वाद्ययन्त्रों की ध्वनि की तरह अन्तर्ध्वनि सुनाई पड़ती है उसे नाद कहते हैं। ध्यान के अभ्यास से यह नाद भिन्न-भिन्न बजने वाले वाद्य-यंत्रों की ध्वनि की तरह विभिन्न प्रकार की व्यक्त ध्वनि के रूप में सुनाई दे उसे 'परम-नाद' कहते हैं। ये दोनों ध्यान प्राण-शक्ति की स्थिरता प्रदर्शित करते हैं।

---

१. **पण तुम दरिसण योग थी, थयो हृदये हो अनुभव, प्रकाश**
अनुभव अभ्यासी करे, दुःखदायी हो सवि कर्म-विनाश॥

– *श्री नेमिनाथ प्रभु स्तवन*—पू० चि० कृत

जहाँ प्राण होता है वहाँ मन अवश्य होता है अतः मन स्थिर होने पर सहज रूप से प्राण-वृत्ति स्थिर हो जाती है ।

सविकल्प ध्यान में जब मन बहुत स्थिर हो जाता है तब विकल्प क्रमशः सूक्ष्म एवं अव्यक्त ध्वनि का रूप धारण करता है, जिसे अनादि नाद कहते हैं। उक्त ध्वनि का ध्यान करते-करते चित्त अत्यन्त शान्त एवं निर्मल बनने पर जब वह आत्म-स्वरूप में लीन हो जाता है, तब नाद का श्रवण स्वतः बन्द हो जाता है।

१३-१४. तारा-परम-तारा : कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित साधक की स्थिर, निश्चलता दृष्टि को "तारा ध्यान" कहते हैं। इस तारा ध्यान के सतत् अभ्यास के परिणामस्वरूप क्रमशः "परम-तारा ध्यान" सिद्ध होता है, जिसमें एक ही शुष्क पुद्गल पर र्निनिमेष दृष्टि रखनी होती है ।

कायोत्सर्ग में मन, वचन और काया—तीनों योगों की स्थिरता होती है अतः उसे मानसिक, वाचिक और कायिक ध्यान स्वरूप माना गया है। दृष्टि की स्थिरता निश्चलता मन की स्थिरता निश्चलता में सहायक होती है।

कायोत्सर्ग पाँचवा आवश्यक है और अभ्यन्तर तप स्वरूप है, जिसमें देह को सर्वथा शिथिल एवं स्थिर रखकर मौन रूप से सांस की गति के साथ चित्त शान्त रखकर अरिहन्त आदि का ध्यान किया जाता है।

कायोत्सर्ग में यम, नियम आदि अष्टांग योग[१] समाहित हैं, जिससे चतुर्विध संघ कायोत्सर्ग के द्वारा ध्यान एवं समाधि का यथोचित अभ्यास कर सकता है और इस उद्धेश्य से ही चैत्यवन्दन प्रतिक्रमण आदि आवश्यक अनुष्ठानों में कायोत्सर्ग का विधान है।

१५-१६. लय-परम-लय : बाह्य दृष्टि की निश्चलता "तारा" ध्यान द्वारा स्पष्ट कर अब इन लय-परम-लय ध्यानों के माध्यम से अन्त दृष्टि की तन्मयता पर प्रकाश डाला जा रहा है।

वज्रलेप के योग से जिस प्रकार वज्रतुल्य बनकर लाखों वर्षों तक स्थायी रहती है, उसी प्रकार साधक का अरिहन्त भगवान आदि के प्रति शरणागत भाव तीव्र बनने से वह परमात्मस्वरूप में विलीन हो जाता है इसे "लय ध्यान" कहते हैं। शरणागत के चित्त का शरण्य-परमात्मा में अत्यन्त लीन

---

१. कायोत्सर्ग के प्रतिज्ञा सूत्र-अन्नत्थ सूत्र में "ताव कायं ढाणेणं" पद के द्वारा यम, नियम, आसन एवं प्राणायाम सूचित होना है।
"मोणेणं" पद के द्वारा प्रत्याहार सूचित होता है।
"झाणेणं" पद के द्वारा धारणा एवं ध्यान सूचित होता है।
"अप्पाणं वोसिरामि" पद के द्वारा समाधि सूचित होती है।

हो जाना "लय" ध्यान है। इस "लय" ध्यान के प्रभाव से जब आत्मा स्वयं में ही स्वात्मा के दर्शन करता है, उसे "परम-लय ध्यान" कहते हैं।

"लय" ध्यान के द्वारा यथार्थ परमात्म-दर्शन होने से परम-लय ध्यान में परमात्म तुल्य स्वात्मा का दर्शन होता है। आत्म दर्शन ही समस्त ध्यानों का फल है।

आत्म दर्शन आत्मसाक्षात्कार की उत्तरोत्तर विकसित होती भूमिकाओं का वर्णन उन्मनीकरण आदि के द्वारा किया गया है।

१७-१८. लव-परम-लव : जिस शुभ ध्यान एवं संयम आदि अनुष्ठान के द्वारा कर्मों का लवन अर्थात् कटना "लव ध्यान" है। उपशम श्रेणी एवं क्षपक श्रेणी में जो थोक बंद [ढ़ेर सारे] कर्मों का उपशम अथवा समूल क्षय होता है, उसे "परम-लव ध्यान" कहा जाता है।

जिस प्रकार हंसिये (दराती) द्वारा घास काटी जाती है, उसी प्रकार शुभ ध्यान द्वारा कर्म कटते हैं। पूर्व वर्णित ध्यान के भेदों के द्वारा कर्म शिथिल होते हैं, जिससे इस ध्यान के द्वारा उन कर्मों का उच्छेद सरलता से होता है। संयम आदि अनुष्ठान ध्यान रुपी हंसिये की धार तेज करते हैं जिससे कर्मों का क्षयोपशम, उपशम और क्षय सुखपूर्वक होता है।

१९-२०. मात्रा-परम-मात्रा : अष्ट महाप्रतिहार्य युक्त, समवसरण में स्फटिक के सिंहासन पर आरूढ़ होकर धर्म देशना देते हुए श्री तीर्थंकर परमात्मा तुल्य अपनी आत्मा को देखना, उसका ध्यान करना "मात्रा ध्यान" कहलाता है।

साधक इस ध्यान के द्वारा भाव से तीर्थंकर बनता है। ध्याता जब जिसका ध्यान करता है, तब उसका स्वरूप धारण करता है। उस समय वह ध्यान समापत्ति रूप बनता है। तीर्थंकर नाम कर्म की निकाचना करने में समापत्ति प्रमुख कारण बनती है। अतः "मात्रा ध्यान" तीर्थंकर-पद-प्राप्ति का बीज है। समग्र जिनशासन की आराधना का यही प्रकृष्ट फल है।

श्री तीर्थंकर परमात्मा स्वयं विश्वोपकारक, भवन्तारक तीर्थ की स्थापना करते हैं।

परम-मात्रा—चौबीस वलयों से वेष्टित अपनी आत्मा का ध्यान करना "परम-मात्रा" ध्यान है।

"परम-मात्रा ध्यान" में मन को त्रिभुवनव्यापी बनाने का निर्देश है। इन २४ वलयों में मुख्यतः चतुर्विध श्री संघ रूप, द्वादशांगी रूप और प्रथम गणधर रूप तीर्थ का स्मरण, चिन्तन तथा सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय का चिन्तन होने से इस ध्यान का विषय त्रिभुवनव्यापी बनता है।

पिण्ड को ब्रह्माण्ड में स्थापित करने की इस प्रक्रिया से दबा हुआ आत्मोल्लास पर्याप्त रूप से प्रकट होता है, मन से लिपटा हुआ देह-भाव "देहाध्यास" पूर्णतः क्षीण हो जाता है और फलतः सर्वात्मभाव की अनूभूति होती है। आत्मा के प्रदेशों के जितने ही लोक के प्रदेश होने से यह प्रक्रिया विज्ञान एवं अध्यात्म दोनों दृष्टियों से सुसंगत है।

२१-२२. पद-परम-पद : ''पद'' ध्यान में श्री अरिहन्त आदि पाँच परमेष्ठि-भगवन्तों का ध्यान होता है। समस्त प्रकार के पदों में सर्वोत्तम पद ये पाँच ही हैं। इस ध्यान को परमेष्ठि-ध्यान तथा नमस्कार ध्यान भी कहते हैं। पूर्वोक्त परम मात्रा ध्यान का संक्षेप इस ''पद ध्यान'' में होता है।

''पद-ध्यान'' की व्यापक उपकारकता

ध्यान के समस्त प्रकारों में ''पद-ध्यान'' सबसे सरल, व्यापक और उपकारक है। समस्त अनुष्ठानों में चतुर्विध संघ श्री नमस्कार महामंत्र की स्मरण, जाप तथा कायोत्सर्ग के द्वारा आराधना करता है। अतः क्रिया-योग में पद-ध्यान की व्यापकता समझी जा सकती है।

श्री जिनागमों में नमस्कार मन्त्र को ''पंच-मंगल-महा-श्रुत-स्कन्ध'' कहा गया है क्योंकि यह समस्त आगम शास्त्रों में दूध में घी की तरह व्याप्त है। आबाल वृद्ध सभी अपने ईष्ट परमात्मा के नाम एवं मन्त्र-पद का स्मरण, चिन्तन एवं ध्यान करने का यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं जिसके द्वारा वे चित्त की पवित्रता तथा प्रसन्नता प्राप्त कर आत्मोत्थान के मंगलकारी मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

इस प्रकार पद-ध्यान मन्त्राधिराज श्री नवकार के पदों का ध्यान छः क्रियायोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और ध्यानयोग आदि में व्यापक होने से इसकी उपकारकता सकल लोकव्यापी है।

परम-पद—पंच परमेष्ठि पदों को आत्मा में स्थापित करना अर्थात् उनका अपनी आत्मा में आरोप कर स्वात्मा का भी परमेष्ठि के रूप में चिन्तन करना ''परम-पद ध्यान'' है। इसके प्रारम्भ और सिद्धि में पद-ध्यान का दीर्घ अभ्यास विशेष आवश्यक है। इस ध्यान में परमेष्ठि भगवंतों के साथ अभेद, एकता की अनुभूति होती है। इसे अभेद प्रणिधान भी कहते हैं।

शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से समस्त जीव शुद्ध हैं। द्रव्य रूप में प्रत्येक जीव परमात्मा है। इस प्रकार की शुद्ध-नय की भावना से भावित आत्मा ''परम-पद ध्यान'' द्वारा पंच परमेष्ठि के रूप में स्वात्मा का ध्यान करता है। यह परमात्मा की भाव-पूजा है, परा भक्ति है और आज्ञा-पालन रूप प्रतिपत्ति पूजा है। इस पूजा के प्रभाव से आत्मा स्वयं क्रमशः परम-पद प्राप्त करता है।

२३-२४. सिद्धि-परम-सिद्धि : मुक्तात्माओं के अरूपी गुणों के ध्यान को ''सिद्धि ध्यान'' कहा जाता है।

''सिद्धि ध्यान'' का अभ्यास करने वाले मुनि महात्मा परम-पद प्राप्त निरंजन, निराकार, परम ज्योति स्वरूप, अनन्त गुण पर्याय के पिण्ड रूप सिद्ध भगवान के ज्ञानादि गुणों का ध्यान करते हैं।

राग-द्वेष के प्रसंगों में परम मध्यस्थता रखने से ''सिद्धि-ध्यान'' सिद्ध होता है।

साधक वर्तमान समय में भी सिद्ध स्वरूप का ध्यान कर सकते हैं। वे सिद्ध परमात्मा अमूर्त्त, निष्फल होते हुए भी योगियों को ध्यान-गम्य हैं क्योंकि वे निराकार होते हुए भी साकार हैं और साकार

होते हुए भी निराकार हैं। वे समस्त ज्ञेय पदार्थों के ज्ञाता हैं, परन्तु उन्हें मात्र ज्ञान-चक्षु वाले ही जान सकते हैं। ज्ञान-दृष्टि ज्ञान चक्षु अर्थात् सुविशुद्ध आत्म-दृष्टि; उसके द्वारा परमात्म-दर्शन सुलभ है।

सिद्धात्मा अमूर्त्त है फिर भी सदा चैतन्य स्वरूप घनाकार को धारण करके स्थिर होकर सिद्ध शिला पर विराजित हैं।

ऐसी निश्चित आकृति वाले होने पर भी वह स्व-चैतन्य रूप ज्ञान गुण के द्वारा सम्पूर्ण विश्व स्वरूप हैं लोकालोक व्यापी हैं, क्योंकि विश्व के ज्ञेय पदार्थ उनके केवल ज्ञान में प्रतिबिम्बित हो चुके हैं जिससे वह समस्त पदार्थों का आकार धारण करने वाले हैं। इस प्रकार सिद्ध भगवान विश्व-व्यापी हैं तथा वे ''विश्वतोन्मुख'' एवं ''विश्वनेत्र'' भी कहलाते हैं।

इस प्रकार सिद्ध स्वरूप का चिन्तन करता हुआ योगी उनके स्वरूप में जब क्रमशः तन्मयता करता है, तब ''परम-सिद्धि'' की योग्यता प्रकट होती है।

सिद्ध भगवान के ज्ञानादि अनन्त गुणों को स्व-आत्मा में आरोपित करके अपनी आत्मा का सिद्ध के रूप में ध्यान करना ''परम-सिद्धि'' कहलाता है।

सहज सम्पूर्ण सुख के भोक्ता, पूर्ण गुणवान, सर्वथा कृतकृत्य, निरंजन सिद्ध परमात्मा के ध्यान के प्रभाव से ही साधक सिद्ध सदृश स्व-आत्मा का ध्यान कर सकता है और उक्त ध्यान परम-सिद्धि प्राप्त करानेवाला होने से उसे ''परम-सिद्धि'' ध्यान कहते हैं, जिसमें शुद्धात्मा का ध्यान होने से वह ध्यान, शुक्ल ध्यान स्वरूप है।

इस प्रकार प्रथम आज्ञाविचयादि धर्म-ध्यान से प्रारम्भ करके परम-सिद्धि ध्यान तक के चौबीस प्रकार के ध्यान धर्म-ध्यान एवं शुक्ल-ध्यान स्वरूप हैं।

करणयोग और भवनयोग

प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित ''परम-मात्रा ध्यान'' में जिन ९६ प्रकार के करणयोग और उतने ही भवन-योग का निर्देश हुआ है, उनका विचार करने पर योग-साधना के कतिपय मार्मिक रहस्य अधिक स्पष्ट होते हैं।

''योग'' शब्द से प्रस्तुत ग्रन्थ में मोक्ष के साथ जोड़ने वाली शुभ प्रवृत्ति और उसमें प्रेरक आत्मशक्ति (वीर्य शक्ति) विवक्षित है।

ध्यान दशा में स्थिरता, निश्चलता लाने वानी यह वीर्य शक्ति है। आत्मा की यह वीर्य-शक्ति ज्यों-ज्यों प्रबल बनती है, ध्यान में निश्चलता की त्यों-त्यों वृद्धि होने से विशेष प्रमाण में कर्मों की निर्जरा, आत्म-शुद्धि होती है।

योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति एवं सामर्थ्य—योग के इन आठ पर्यायवाची नामों द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धि की ओर अग्रसर होती आत्मा की वीर्य शक्ति का यहां निर्देश दिया गया है।

ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र गुण की तरह वीर्य भी आत्मा का एक प्रमुख गुण है। ज्ञान एवं दर्शन स्व-पर वस्तु को प्रकाशित करते हैं, कर्म का क्षय एवं क्षयोपशम करना समझाते हैं, परन्तु कर्मों का क्षय एवं क्षयोपशम का कार्य वीर्य-शक्ति के द्वारा होता है।

आत्मा में उत्पन्न होने वाली क्रिया-शक्ति वीर्य गुण के प्रति आभारी है। अहिंसा, संयम एवं तप अनुष्ठान रूप क्रियाओं में प्रेरक शक्ति वीर्य है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार तथा तपाचार—इन चारों के आसेवन से वीर्याचार का पालन भी अवश्य हो जाता है वास्तव में तो ज्ञानादि आचारों का अप्रमत्त भाव से पालन ही वीर्याचार है। उद्धरणीय है :

''संयम एवं तपोमय क्रिया के द्वारा संवर एवं निर्जरा सिद्ध होती है अकेले ज्ञान से नहीं'' इसीलिए श्री जैनदर्शन में ज्ञान एवं क्रिया दोनों के सुभग समन्वय को मोक्ष का कारण कहा गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में करण-योग एवं भवन-योग के अधिकार में निर्दिष्ट प्रणिधान आदि योग उत्तरोत्तर प्रकर्ष की ओर अग्रसर संवर एवं निर्जरा रूप क्रिया हैं।

१. प्रणिधान योग में अशुभ वृत्ति एवं प्रवृत्ति का निरोध होता है।

२. समाधान योग में शुभ वृत्ति एवं निष्पाप प्रवृत्ति का सेवन होता है।

३. समाधियोग में चित्त-वृत्तियाँ अत्यन्त शान्त होती हैं, राग-द्वेषात्मक वृत्तियों का निरोध होता है जिससे साधक की वाणी एवं आकृति भी शान्त रस की वाहिका बन जाती है।

४. काष्ठायोग में ध्यान के निरन्तर अभ्यास से मन की विशेष स्थिरता होने से श्वासोच्छ्वास आदि का निरोध होता है।

प्राथमिक अभ्यासी को जघन्य कोटि के प्रतीत होने वाले इन प्रणिधान आदि को योग की संज्ञा दी गई है। उत्तरोत्तर अभ्यास में वृद्धि होने पर जब वे मध्यम एवं उत्कृष्ट कोटि के हो जाते हैं तब वे क्रमशः महायोग एवं परमयोग कहलाते हैं।

जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट
१. प्रणिधान योग	२. प्रणिधान महायोग	३. प्रणिधान परम योग ।
४. समाधान योग	५. समाधान महायोग	६. समाधान परम योग ।
७. समाधि योग	८. समाधि महायोग	९. समाधि परम योग ।
१०. काष्ठा योग	११. काष्ठा महायोग	१२. काष्ठा परम योग ।

ये बारह भेद स्थूल दृष्टि से बताये गए हैं। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर योग, वीर्य आदि के जो आलम्बन बनाये गए हैं उस अपेक्षा से योग आदि के अनेक भेद हो जाते हैं।

योग के उक्त बारह रूपों के समान वीर्य, स्थाम, उत्साह आदि के भी बारह-बारह रूप करने से उनकी संख्या ९६ हो जाती है। ये ९६ प्रकार सयत्न हों तो करणयोग और बिना प्रयत्न के सहज हों तो भवनयोग कहलाते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में योग, वीर्य, उत्साह आदि के भिन्न-भिन्न आलम्बनों का वर्णन किया गया है। इसमें प्रथम तीन योगों के आलम्बन प्रवृत्यात्मक है और शेष स्थाम आदि पाँच योगों के आलम्बन चिन्तनात्मक है। इन आलम्बनों द्वारा साधक के आत्मबल, आत्म-सामर्थ्य की ज्यों-ज्यों वृद्धि होती है उसके फलस्वरूप साधक आत्मा त्यों-त्यों अपने आत्म-प्रदेशों में व्याप्त कर्म-मल का क्षय करने के लिए कार्यशील होता है और उक्त कर्म-मल भी किस प्रकार आत्मा से विलग हो जाता है, उस रहस्यमय योग-प्रक्रिया का वर्णन इस ग्रन्थ में विशेष प्रकार से दृष्टिगोचर होता है।

योग-वीर्य आदि के कार्य

१. योग की सहायता से आत्मा अपने आत्म-प्रदेशों को उसी प्रकार कर्मों का क्षय करने लिए सर्वप्रथम सक्रिय करती है जिस प्रकार कोई राजा अथवा श्रेष्ठि अपने अधिकारियों अथवा सेवकों को सक्रिय करता है।

२. ''वीर्य'' की सहायता से आत्मा स्व-प्रदेशों के द्वारा कर्मों को ध्यान रूपी अग्नि में झोंकने की उसी प्रकार प्रेरणा देती है जिस प्रकार सेठ अपने सेवकों से कूड़ा-कर्कट बाहर फिंकवाता है।

३. ''स्थाम'' के सहयोग से आत्मा अपने स्व-प्रदेशों में निहित कर्म-दलों को क्षय करने के लिए उन्हें उसी प्रकार खींच निकालती है जिस प्रकार कृषक अपने खेत में से तृण, घास आदि इंताली से खींच निकालता है।

४. ''उत्साह'' के सहयोग से आत्मा प्रदेशों में से खीचें हुए कर्म उसी प्रकार ऊपर ले जाती है जिस प्रकार पाईप द्वारा पानी ऊपर ले जाया जाता है।

६. छिद्र युक्त डिब्बे में से जिस प्रकार तेल नीचे ले जाया जाता है, उसी प्रकार ''पराक्रम'' की सहायता से आत्मा स्व-प्रदेशों में ऊपर गए हुए कर्म नीचे ले जाती है।

६. तप्त लोहे के बर्तन में जिस प्रकार डाला हुआ पानी सूख जाता है उसी प्रकार ''चेष्टा'' से आत्मा स्व-स्थान पर मौजूद कर्म सुखा देती है।

७. तिलों में से तेल निकालने के लिए जिस प्रकार तिलों को कोल्हू में पेला जाता है, उसी प्रकार

"शक्ति" के प्रभाव से आत्मा से कर्मों का अत्यन्त वियोग करने के लिए आत्माभिमुखता प्रकट होती है।

८. खली और तेल को जिस प्रकार अलग किया जाता है उसी प्रकार "सामर्थ्य" के प्रभाव से आत्मा एवं कर्मों का साक्षात् वियोग किया जाता है।

मोहनीय आदि कर्माणुओं का विपुल समूह आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में नीर-क्षीरवत् व्याप्त है, जिसका मूलोच्छेदन करने के लिए आत्मा को अविरल रूप से भगीरथ पुरुषार्थ करना पड़ता है और उक्त पुरुषार्थ की प्रबलता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाए उसके लिए मनोयोग आदि की शुद्धता, ज्ञान आदि आचारों के सम्यक् पालन आदि आलम्बन ग्रहण करने पड़ते हैं। उन आलम्बनों को साधक ज्यो-ज्यों अपने जीवन में अपनाता रहता है, उतारता रहता है उसके आन्तरिक पुरुषार्थ में त्यों-त्यों क्रमशः वृद्धि होती जाती है।

भिन्न-भिन्न आलम्बनों के कारण क्रमिक विकसित होते इस आन्तर पुरुषार्थ को ही यहां योग, वीर्य स्थाम, उत्साह आदि नाम दिये गए हैं।

इस योग, वीर्य आदि का कार्य समझने के लिए हम एक-दो व्यावहारिक उदाहरण देखें।

शीत ऋतु में पूर्णतः जमे हुए घी को पिघलाने के लिए उसे आग में तपाया जाता है। ताप लगते ही सर्वप्रथम घी ढीला होने लगता है ताप का प्रमाण बढ़ने पर उसमें उथल-पुथल प्रारम्भ होती है और धीरे-धीरे वह तरल हो जाता है। ताप की उग्रता में वृद्धि होने पर वह पूर्णतः पिघल जाता है।

किसी सुदृढ़ दीवार में अत्यन्त गहरी उतरी हुई कील खींच निकालने के लिए एक व्यक्ति उसके लिये आवश्यक हथौड़ा आदि सामग्री जुटाता है तत्पश्चात् उस कील को खींच निकालने का श्रम प्रारम्भ करता है परन्तु कील अत्यन्त गहरी उतरी हुई होने के कारण उस अकेले व्यक्ति के प्रयास से बाहर नहीं निकलती। यह देखकर अन्य मनुष्य "और जोर लगाओ" आदि प्रेरक शब्दों द्वारा उसे प्रोत्साहित करते हैं जिससे वह व्यक्ति अधिक उत्साह से कील को बाहर खींच निकालने का प्रयत्न करता है । मजबूत पकड़ से कील को ऊपर-नीचे करके उसे शिथिल करता है। इस प्रक्रिया से वह कील अधिक ढ़ीली हो जाती है और वह व्यक्ति अत्यन्त उत्साहित होकर उस कील को मजबूती से गड़ी दीवार में से बाहर निकालने में सफल हो जाता है।

इसी तरह मुमुक्षु साधक अपने आत्म-प्रदेशों के साथ चिपके हुए कर्माणुओं को अलग करने के लिए, उनका क्षय करने के लिए शुभ आलम्बनों के द्वारा अपने आत्मिक पुरुषार्थ को उत्तरोत्तर प्रबल, गतिशील बनाता है, उसके द्वारा ध्यान-साधना में आने वाने विक्षेपों को दूर करता है, और चित्त को सन्तुलित रखकर अपने ध्येय, आत्म-स्वभाव में तल्लीन होता रहता है। आत्म-स्वभाव में उसकी तल्लीनता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है उसके आत्म प्रदेशों में चिपके हुए कर्माणुओं के समूह में त्यों-

त्यों हलचल-उथल-पुथल प्रारम्भ होती है।

ध्यानाग्नि ज्यों-ज्यों अधिक तीव्र होती है त्यों-त्यों उन कर्माणुओं की आत्म प्रदेशों पर पकड़ शिथिल होती जाती है, चूल्हे पर चढ़ाई हुई खिचड़ी की तरह वे कर्माणु ऊपर-नीचे होते हैं और क्षय की ओर उन्मुख होकर वे आत्मा से विलग हो जाते हैं।

''**पंचसूत्र**'' के प्रथम ''पापप्रतिघातगुणबीजाधान'' सूत्र में भी कहा गया है कि ''इस सूत्र का प्रणिधान पूर्वक पाठ, श्रवण और अर्थ का चिन्तन करने से अशुभ कर्मों के अनुबन्ध शिथिल होते हैं, अर्थात् कर्मों के दलिक उनकी स्थिति और उनका रस घटने लगता है। तत्पश्चात् उन कर्माणुओं में निहित रस का क्षय होता है और नीरस बने हुए कर्म आत्म-प्रदेशों से विलग हो जाते हैं अर्थात् उनका क्षय हो जाता है।''

पंचसूत्र में निर्दिष्ट यह तथ्य योग, वीर्य आदि के द्वारा होने वाली कर्म-क्षय की प्रक्रिया का ही समर्थन करता है। इस सम्बन्ध में इस प्रकार विचार किया जा सकता है।

योग, वीर्य एवं स्थाम द्वारा कर्माणुओं को स्व-स्थान से हटाया जाता है अर्थात् उनको स्थान-भ्रष्ट किया जाता है।

उत्साह, पराक्रम एवं चेष्टा द्वारा उनमें निहित रस का शोषण किया जाता है।

शक्ति एवं सामर्थ्य द्वारा उन कर्माणुओं को आत्मा-प्रदेशों में से सर्वथा अलग किया जाता है, जो **पंचसूत्र** में निर्दिष्ट कर्मों के शिथिलीकरण, परिहानि और क्षय को सूचित करते हैं।[१]

ये योग, वीर्य आदि ध्यान एवं समाधि रूप हैं, विशुद्ध चारित्र के द्योतक हैं। विशुद्ध चारित्रवान को ध्यान रूप ये योग अवश्य होते हैं। आठ प्रकार का चारित्राचार—पाँच समिति एवं तीन गुप्ति रूप हैं और वह प्रणिधान योग युक्त होता है।

सच्चारित्र के साथ ध्यान एवं योग का प्रगाढ़ सम्बन्ध है। समिति-गुप्ति रूप चारित्र ज्यों-ज्यों विशुद्ध बनता जाता है, योग (आत्मिक वीर्य) की प्रबलता एवं सूक्ष्मता में त्यों-त्यों वृद्धि होती जाती है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रणिधान आदि ९६ योगों द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धि की ओर अग्रसर होती योग-शक्ति की प्रबलता स्पष्ट की गई है। तत्पश्चात् बारह प्रकार के करणों द्वारा ध्याता को प्राप्त होने वाली उपयोग की सूक्ष्मता प्रदर्शित की गई है।

---

१. **एवमेवं सम्मं पढमाणस्स सुणमाणस्स अणुप्पेहमाणस्स शिढिलीभवंति, परिहायंति, खिज्जंति असुहकम्माणुबंधा॥**

करण के मुख्य बारह भेद

यहां "करण" का तात्पर्यार्थ है—निर्विकल्प उपयोग अथवा चिन्मात्र समाधि उन्मनीकरण आदि बारह करणों में क्रमशः मन, चित्त आलम्बनों का अभाव होने से निर्विकल्प-निरालम्बन ध्यान रूप चिन्मात्र समाधि प्रकट होती है, जिनमें चित्त की प्रशान्तवाहिता के धाराबद्ध प्रवाह का अनुभव होता है।

पूर्व वर्णित ध्यान-भेदों में ध्याता एवं ध्येय की भिन्नता प्रतिभासित होती है, जबकि इन करणों की अवस्था में ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों की एकता का अनुभव होता है।

पूर्ववर्णित ध्यानों में मन, चित्त आदि की प्रवृत्ति होती है, जबकि इन करणों की अवस्था में क्रमशः उसका निरोध होता है, जिससे आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप का ध्यान होता है।

उन्मनीकरण आदि बारह करणों में मन, चित्त आदि का अभाव होने से आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा में लीन होता है। इन करणों की अवस्था में आलम्बन एवं साधन ज्यों-ज्यों छूटते जाते हैं, त्यों-त्यों आत्मा पर—परिणति से, पर-भाव से मुक्त होकर क्रमशः अकलंक, अरूपी आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करके, उसका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त कर आनन्द-सघन हो जाता है।[१]

आत्म-दर्शन होने से हृदय-ग्रन्थि का भेदन, समस्त प्रकार के संशयों का छेदन और समस्त कर्मों का नाश होता है।

आत्म-स्वरूप के अनुभव से "स्व" और "पर" का विवेक स्पष्ट होता है, जिससे इस सत्य की अनुभूति होती है कि आत्मा ही परम-तत्त्व है, परम रहस्य-भूत है।

"अपयस्स पयं नत्थि"-अपदरूप आत्मा का कोई पद नहीं है, अर्थात् शब्द से आत्मागम्य नहीं है, परन्तु अनुभव से उसे सचमुच जाना जा सकता है। समस्त विकल्पों से सर्वथा परे आत्मस्वरूप को अनुभव करने का श्रेष्ठ उपाय निर्विकल्प ध्यान है।

शून्य ध्यान, लय ध्यान, आदि ध्यान भूमिकाओं के अविरत अभ्यास के फलस्वरूप जब मन सर्वथा विकल्परहित बनता है तब इन उन्मनीकरण आदि करणों की भूमिका प्राप्त होती है।

करण के ९६ भेद

उन्मनीकरण आदि प्रत्येक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट—इस प्रकार तीन भेद हैं तथा चौथा भेद जघन्य आदि तीनों भेदों से युक्त होता है, अर्थात् जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट—इन तीन प्रकार

---

१. **आलंबन साधन जे त्यागे, पर परिणति ने भागे रे।**
अक्षय-दर्शन ज्ञान-वैरागे, आनंदघन प्रभु जागे रे।
—"*श्री वीर जिन स्तवन*" पू० श्री आनंदघनजी

के करणों की अवस्थाओं को प्राप्त साधक चौथे विभाग में आता है।

मन, चित्त आदि के निरोध की इन जघन्य, मध्यम आदि अवस्थाओं की प्रयत्नपूर्वक प्राप्ति हो उसे उन्मनीकरण के रूप में पहचाना जाता है और यदि बिना प्रयास के सहज ही हो जाए तो उसे उन्मनी-भवन आदि कहकर पुकारा जाता है।

इस प्रकार उन्मनीकरण और उन्मनी-भवन आदि प्रत्येक के चार-चार भेद करके, करण के कुल ९६ भेद बताये गए हैं।

बारह करणों का सार

मुख्य करण बारह हैं, जिनमें पहला करण मन-विषयक है।

दूसरा करण चित्त-विषयक है।

जिस करण में मन के वर्तमान काल विषयक चिन्तन का अभाव होता है, उसे उन्मनीकरण कहते हैं तथा जिस करण में चित्त का अर्थात् चित्त के त्रिकाल-विषयक चिन्तन का अभाव होता है, उसे "निश्चित्तीकरण" कहते हैं।

इस दूसरे करण में चित्त के अभाव के साथ उच्छ्वास आदि का भी सहज रूप से अभाव हो जाता है।

तीसरे निश्चेतनीकरण में देहगत चेतना का अभाव होता है और उसके साथ राग-द्वेष आदि वृत्तियों का उच्छेद होता है। अतः इस अवस्था में स्थित योगी कोई ईष्ट अथवा अनिष्ट विषय ग्रहण नहीं करता। यहां चेतना के अभाव का तात्पर्य है शरीर-व्यापी चेतना का अभाव, परन्तु आत्मा के चैतन्य स्वरूप का अभाव नहीं।

चौथा करण संज्ञा-विषयक है। इस करण में आहार आदि की लोलुपता का अभाव होता है फलतः अप्रमत्त मुनियों को आहार आदि करने पड़ते हैं फिर भी उनमें तनिक भी लोलुपता नहीं होती । इसे निःसंज्ञीकरण कहा जाता है।

पाचँवें करण में इन्द्रियों द्वारा होने वाले विज्ञान का अभाव होता है। सुप्त अवस्था में जिस प्रकार अनुभूत वस्तु का स्मरण भी नहीं रहता, उस प्रकार इस निर्विज्ञानी करण अवस्थागत योगी को जागृत दशा में भी बाह्य वस्तु से संबन्धित कोई विज्ञान वेदन नहीं होता।

इस प्रकार पाँच करणों में क्रमशः मन, चित्त, चेतन, संज्ञा और इन्द्रियों से सम्बन्धित विज्ञान का अभाव होने से इन करणों से उत्तरोत्तर विशेष आत्मानुभूति की शुद्धि एवं उसमें तन्मयता होती है। इसके प्रभाव से साधक में उपशम श्रेणी एवं क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने की शक्ति उद्भासित होती है।

शेष निर्धारणीकरण आदि सात करणों में मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा का उत्क्रम से अभाव होने पर साधक में केवल ज्ञान प्रकट करने की सामर्थ्य प्रकट होती है।

इस प्रकार इन बारहों करणों में मन आदि बाह्य साधन-आलम्बन छूट जाते हैं अत: वे "निरालम्बन योग" स्वरूप हैं।

निरालम्बन योग मुख्यत: क्षपक श्रेणी में आठवें अपूर्वकरण गुण-स्थानक में स्थित समर्थ योगी को होता है। इससे पूर्व परम-तत्त्व के लक्ष्यवेध रूप जो परमात्म गुणों का, परमात्म स्वरूप का ध्यान होता है वह भी मुख्य निरालम्बन योग का हेतुभूत होने से "निरालम्बन योग" कहलाता है।

यह समझा जा सकता है कि इस अपेक्षा से उन्मनीकरण आदि समस्त करण निरालम्बन योग रूप हैं।

इस निर्विकल्प चिन्मात्र समाधिरूप अनुभव दशा में प्रवाहित प्रशान्तवाहिता की शीतल सरिता में निमग्न साधक परमानन्द का अनुभव करता है।

आवश्यक सूत्र आदि जिनागमों में तथा कर्म प्रकृति, पंचसंग्रह आदि ग्रन्थों में सम्यग् दर्शन प्राप्त होने से पूर्व यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण—इन तीन करणों की जिस रहस्यपूर्ण प्रक्रिया का वर्णन किया है वह भी इस उन्मनीकरण आदि करणों में अन्तर्भूत है।

कहा भी है :

आत्मा जब ग्रन्थि का भेद करके सम्यग्-दर्शन प्राप्त करता है, तब वह उक्त यथाप्रवृत्ति आदि करणों के क्रम से ही प्राप्त करता है।

करणं अहापवत्तं अपूव्वमनियंट्टिमेव भव्वाणं॥
इयरेसिं पढमं चिय भन्नइ करणंति परिणामो

[*विशेषावश्यक भाष्य,* गाथा १२०२]

भव्य जीवों के ये तीन करण होते हैं। करण का अर्थ है जीव के परिणाम, विशुद्ध अध्यवसाय

१. यथा प्रवृत्तिकरण-अनादि संसिद्ध कर्म-क्षपण में प्रवृत्त अध्यवसाय विशेष ।
२. अपूर्वकरण-पूर्व में अप्राप्त विशुद्ध परिणाम अथवा स्थितिघात, रसघात आदि अपूर्व अर्थ का निवर्तक, अपूर्व कार्य को करने वाला विशुद्धतर अध्यवसाय विशेष।
३. अनिवृत्तिकरण-सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना नहीं लौटने वाला विशुद्धतम अध्यवसाय।

ये तीनों करण आत्मा के विशुद्ध, विशुद्धतर और विशुद्धतम अध्यवसाय [परिणाम] स्वरूप हैं। ये तीनों करण भव्य जीवों को ही होते हैं। अभव्य जीवों को केवल यथाप्रवृत्ति करण हो सकता है।

यह यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण आदि महासमाधि रूप है, जिनके प्रभाव से आत्मा सम्यग्दर्शन आदि गुण रूप आत्मा की तीन प्रकार की विशुद्ध भूमिका प्राप्त करता है।

आत्मा में जब चरम यथाप्रवृत्तिकरण के योग्य विशुद्धि प्रकट होती है उस समय उसे योग के बीज-भूत मित्रा आदि चार दृष्टियां प्राप्त होती हैं।

कहा है कि :

ग्रन्थि के समीपवर्ती, अल्प मिथ्यात्व (मोह) वाले जीव को अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण होता है तब उसमें जिन भक्ति आदि योग-बीज प्रकट होते हैं जो यथाप्रवृत्तिकरण उस अपूर्वकरण का पूर्ववर्ती अवंध्यकारण होने से वह भी अपूर्वकरण रूप ही है।[१]

इस भूमिका को प्राप्त व्यक्ति को तीन अवंचक योग प्राप्त होने की बात भी पू० श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने अपने योग ग्रन्थों में की है।

१. योगावंचक २. क्रियावंचक और ३. फलावंचक—ये तीन अवंचक योग भी अव्यक्त[२] समाधि-रूप हैं—पूज्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने स्वरचित "योग दृष्टि समुच्चय" की टीका में यह बात स्पष्ट रूप से कही है।

इस भूमिका में स्थित जीव को प्रथम गुण-स्थानक निरूपचरित तात्त्विक रूप में होता है और वहाँ ग्रन्थि का भेद होने पर, वह व्यक्त समाधि रूप बनता है।

इस व्यक्त समाधि रूप भूमिका में उन्मनीकरण आदि भी यथायोग्य रीति से अवश्य होता है।

अनोखी आँख

अतीन्द्रिय, अरूपी आत्मा के दर्शन करने की आँख भी अनोखी ही होती है और वह निर्विकल्प चिन्मात्र समाधि है—जो (आँख) विकल्प, विचार एवं विमर्श के विसर्जन से खुलती है ।

इन्द्रियाँ मन आदि ससीम हैं, अतः उनके द्वारा जो ज्ञान होता है वह भी सीमित ही होता है। असीम एवं अनन्त को समझने और उनका आनन्द लेने के लिए इन्द्रियों और मन से क्रमशः ऊपर उठना ही पड़ता है। चित्त की विचार-शून्य अवस्था में असीम-अनन्त आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता है।

इन उन्मनीकरण आदि करणों के ९६ भेदों में क्रमशः मन, चित्त के द्वारा होने वाने चिन्तन एवं विचारों का अभाव होने से आत्मा को देखने की आँख खुलती है और तब सम्पूर्ण जीवन दिव्य अमृत-प्रकाश से पूर्णतः जगमगाता है।

जहां विचार नहीं है, वहाँ केवल आत्म-दर्शन है, आत्मानन्द का प्रत्यक्ष अनुभव है।

इन योग-वीर्य आदि योग, उनके कार्यरूप कर्मक्षपण आदि, और उन्मनीकरण-आदि ~~करणों की~~

१. "*योगदृष्टिसमुच्चय*" श्लोक सं० ३९

२. **अव्यक्तसमाधिरेवैष तदधिकारे पाठात्**—"*योगदृष्टि समुच्चय*" श्लोक सं० ३४

भूमिका अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। आत्म-साधक तत्त्व-चिन्तक उनके विशेष रहस्य प्रकट करे वैसी आशा-अपेक्षा रखता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्राचीनता एवं महानता

किसी वस्तु का मूल्यांकन उसके आकार, कद अथवा हल्के-भारी कलेवर के आधार पर नहीं किया जाता, बल्कि उसके गुणों एवं उपयोगिता को ध्यान में लेकर किया जाता है। हीरा तोल में और आकार में हल्का और छोटा होता है, परन्तु उसका मूल्य अधिक होता है, लोहा, ताम्बा आदि तोल में एवं आकार में भारी तथा बड़े होते हैं फिर भी उनका मूल्य हीरे के मूल्य की अपेक्षा बहुत कम होता है।

प्रस्तुत "ध्यान-विचार" ग्रन्थ की उपलब्ध मूल प्रति आकार में लघु है परन्तु उसका मूल्य एवं महत्त्व विशेष है।

गागर में सागर की तरह इस लघु प्रकरण ग्रन्थ में महान् शास्त्रों का सार समाविष्ट है।

जिनागमों में अथवा जैन-अजैन योग सम्बन्धी शास्त्रों में योग-ध्यान अथवा अध्यात्म साधना से सम्बन्धित जो कोई भेद, उपभेद, प्रक्रियाएँ अथवा पद्धतियाँ हैं, उनका सीधा अथवा प्रकारान्तर से भी निर्देश इस ग्रन्थ में हो चुका है।

इस लघु ग्रन्थ की महानता एवं गहनता ध्यान-योग के अभ्यास एवं अनुभवी महात्मा ही सचमुच जान सकते हैं और उसकी आनन्दानुभूति कर सकते हैं।

हीरे की परख जौहरी की आँख ही कर सकती है, उसी प्रकार इस ग्रन्थ-रत्न का मूल्यांकन भी आत्म-चक्षु वाले व्यक्ति ही कर सकते हैं।

ग्रन्थ का विषय एवं रचना-शैली

प्रस्तुत ग्रन्थ में मुख्य ध्यान, योग और करण इन तीन विषयों का निरुपण किया गया है ।

१. सर्वप्रथम ध्यान के सामान्य लक्षण स्पष्ट कर ध्यान-मार्ग के मुख्य २४ भेदों के स्वरूप का पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया है तत्पश्चात् २४ भेदों में से प्रत्येक भेद के १८४३२ उपभेदों का निर्देश किया गया है।

   चौबीस ध्यान के भेद तथा उपभेद ध्यान की पद्धतियां हैं अर्थात् ध्यान-योग की साधना-विधियां हैं।

२. तत्पश्चात् करणयोग एवं भवनयोग के ९६-९६ भेद प्रदर्शित किये गए हैं जो सविकल्प समाधि रूप हैं अर्थात् समता-योग के साधना रूप हैं।

३. अन्त में उन्मनीकरण आदि ९६ प्रकार के करणों का वर्णन किया गया है, जो निर्विकल्प पर समाधि-स्वरूप हैं।

ध्यान के इतने भेद-उपभेद होने का क्या कारण है? इस प्रकार का प्रश्न हमारे मन में उठना सहज है, परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ के अध्ययन एवं मनन से उसके पीछे रहे हुए शास्त्रकार के विशाल दृष्टि-बिन्दु का जब हमें तनिक ध्यान आएगा उस समय हमें स्वतः ही समझ में आ जाएगा कि इन भेदों-उपभेदों का विस्तार सर्वथा स्वाभाविक एवं यथार्थ है।

''योग असंख्य जे जिन कह्या
नव पद मुख्य ते जाणो रे।''

अतः यह स्पष्ट है कि उक्त पंक्ति में नव-पद [नौ पदों] की प्रमुखता प्रदर्शित कर श्री जिनेश्वर भगवानों ने योग के असंख्य प्रकार बताए हैं। योग में ध्यान का भी अन्तर्भाव है अतः ध्यान के विस्तार से भी अनेक भेद-उपभेद हो सकते हैं।

आगम साहित्य में तथा **कर्म-प्रकृति, पंच-संग्रह** आदि ग्रन्थों में जीवों के शुभ अध्यवसाय स्थान एवं संयम स्थान भी असंख्य प्रकार के बताये गए हैं। ध्यान अध्यवसाय स्वरूप होने से उसके भी इस दृष्टि से असंख्य भेद हो सकते हैं।

इस ग्रन्थ के रचयिता कौन हैं, किस शताब्दी में इसकी रचना की गई है, इस सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं हुई है, परन्तु इसकी रचना-शैली से अनुमान लगाया जा सकता है कि इसकी रचना किसी महान् मौलिक ग्रन्थ के आधार पर हुई होगी।

''ध्यान-विचार'' की रचना-शैली आगमिक होने से उसके प्रणेता कोई परम गीतार्थ महापुरूष होने चाहिए, जिसके लिए निम्नलिखित तथ्यों पर विचार करने से अधिक स्पष्टीकरण होगा—

जिनागमों में पदार्थ-निरूपण प्रायः नय-निक्षेप द्वारा किया जाता है तदनुसार यहाँ भी ध्यान के भेदों-उपभेदों का वर्णन निक्षेप द्वारा किया गया है।

नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव—ये चार प्रकार के निक्षेप हैं जिनमें प्रथम दो निक्षेप सुगम होने से उनका विचार गौण बनाकर द्रव्य एवं भाव—इन दो निक्षेपों के आधार पर ध्यान के भेदों का निरूपण किया गया है।

भाव-ध्यान आदि का स्वरूप सरलता से समझा जा सके इसलिए द्रव्य निक्षेप से भी ध्यान का स्वरूप सुनिश्चित किया गया है।

ध्यान-शतक एवं अन्य आगम ग्रन्थों में भी प्रतिपादित धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान आदि का स्पष्ट उल्लेख यहां वर्णित २४ ध्यानों में हो चुका है।

ध्यान के प्रथम भेद में आर्त्त-रौद्र का द्रव्य-ध्यान के रूप में और आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थान,

विचय रूप धर्म-ध्यान का भाव-ध्यान के रूप में निर्देश किया गया है।

परम-ध्यान में शुक्ल-ध्यान का प्रथम प्रकार और परम-शून्य में शुक्ल-ध्यान का दूसरा प्रकार ग्रहण किया गया है। शेष कला एवं परम-कला आदि ध्यान-भेद भी धर्म-ध्यान एवं शुक्ल-ध्यान रूप हैं।

शुभ ध्यान के मुख्य भेद धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान हैं। इनमें समस्त प्रकार के मोक्ष-साधक ध्यानों का अन्तर्भाव हो चुका है। यहाँ भी ध्यान के २४ भेद किये गए हैं जो धर्म-ध्यान तथा शुक्ल-ध्यान के ही प्रकार हैं।

ध्यान के लक्षण, भेद, उपभेद एवं आलम्बन आदि का विस्तृत वर्णन अनेक जैन-आगम ग्रन्थों में किया गया है। आगमों के पश्चात् निर्युक्ति का स्थान है, उसमें भी आगमोक्त ध्यानों का ही विशेष स्पष्टीकरण विद्यमान है।

यह "ध्यान-विचार" भी आगम-शैली का एक प्रकरण ग्रन्थ है उसमें जो २४ ध्यान-भेद, ९६ योग, ९६ करण आदि का अद्भुत वर्णन है। उनमें से ध्यान एवं परम-ध्यान में निर्दिष्ट ध्यान-भेदों का वर्णन वर्तमान काल में विद्यमान आगम ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है, परन्तु शेष कला, परम-कला आदि ध्यानों का स्पष्ट नामोल्लेख कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ है; फिर भी जिन्होंने ऐसे अलभ्य भेद-उपभेदों का वर्णन ध्यान-विषयक किन्हीं महान् मौलिक "ध्यान विभक्ति" जैसे आगम ग्रन्थों में से उद्धृत कर, गागर में सागर तुल्य इस "ध्यान-विचार" ग्रन्थ में समाविष्ट कर उसका अमूल्य उपहार श्री जिनशासन को दिया है, उन ग्रन्थ-प्रणेता महर्षि का जितना उपकार मानें उतना ही कम है।

वर्तमान काल में ध्यान-साधना के जिज्ञासु साधकों के लिए यह ग्रन्थ महान् पथप्रदर्शक सिद्ध होने के साथ-साथ बहुत उपकारक भी होगा, यह निर्विवाद बात है।

इस ग्रन्थ की रचना के आधारभूत जो चार गाथाएं हैं उनमें से प्रथम निम्नलिखित है :

सुन्नं-कल-जोई-बिन्दू-नादो-तारा-लवो-मत्ता।
पय-सिद्धी परमजुया, झाणाइ हुंति-चउविसं ॥ १ ॥

ग्रन्थ के शुभ प्रारम्भ में ही सर्वप्रथम ध्यान-मार्ग के चौबीस भेदों के नामों का उल्लेख करके ग्रन्थकार ने उनके आधार के रूप में उपरोक्त गाथा का "उक्तंच" कहकर उल्लेख किया है। तत्पश्चात् भवनयोग आदि का निरूपण करने से पूर्व उनके आधार के रूप में निम्नलिखित गाथा रखी है :

जोगो-विरियं-थामो-उच्छाह-परक्कमो तहा चेट्ठा।
सत्ती-सामत्थं चिय चउगुण बारट्ठ छन्नउई॥ २ ॥

इसके बाद ९६ प्रकार के करणों का निरूपण करते हुए उनके आधार के रूप में :

चित्तं-चेयण-सन्ना-विन्नाणं-धारणा-सई-बुद्धि।
इहा-मई-वियक्का-उवओग मणाइ छन्नउइ ॥ ३ ॥

इस गाथा का उल्लेख करके उन्मनीकरण आदि बारह मुख्य करणों एवं उनके उपभेदों के रूप में ९६ प्रकार के करणों का वर्णन किया गया है।

तत्पश्चात् मुख्य चौबीस ध्यान-मार्गों के भेदों के ९६ करण, ९६ करणयोग और ९६ भवनयोग से गुणा करके, उनके ४,४२,३६८, उपभेद बताकर उनकी साक्षी के लिए "उक्तंच" कहकर ग्रन्थकार ने निम्नलिखित पद्यांश उद्धृत किया गया है :

चत्तारी सयसहस्सा बायालीसं भवे सहस्साइ।
तिन्नि सया अडसद्ठा भेया छउमत्थझाणाणं ॥ ४ ॥

ये चारों गाथाएँ "ध्यान विभक्ति" के समान किसी एक ही आगम ग्रन्थ में से ली गई हों ऐसा प्रतीत होता है।

इन चार मुख्य श्लोकों के उपरान्त इस ग्रन्थ में अन्य अनेक आगम पाठों तथा प्रकीर्ण ग्रन्थों के आधार दिये गए हैं, उनसे प्रस्तुत ग्रन्थ की आगमिकता, प्राचीनता एवं महानता का सुज्ञ पाठकों को कुछ अनुमान हो सकेगा।

यह "ध्यान-विचार" की हस्तलिखित प्रति पाटण स्थित "श्री हेमचन्द्राचार्य ज्ञान मन्दिर" के डिब्बे सं० ५० प्रति संख्या ९९३ में से प्राप्त हुई है। उसमें यथोचित संशोधन एवं सम्पादन करके उसका गुजराती अनुवाद "श्री जैन साहित्य विकास मण्डल" द्वारा प्रकाशित "नमस्कार स्वाध्याय" में प्रकाशित किया गया है।

जैन दर्शन में "ध्यान साधना"

जैन शासन में, उसके आगम ग्रन्थों में, उसकी दैनिक धर्म-आराधना में अथवा विशिष्ट अनुष्ठानों में ध्यान-साधना का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, कितना सम्मान है, उस पर हम यहां संक्षेप में विचार करेंगे ।

"उपमिति भव प्रपंचा कथा में" श्री सिद्धर्षि गणि जैनागम का सर्वसार, द्वादशांगी का निष्कर्ष क्या इस प्रश्न के उत्तर में फरमाते हैं कि "सागर तुल्य विशाल द्वादशांगी का सार निर्मल ध्यान योग है। श्रावकों एवं साधुओं के जो मूल गुण अथवा उत्तर गुण बताये गए हैं तथा जो-जो बाह्य क्रियाएँ बताई गई हैं वे सब ध्यान-योग को सिद्ध करने के लिए हैं।"

श्री सिद्धर्षि गणि ने ध्यान-सिद्धि का क्रम एवं उपाय इस प्रकार बताया है—"मुक्ति के लिए ध्यान की सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए और ध्यान की सिद्धि के लिए मन-प्रसाद, चित्त की प्रसन्नता प्राप्त

करनी चाहिए और यह अहिंसा आदि विशुद्ध अनुष्ठानों के द्वारा ही सम्भव है।"[१]

दूध में व्याप्त घी की तरह समस्त जिनागमों में प्रकीर्ण ग्रन्थों में तथा प्रारम्भ से अन्त तक "ध्यान-पदार्थ" व्याप्त है। इन ग्रन्थों का विधियुक्त एवं सम्मानपूर्वक अध्ययन, मनन एवं परिशीलन करने से यह ज्ञात होता है कि ये तथ्य कितने प्रमाणभूत हैं।

आश्रव के द्वार संसार का मार्ग और संवर-निर्जरा के द्वार मोक्ष का मार्ग है। मोक्ष का परम उपाय तप है और तप में ध्यान सर्वोपरि है ।

तप के छः बाह्य एवं छः अभ्यंतर कुल बारह प्रकार हैं। जिनमें ध्यान मुख्य है । शेष भेद ध्यान की ही शुद्धि एवं वृद्धि में कारणभूत बनते हैं।

जिनशासन का प्रत्येक अनुष्ठान मोक्ष का कारण है क्योंकि वह तपपूर्वक किया गया होता है। तप से तात्पर्य देह-दमन नहीं परन्तु समस्त प्रकार की इच्छाओं का निरोध तथा नाश करने वाला अनुष्ठान है।

इस प्रकार तप एवं योग (ध्यान) दोनों के लक्षण अपेक्षाकृत समान होने से दोनों में कथंचित् एकता है।

मन, वचन, काया की शुद्धता एवं स्थिरता से ध्यान सिद्ध किया जाता है। चित्त की शुद्धता के लिए प्रथम काया एवं वचन की शुद्धता अनिवार्य है। इनके बिना वास्तविक रूप से मन की शुद्धता अथवा स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकती ।

चित्त की शुद्धता तब हुई मानी जाती है जब वह सत् के रंग में रंग जाए, असत् पदार्थों का उस पर तनिक भी रंग न चढ़े।

जैन दर्शन अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म अथवा ज्ञान, दर्शन, चरित्र रूप धर्म इन तीनों योगों की शुद्धता एवं स्थिरता का समान रूप से समर्थन करता है।

मन को अशुद्ध एवं चंचल बनाने में जिस प्रकार देह एवं वचन की प्रवृत्ति प्रमुख भूमिका अदा करती है, उसी प्रकार मन की शुद्धता और स्थिरता में भी देह एवं वाणी अपना योगदान करती है।

सामायिक की महान् साधना में सर्व सावद्य (पाप) व्यापारों का त्याग और निरवद्य (शुभ, निष्पाप)

---

१. **भदन्त! द्वादशाङ्गस्य किं सारमिति कथ्यताम्।**
सूरिः प्रोवाच, सारोऽत्र ध्यानयोगः सुनिर्मलः॥ ५५७॥
मूलोत्तरगुणाः सर्वे सर्वा चेयं बहिष्क्रिया।
मुनीनां श्रावकाणां च ध्यानयोगार्थमीरिता॥ ५५८॥
मनःप्रसादः साध्योऽत्र मुक्त्यर्थं ध्यानसिद्धये।
अहिंसादिविशुद्धेन सोऽनुष्ठानेन साध्यते॥ ५५९॥
—"*उपमिति सारोद्धार*" प्र० ८

व्यापारों का सेवन तीन योगों एवं तीन करणों से करने का जैन शास्त्रों में स्पष्ट विधान किया गया है।

तीन गुप्तियों और पाँच समितियों से युक्त अष्ट प्रवचन-माताओं का सम्यक् प्रकार से पालन सामायिक की प्रतिज्ञा का ही विस्तार है, जिसके द्वारा मन, वचन, काया की शुद्धि एवं स्थिरता होती है।

अष्ट प्रवचन माता और योग-साधना

१. ईर्या समिति २. भाषा समिति, ३. एषणा समिति, ४. आदान-भंडमत्त निक्षेपणा समिति, ५. पारिष्ठापनिका समिति—ये पाँच समितियाँ हैं और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये तीन गुप्तियाँ हैं। पाँच समिति तथा तीन गुप्ति मिलाकर आठों को अष्ट प्रवचन माता कहते हैं।

इन आठों प्रवचन माताओं में "**मनोगुप्ति**" साध्य है और शेष सात माताएँ साधन हैं। गुह्यात् गुह्यं ऐसी आत्मा को सिद्ध करने के लिए मनोगुप्ति प्रथम एवं अन्तिम योग्यता है। इससे सच्चा भाव-संकोच होता है। इस भाव-संकोच से मन सर्वथा निष्पाप बनता है, आत्मा ही उसका विषय बनती है और अन्य समस्त विषयों को प्रतिक्रम कर, छोड़कर वह आत्मा में एकाकार हो जाता है।

१. ईर्या समिति से प्राणों की शुद्धि होती है, जिनमें चक्षुरिन्द्रिय मुख्य है। अतः ईर्या समिति को आँखों का छन्ना भी कहते हैं। जयणापूर्वक केवल साढ़े तीन हाथ तक नीची दृष्टि रखकर, कोई जीव हमारे पाँवों के नीचे आकर दब न जाए इसलिए सावधानीपूर्वक धीमी गति से *चलना भी ईर्या समिति का ही एक अर्थ है।*
२. भाषा समिति को वाणी का छन्ना कहते हैं। जिस प्रकार बिना छन्ना पानी का उपयोग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार ऐंठी झूठी वाणी भी बोली नहीं जा सकती। ऐंठी अर्थात् अहितकर तथा झूठा अर्थात् असत् समर्थक। हितकर वाणी भी मित भाषा में बोलना चाहिए यही इसका सीधा-सादा अर्थ है। इस समिति के पालन से वाणी की जो अमोघ शक्ति है उसकी विकृति प्रतिबंधित होती है और उसका संचय होता है, जो साधक को काल-क्रम से वचन-सिद्ध पुरूष बनाती है।
३. एषणा समिति से आहार की शुद्धता होती है। निर्दोष भिक्षा से भोजन किया जाना चाहिए यह उसका एक अर्थ है।
४. आदान भंडमत्त निक्षेषणा समिति से काया एवं दृष्टि की शुद्धि होती है कोई भी वस्तु लेते, रखते अथवा देते समय उसे अच्छी तरह देखकर उसकी जाँच करके पूंजकर, प्रमार्जन कर किसी जीव को पीड़ा न हो उसकी सावधानी रखना यह इसका अर्थ है।
५. पारिष्ठापनिका समिति से मलमूत्र विसर्जन की शुद्धि होती है। मल-मूत्र आदि की हाजत होते ही निर्दोष, जीव-जन्तु रहित भूमि पर उन्हें यतनापूर्वक डालना चाहिए ।

इन पाँचों समितियों के यथार्थ पालन से आत्मा विशुद्ध बनती है, प्राणों की शक्ति का संचय होता है और आज तक ध्यान से बाहर रही हुई आत्मा ध्यान की ओर प्रेरित होती है।

तीन गुप्तियों में प्रथम काय-गुप्ति है, जिसके पालन से काया के समस्त अवयवों पर नियंत्रण स्थापित होता है।

वचन गुप्ति से वाणी शुद्ध होती है और आत्मा के साथ गुप्त मंत्रणा करने की योग्यता उत्पन्न होती है।

मनोगुप्ति से मन की शुद्धि एवं स्थिरता प्राप्त होती है।

काय-गुप्ति काया का मौन है।

वचन-गुप्ति वाणी का मौन है।

मनोगुप्ति मन का मौन है।

इन तीन के मौन की साधना में पारंगत होने से आत्मा का स्वर अच्छी तरह सुना जा सकता है।

समिति-सम्यक् प्रवृत्ति स्वरूप है, गुप्ति प्रवृत्ति एवं निवृत्ति उभय स्वरूप है।

पर-भाव में प्रवृत्त मन, वचन, और काया को स्वभाव की ओर अभिमुख करने का सम्यक् पुरुषार्थ अर्थात् आत्म-लक्षी निर्दोष जीवन प्रवृत्ति गुप्ति है।

गुप्ति मुख्यतः मन, वचन, काया के सदोष व्यापार को गुप्त रखकर आत्म-व्यापार में विकास करने के लिये है।

तीन गुप्तियों की यथार्थ साधना करने से मन, वचन और काया के समस्त आवेशों का शमन होता है तथा चित्त उत्तरोत्तर अत्यन्त निर्मल, शान्त एवं स्वस्थ बनता जाता है।

मनोगुप्ति में मन को गुप्त रखना होता है अर्थात् मन की चंचलता का शमन करना होता है जो ध्यान के अभ्यास से संभव होता है। इसका कारण सुस्थिर परमात्म-तत्त्व है जिसका ध्यान ध्याता की अन्तरात्मा को करना पड़ता है। अतः मनोगुप्ति की साधना में ध्यान-साधना समाविष्ट ही है।

चंचल मन को कुविचारों की ओर आकृष्ट होने से रोककर, सुविचारों की ओर उन्मुख कर, अन्त में निर्विचार स्तर तक ले जाना ही मनोगुप्ति की साधना का लक्ष्य है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि त्रिगुप्ति की साधना आत्मा के गुणोत्कर्ष की साधना है, जिसमें आत्मा के पूर्ण शुद्ध स्वरूप के प्रकटीकरण तक समग्र साधना का समावेश है।

ध्यान की प्रकृष्ट अवस्था "समापत्ति" है। ध्यान के निरन्तर अभ्यास से ध्याता ध्येयाकार में परिणत हो जाए, वह समापत्ति है जिसका फल समाधि-समता है।

योग के यम-नियम आदि आठ अंगों में समाधि का अन्तिम स्थान है। योग-साधना जिस समय समापत्ति अथवा समाधि की कक्षा तक पहुँच जाए उसी समय उसकी सफलता सिद्ध हो जाती है।

सर्वप्रथम चित्त की निर्मलता, तत्पश्चात् स्थिरता और तन्मयता योग-साधना का क्रम है। साधना का प्रारम्भ निर्मलता से होता है। चित्त की निर्मलता के अभाव में वास्तविक स्थिरता, और तन्मयता स्वकीय नहीं बनती। श्री जिनागमों में वर्णित प्रत्येक मोक्ष-साधक अनुष्ठान की भावपूर्वक की गई आराधना सर्वप्रथम साधक के चित्त को निर्मल बनाती है और तत्पश्चात् उसके फल के रूप में क्रमशः चित्त की स्थिरता तथा तन्मयता सिद्ध होती है।

अहिंसा, संयम एवं तप रूप धर्म से अथवा सम्यग् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र रूप धर्म से क्रमशः चित्त में निर्मलता और स्थिरता आने से परमात्मा में तन्मयता रूप समापत्ति सिद्ध होती है। इसी प्रकार पाँच समितियों के पालन से संसार के समस्त जीवों के साथ स्नेह, सहानुभूति एवं सहिष्णुतापूर्वक व्यवहार होने से चित्त निर्मल होता है; वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति चित्त को स्थिरता प्राप्त कराने में सहायक होती हैं और मनोगुप्ति द्वारा चित्त में तन्मयता आने पर समापत्ति सिद्ध होती है।

केवल प्राण निरोध से यथार्थ समाधि सुलभ नहीं होती, वरन् अन्तर्वर्ती भावों की शुद्धता की मात्रा के अनुसार वह उस प्रमाण में सुलभ होती है। अन्तर्वर्ती भावों की शुद्धता अर्थात् शुद्ध आत्म-स्वभाव की परिणति कराने वाली शुद्धता, ऊपर-ऊपर की शुद्धता का इस शुद्धता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

आत्म-प्रदेशों में नीर-क्षीरवत् रहे हुए कर्ममल का जितनी मात्रा में क्षय होता है, उतने प्रमाण में यह शुद्धता प्रकट होती है और उस प्रमाण में समाधि उत्पन्न होती है।

ध्यान एवं उपयोग

अब हम विचार करें कि जैन दर्शन के आगम ग्रन्थों एवं उनके समस्त अनुष्ठानों सें सुविख्यात "उपयोग" शब्द का "ध्यान" शब्द के साथ कितना अर्थ-साम्य है।

उपयोग जीव का अन्तरंग लक्षण है।

उपयोग के दो भेद हैं साकार उपयोग और निराकार उपयोग। साकार उपयोग पदार्थ का विशेष स्वरूप स्पष्ट करता है, जिसे ज्ञान कहते हैं। यह भेद-ग्राहक है।

निराकार उपयोग पदार्थ के सामान्य स्वरूप का बोध कराता है, जिसे दर्शन कहते हैं। यह अभेद-ग्राहक है।

यह दोनों प्रकार का उपयोग न्यूनाधिक अंश में प्रत्येक संसारी जीव में अवश्य होता है और सिद्ध आत्माओं में यह संपूर्णतः शुद्ध एवं प्रकट होता है। जैन-आगमों में निर्दिष्ट इस "उपयोग" और "ध्यान" में कितनी समानता है, इस पर अब हम विचार करें।

जैन दर्शन में "ध्यान" और "उपयोग" दोनों की उत्कृष्ट समय-सीमा अन्तर्मुहूर्त [४८ मिनट के भीतर के काल] की बताई है। ध्यान को एकाग्र संवित्ति अर्थात् ज्ञान की एकाग्रता स्वरूप बताया

है। और ''उपयोग'' को भी ज्ञान एवं दर्शन स्वरूप बताया है।

ध्यान एवं समाधि की अवस्था में एकाग्र उपयोग की प्रधानता होती है और ध्येयाकार को प्राप्त ध्याता का उपयोग समाधि कहलाता है।

उपयोग क्रमवर्ती है। जब एक साथ अनेक क्रियाएँ की जाती हैं तब भी जीव का उपयोग एक समय में एक क्रिया में ही रहता है। किसी एक विवक्षित क्रिया में या पदार्थ के चिन्तन में जब आत्मा उपयुक्त होता है तब वह अपनी सम्पूर्ण ज्ञान शक्तिपूर्वक उसमें तन्मय हो जाता है अर्थात् समस्त आत्मप्रदेशों के द्वारा वह एक ही पदार्थ के उपयोग में योजित हो जाता है। उस समय वह किसी अन्य पदार्थ अथवा क्रिया से अपना उपयोग नहीं स्थापित कर सकता।

''उपयोग'' के इस स्पष्टीकरण की समापत्ति के लक्षण के साथ तुलना करने पर उन दोनों में कोई अर्थ-भेद नहीं प्रतीत होता, क्योंकि समापत्ति में जिस प्रकार ध्याता का ध्यान ध्येयाकार में परिणत होता है उस प्रकार उपयोग में भी ज्ञाता का ज्ञान ज्ञेयाकार में परिणत होता है।

जैनागमों में निर्दिष्ट मुनि एवं श्रावक जीवन के योग्य प्रत्येक धर्म-क्रिया अथवा अनुष्ठान की आराधना ''उपयोग'' पूर्वक करने के लिए विशेष परामर्श दिया गया है, जिसका कारण यह है कि—

''उपयोग'' पूर्वक की गई धर्म-क्रिया ही भाव-क्रिया कहलाती है और उपयोग रहित क्रिया द्रव्य-क्रिया कहलाती है। भाव-क्रिया आत्मा को मोक्ष प्रदान करती है, अपने शुद्ध स्वरूप के साथ एकाकार करती है, अतः भाव-क्रिया को ही श्री जैनागमों में उपादेय कहा गया है।

इस प्रकार प्रत्येक धर्माराधना में उपयोग [समताजनित मन की एकाग्रता] रखने की शास्त्रीय आज्ञा वास्तव में ध्यान-योग की ही प्रधानता सूचित करती है।

आवश्यक क्रियाएँ और ध्यान योग

इस ग्रन्थ में निर्दिष्ट ध्यान का लक्षण, ध्यान के भेद, उपभेद, प्रणिधान आदि योग और उन्मनीकरण आदि करण चतुर्विध जैन संघ में प्रचलित दैनिक प्रतिक्रमण, चैत्यवन्दन आदि आवश्यक धर्म-क्रियाओं एवं उनके सूत्रों में किस प्रकार गुम्फित हैं—इसका संक्षेप में विचार करें ताकि जैन दर्शन की इन आवश्यक क्रियाओं में ध्यान-योग कितना व्यापक है, उससे पाठक परिचित हो सकें और जैन-दर्शन में और उसके धर्मानुष्ठानों में ''ध्यान-योग'' नहीं है—यह भ्रम निवारण हो सके।

१. ''चिन्ता एवं भावनापूर्वक स्थिर अध्यवसाय को ध्यान कहते हैं। ध्यान के इस लक्षण में उसके पूर्वाभ्यास के रूप में बताई हुई चिन्ता एवं भावना उन आवश्यक क्रियाओं और उनके सूत्रों में किस प्रकार गुम्फित है इस पर विचार करें ।

योगदृष्टा सूरि-पुरन्दर पूज्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने अपने ''**योगविंशिका**'' ग्रन्थ में निर्दिष्ट

१. स्थान, २. वर्ण, ३. अर्थ, ४. आलम्बन और ५. अनालम्बन—इन पाँच योगों का चैत्यवन्दन एवं प्रतिक्रमण आदि प्रत्येक धर्म-क्रिया में प्रयोग करने का विशेष विधान किया है।

इन पाँच योगों में अर्थ-योग एवं आलम्बन-योग चिन्तनात्मक होने से भावना रूप हैं और स्थान-योग तथा वर्ण-योग क्रियात्मक होने से भावना रूप हैं। इन चारों योगों का उनके लक्ष्य एवं विधिपूर्वक चैत्यवन्दन आदि क्रियाओं में निरन्तर प्रयोग करते रहने से 'स्थिर अध्यवसाय स्वरूप ध्यान' और उसके फल के रूप में क्रमशः अनालम्बन योग की भूमिका तक पहुँचा जा सकता है।

तत्त्व-चिन्ता आदि सात प्रकार की चिन्ताएँ द्वादशांगी अर्थात् श्रुतज्ञान के अध्ययन-चिन्तन रूप हैं तथा ज्ञान आदि चार भावना पंचाचार के अभ्यास रूप हैं। इस प्रकार स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि मुनि-जीवन और श्रावक-जीवन के योग्य समस्त धर्म-क्रियाएँ, तप-संयम आदि अनुष्ठान, श्रुतज्ञान एवं पंचाचार रूप होने से ध्यान-योग उत्पन्न करने वाली एवं उसे परिपुष्ट करने वाली हैं।

अब हम यह सोचें कि इस ग्रन्थ में वर्णित २४ ध्यान भेदों में से किन ध्यानों की साधना तथा उनकी सामग्री आवश्यक क्रियाओं में गुम्फित है।

ध्यान प्रथम भेद आज्ञा-विचय आदि रूप धर्म-ध्यान उपयोगपूर्वक अर्थात् शान्त-चित्त एवं एकाग्रता-पूर्वक होने वाली प्रत्येक आवश्यक क्रिया से अनुस्यूत होता है।

कायोत्सर्ग में स्थित साधक की निश्चल दृष्टि रूप "तारा-ध्यान" चैत्यवन्दन, प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाओं में तथा "बीस-स्थानक, नौ पद" आदि तप-अनुष्ठानों में कर्म-क्षय आदि के उद्दत्त दृष्टि से किए जाने वाले कायोत्सर्ग आवश्यक में अनुस्यूत है।

श्री अरिहन्त आदि चारों की शरणागति में चित्त की लीनता रूप "लय-ध्यान" चैत्यवन्दन, प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाओं में व्यापक चतुः शरण-गमन आदि आराधना स्वरूप है।

पंच परमेष्ठी भगवंतों के ध्यान रूप पदस्थ ध्यान एवं मुक्तिपद प्राप्त सिद्धात्माओं के गुण-चिन्तन रूप सिद्धि-ध्यान दोनों ध्यान समस्त आगम ग्रन्थों में तथा समस्त आवश्यक क्रियाओं में व्यापक श्री नमस्कार महामंत्र की शुद्ध एवं एकाग्रचित्त से होने वाली आराधना में समाविष्ट हैं।

चैत्यवन्दन करते समय अवस्थात्रिक, वर्णत्रिक, त्रिदिशिवर्जनत्रिक तथा प्रणिधानत्रिक आदि दस त्रिकों के पालन करने का विधान वास्तव में "ध्यान-योग" को ही सूचित करता है अर्थात् यह ध्यान-योग का पूर्वाभ्यास है।

इसी प्रकार से चैत्यवन्दन आदि क्रियाओं में प्रयुक्त सूत्र शक्रस्तव, चैत्यस्तव, नामस्तव, श्रुतस्तव तथा सिद्धस्तव में जो बारह अधिकार प्रदर्शित किये गये हैं, उनमें प्रथम अधिकार में भाव जिनेश्वरों का, दूसरे में द्रव्य जिनेश्वरों का, तीसरे में स्थापना जिनेश्वर का, चौथे में नाम जिनेश्वर का, पाँचवें अधिकार में तीनों लोको के चैत्यों में प्रतिष्ठित समस्त स्थापना जिनेश्वरों का, छठे में श्री सीमंधर

स्वामी आदि बीस विहरमान जिनेश्वर का, सातवें में श्रुतज्ञान का, आठवें में समस्त सिद्धात्माओं का, नौवें अधिकार में चरम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी का, दसवें में उज्जयन्त श्री गिरनार तीर्थ का, ग्यारहवें अधिकार में श्री अष्टापद तीर्थ का और बारहवें अधिकार में सम्यग्-दृष्टि देवों आदि का कीर्तन, स्मरण एवं ध्यान करना अनिवार्य है ।

इन बारह अधिकारों एवं "जग चिन्तामणि", "जावंति चेइयाई", "जावंत केवि साहू" आदि सूत्रों के द्वारा समस्त द्रव्य एवं भाव-जिनेश्वरों का तथा तीनों क्षेत्रों एवं तीनों कालों के समस्त साधु-साध्वियों का जो वन्दन होता है उनका पवित्र स्मरण एवं चिन्तन होता है वह वास्तव में "परम-मात्रा"—ध्यान के चौबीस वलयों में निरूपित विशिष्ट ध्यान-सामग्री रूप होने से "परम-मात्रा ध्यान" के पूर्वाभ्यास स्वरूप हैं और शेष शून्य, कला, ज्योति, बिन्दु, लव आदि ध्यान-भेद भी पूर्वोक्त ध्यानों के अभ्यासी साधक के लिए क्रमशः अनुभूति के विषय बनते हैं। इस तथ्य का प्रतिपादन "अरिहाण थुत्तं" नामक स्तोत्र में भी किया जा चुका है जिसका निरूपण इस ग्रन्थ के विवेचन में किया गया है।

आवश्यक आदि क्रियाओं में प्रणिधान आदि योग एवं उन्मनीकरण आदि

अशुभ अर्थात् सावद्य व्यापार के निवर्तन रूप प्रणिधान योग, अर्थात् निरवद्य प्रवृत्ति रूप समाधान-योग, राग-द्वेष के प्रसंगों में मध्यस्थता रूप समाधि-योग और ध्यान-जनित एकाग्रता से होने वाले उच्छ्वास आदि के निरोध रूप काष्ठायोग—ये सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, गुरूवन्दन प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग तथा प्रत्याख्यान रूप छः आवश्यकों में समाविष्ट है।

उपरोक्त ध्यान एवं योगों के दीर्घकालीन अखण्ड अभ्यास के द्वारा साधक जब निर्विकल्प अवस्था में पहुंचता है तब वह क्रमशः उन्मनीकरण आदि करणों को सिद्ध करता है।

अतः न्याय-बुद्धि युक्त किसी भी सुज्ञ व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ेगा कि जैन-दर्शन में और उसके अंगभूत वाङ्मय में "ध्यान" दूध में समाविष्ट घी की तरह ओत-प्रोत है। जिस विधि से दूध में से घी की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार विधि से सम्पूर्ण श्रुत आदि में से घी-रूपी ध्यान की प्राप्ति होती है।

जिनके स्वतन्त्र प्रणेता, प्ररूपक स्वयं श्री जिनेश्वर भगवान हैं, उन अर्थात्मक सूत्रों में तथा अनुष्ठानों आदि में ध्यान समस्त स्तरों में विद्यमान है। लेकिन उसमें उपयोग को पिरोने की आवश्यकता है।

जैन दर्शन वर्तमान समय में उपलब्ध आगम-ग्रन्थों तथा प्रकीर्ण ग्रन्थों में जो मोक्ष मार्ग प्रतिपादित किया गया है वह सर्वांग सम्पूर्ण है। मोक्ष-प्रापक अर्थात् आत्मा के पूर्ण शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने में समर्थ धर्म, अध्यात्म अथवा योग की साधना जैसी भूतकाल में थी, वैसी आज भी जैन-शासन में विद्यमान है जीवित है और रहेगी। वर्तमान समय में जैन-शासन में ध्यान-योग का मार्ग लुप्त

हो गया है। उसे पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है यह कहने की अपेक्षा उस मार्ग पर चलने की रूचि अत्यन्त कम हो गई है और उसे प्रदीप्त करने के लिऐ जो सम्यक् पुरुषार्थ होना चाहिए वह भी अत्यन्त अल्प प्रमाण में दृष्टिगोचर होता है। उक्त रूचि एवं पुरुषार्थ को उद्दीप्त करने की और विकसित करने की विशेष आवश्यकता है—यह कहना अधिक उचित एवं संगत प्रतीत होता है। ध्यान-योग की साधना के लिए यदि सचमुच आन्तरिक लगन लगी हो तो सर्वप्रथम निम्न प्रश्नों पर विचार करना चाहिए और उनके सम्बन्ध में सच्चा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

वास्तविक योग क्या है? ध्यान-योग की साधना का लक्ष्य क्या है? योग का सच्चा अधिकारी कौन हो सकता है? साधना का प्रारम्भ किसे कहाँ से करना चाहिए?

तत्वत: ध्यान-योग की साधना कोई आसन, प्राणायाम अथवा केवल मन की एकाग्रता अथवा निर्विचार-स्थिति नहीं है। यह तो आत्मा एवं परमात्मा के मध्य, आत्मा एवं समस्त जीवात्माओं के मध्य एक भावनात्मक भूमिका है, व्यक्तिगत्र संकुचितता-संकीर्णता के घेरे में से बाहर निकलकर विश्वात्मा की परिधि में आत्मा का भावोत्कर्ष करने के लिए "ध्यान-योग" की साधना अभीष्ट है।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा की आज्ञा के अनुरूप चलने वाले ज्ञानी महापुरूषों ने जैन शासन की प्रत्येक आराधना को, प्रत्येक अनुष्ठान को संवर एवं निर्जरा रूप कहा है।

जैन दर्शन के संवर एवं निर्जरा तत्त्व अर्थात् पूर्ण मोक्ष-मार्ग, पूर्ण ध्यान-योग की शृंखला-बद्ध प्रक्रिया, ऐसी उत्तम आराधना-साधना प्राप्त होने पर भी उसकी उस स्वरूप में आराधना-साधना करने के लिए हम कितने उत्सुक, सजग एवं सक्रिय हैं?

ध्यान-योग की साधना के लिए उत्सुक व्यक्ति सर्वप्रथम आत्म-विश्लेषण और आत्म-निरीक्षण करे जिससे यह ज्ञात हो सके कि उसकी अन्तर्वृत्ति एवं रूझान संसाराभिमुख है या आत्माभिमुख?

ध्यान-योग की साधना के लिये साधक को अपने जीवन में योग्यता पनपानी चाहिए, जिसके लिए सर्वप्रथम श्रद्धा एवं विश्वास का होना अनिवार्य है। तत्पश्चात् आत्म-शुद्धि की आतुरता कर्म-मल से मुक्त होने की लगन, आत्मिक उत्क्रान्ति की उत्कण्ठा और आत्म-समर्पण की भावना भी होनी चाहिए।

तीव्र भाव से पाप-कृत्य नहीं करना, सांसारिक सुखों में तीव्र आसक्ति नहीं रखना तथा जीवन-व्यवहार में सर्वत्र न्यायपूर्वक व्यवहार करना—प्राथमिक योग्यता के मूल तत्त्व हैं।

योग्यता के तारतम्यानुसार अपनी-अपनी भूमिका के योग्य अनुष्ठानों का आसेवन करना योग है, जो क्रमश: मोक्ष के साथ सम्बन्ध स्थापित कराता है।

इस प्रकार अपनी योग्यता विकसित करके आत्म-श्रद्धा एवं परमात्म-भक्ति को जीवन में प्रधानता देने से ही योग मार्ग का सच्चा पथिक बना जा सकता है। अपने शुद्ध आत्मस्वरूप के भान से रहित

अथवा उक्त भान के जागृत रखने के लक्ष्य से रहित कोई भी आराधना ध्यान-योग की अथवा मोक्ष-प्रापक योग की साधक नहीं बन सकती।

तात्पर्य यह है कि आज आत्म-निरीक्षण करने की और अपने प्रति पक्षपात रहित होने की बहुत आवश्यकता है।

जासूसी विभाग का उच्च अधिकारी जिस प्रकार सन्देहास्पद व्यक्ति की तलाशी लेता है उसी प्रकार यदि आत्म-निरीक्षण हो तो अपने दोषों को, दुर्गुणों को और दुर्भावों को जाना जा सकता है और अनेक भूलों एवं भ्रमों के अन्धकार से बाहर निकला जा सकता है। इस प्रकार के तटस्थ आत्म-निरीक्षण से उत्पन्न तत्त्व-रूचि अथवा ध्यान-रूचि के बिना धर्माराधना अथवा ध्यान-योग की साधना किस प्रकार क्रियान्वित हो सकती है? वह किस प्रकार अपना प्रभाव उत्पन्न कर सकती है?

जैन दर्शन के प्रत्येक अनुष्ठान में व्यापक ध्यान-योग ऐसी स्थिति में ही हमें प्रभावित कर सकता है और हम पर लागू हो सकता है जबकि हम उसके प्रति तीव्र रूचि उत्पन्न करें।

ध्यान-योग की रूचि अर्थात् आत्मा के ध्यान की रूचि आत्मा जब ध्यान की विषयभूत बनती है तब उसकी शुद्धि की सुरक्षा करने की निर्मल बुद्धि अनायास ही कार्य करना प्रारम्भ कर देती है।

आत्मा के प्रति रूचि कब हो? जब आत्म-भिन्न पर पदार्थों की रूचि, आसक्ति पूर्णतः मन्द होती जाती है।

पर-पदार्थों के प्रति ममता का मूलोच्छेदन करने की तथा आत्म-पदार्थ में अपूर्व रूचि प्रेम उत्पन्न करने की अचिन्त्य शक्ति जैन दर्शन के प्रत्येक धार्मिक सूत्र एवं उत्तम अनुष्ठानों में व्याप्त है। उनमें रमणता-लीनता होने पर ध्यान-योग प्रारम्भ होता ही है। ध्यान-योग कोई बाहर से लाने की अथवा जबरदस्ती प्राप्त करने की साधारण वस्तु नहीं है किन्तु वह तो अपने क्रम से स्वयं अन्तर्मन में प्रस्फुरित होता है। जैन दर्शन की क्रमिक आराधना-विधि उतनी ही प्रभावशाली है जितना कि ध्यान-योग। तात्पर्य यह है कि शास्त्रोक्त विधिपूर्वक, अनुपम सम्मान के साथ धर्माराधना करने से यथार्थ योग-साधना की जा सकती है।

इस तथ्य पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि आज भी ध्यान-योग का मार्ग उन्मुक्त हुआ है, परन्तु उक्त मार्ग की रूचि अत्यन्त मन्द होने से जिस प्रकार मन्द जठराग्नि वाले व्यक्ति को सादा एवं सात्त्विक भोजन भी अरूचिकर प्रतीत होता है, उसी प्रकार योगमार्ग अरूचिकर प्रतीत होता है। फिर उसकी जिज्ञासा आदि की तो बात ही क्या?

जिन महानुभावों को ध्यान-योग में रूचि है उनके लिए यह ध्यान में रखना अनिवार्य है कि ध्यान-योग की साधना स्वात्मा शुद्ध करने के लिए की जाती है। अपना स्वरूप भौतिकता से सर्वथा भिन्न है—इस समझ को निरन्तर भावित करने से हम उसे प्रतीति के उच्च शिखर पर ले जा सकते हैं।

इस प्रकार जैन आगम ग्रन्थों में वर्णित मोक्ष-मार्ग की प्रत्येक आराधना एवं साधना ध्यान एवं योग स्वरूप ही हैं। उसकी रूचि तीव्र की जाए उसके रहस्यों, संकेतों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हो, आन्तरिक सम्मान उल्लासित किया जाए और मोक्ष के लक्ष्यपूर्वक उसके लिए सक्रिय पुरुषार्थ हो तो वर्तमान समय में वह प्राप्त किया जा सकता है, उस स्तर तक की चित्त की प्रसन्नता एवं आत्म-समाधि हम इस जीवन में अवश्य प्राप्त कर सकें, यह निर्विवाद तथ्य है।

योग शब्द के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण

''योग'' शब्द के मूलभूत अर्थ, तात्पर्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा उस ''योग'' की परम्परा, आम्नाय और अनुभूति से वंचित कतिपय वर्तमान मनीषियों की यह मान्यता है तथा वे उसे प्रचारित करते हैं कि जैन दर्शन एवं उसके वाङ्मय (आगम-ग्रन्थों) में ''योग'' शब्द केवल मन, वचन और देह के व्यापार के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, चित्त के निरोध रूप ध्यान अथवा आत्म समाधि रूप साधना के सन्दर्भ में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ। महर्षि पंतजलि के **योग सूत्र** रचना के पश्चात् आचार्य श्री हरिभद्र ने उक्त योग शब्द अपनाया और उसे विकसित किया, परन्तु यह प्रस्तुतीकरण भ्रामक है, सत्य से कोसों दूर है। अब हमें यह सोचना है कि जैन दर्शन में ''योग'' शब्द का साधना के संदर्भ में कहाँ-कहाँ प्रयोग किया गया है।

चार मूल आगम-ग्रन्थों में आवश्यक सूत्र का मुख्य स्थान है। इन आवश्यक सूत्रों के रचयिता श्री गणधर भगवंत है। आवश्यक-सूत्रों में से एक सूत्र ''श्रमण सूत्र'' है जिसका प्रयोग प्रातः-सायं प्रतिक्रमण की क्रिया में प्रत्येक साधु एवं साध्वी जी महाराज अनिवार्य रूप से करते हैं। उक्त सूत्र की एक पंक्ति हैं-''बत्तिसाए जोग संगहेहिं'' इन बत्तीस प्रकार के योग-संग्रहों के निर्देश में ''झाण-संवर जोगो य'' ध्यान का अठाईसवाँ योग-संग्रह है, ध्यान समाधि रूप योग-प्रक्रिया का सूचक है। इस सूत्र पर निर्युक्ति के रचयिता पूज्य आचार्य देव श्री भद्रबाहु स्वामी थे जो महर्षि पतंजलि के पूर्ववर्ती थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि ''जैनागमों'' में ''योग'' शब्द कहीं से उधार नहीं लिया गया, वरन यह उसका अपना ही है।

इसी ''आवश्यक सूत्र'' की निर्युक्ति में पूज्य भद्रबाहु स्वामी ने ध्यान एवं समाधि के सन्दर्भ में ''योग'' शब्द का प्रयोग किया है । यह निम्नलिखित पाठों के अवलोकन से स्वयं सिद्ध हो जाता है।

सुयनाणंमि वि जीवो, वट्टंतो सो न पाउणइ मोक्खं ।
जो तव संयममइए जोए न चएइ वोढं जे ॥९०॥

जो साधक तप-संयममय योग में तत्पर नहीं होता वह अकेले श्रुतज्ञान के आलम्बन से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् श्रुतज्ञान के साथ तप-संयम रूप *योग-साधना* करे तो ही वह अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप को प्रकट कर सकता है।

निव्वाण साहए जोगे, जम्हा साहेंति साहुणो।
सम्मा य सव्वभूएसु, तम्हा ते भावसाहुणो ॥१०१०॥

जो निर्वाण-साधक सम्यग् दर्शन ज्ञानादि योगों की साधना करते हैं और जीव मात्र के प्रति समान भाव आत्म-तुल्य भाव धारण करते हैं वे "भाव साधु" कहलाते हैं।

बारसविहे कसाए, खविए उवसामिए य जोगेहिं ।
लब्भइ चरित्तलंभो, तस्स विसेसा इमे पंच ॥११३॥

प्रशस्त मन, वचन और काया योग के द्वारा अर्थात् ध्यान-समाधि में प्रयुक्त *मनोयोग* आदि योगों के द्वारा बारह प्रकार के कषायों का क्षय, उपशम एवं क्षयोपशम होने से भाव चारित्र का लाभ होता है। ये सामयिक आदि पाँच चारित्र के ही प्रकार हैं।

अन्य सूत्र-पाठ

खेत्तोयं कालोयं, करणमिणं साहओ उवाओऽयं।
कत्त त्ति य जोगि त्ति य, इय कयजोगी वियाणाहि॥

प्रशस्त मन, वचन एवं काया का प्रयोग करने वाले श्री तीर्थंकर भगवान जिस प्रकार योगी कहलाते हैं, उसी प्रकार ज़ो गीतार्थ मुनिवर उत्सर्ग एवं अपवाद को जानते हैं और तदनुसार यथोचित प्रवृत्ति करते हैं, उन्हें भी "योगी" रूप में स्वीकार कीजिए।

–" *बृहत्कल्पसूत्र-निर्युक्ति*, गाथा ९५८ से ९६०

बाहिरजोगविरहिओ, अब्भिंतरझाण-जोगमल्लीणो।
जह तम्मि देस-काले, अमूढसन्नो चयइ देहं ॥५५॥

बाह्य-योग व्यापार से पृथक् तथा अभ्यन्तर ध्यान-योग में लीन होने की स्थिति और समय में मुनि आत्म-जागृति पूर्वक देह का त्याग करता है । –*आउर पच्चक्खान पयन्ना*

महागरा आयरिया मेहसी, समाहिजोगे सुअसीलबुद्धिए।
संपाविउकामे अणुत्तराइं आराहए तोसइ धम्मकामी ॥९-१-१६॥

"समाधियोगे:"-ध्यानविशेषै:

आचार्य ज्ञान आदि गुण-रत्नों के विशाल भंडार हैं, समाधि-योगों से [विशिष्ट ध्यान से] श्रुत-ज्ञान से, सदाचार से और बुद्धि से मोक्षाभिलाषी हैं। ऐसे आचार्य को अपूर्व ज्ञान आदि गुण प्राप्त करने का अभिलाषी एवं कर्मों की निर्जरा का अभिलाषी मुनि विनयपूर्वक उनकी आराधना करे, उन्हें सन्तुष्ट करे। –*श्री दशवैकालिक सूत्र*, हारिभद्रीयवृत्ति

सज्झायसंजमतवे वेआवच्चे अ झाणजोगे अ।
जो रमइ नो रमइ असंजमम्मि सो वच्चई सिद्धि ॥३६६॥

–*दशवैकालिक सूत्र निर्युक्ति*

जो स्वाध्याय, संयम, तप, वैयावृत्य एवं ध्यान-योग में रमण करता है तथा जो असंयम में रमण नहीं करता वह सिद्धि प्राप्त करता है।

–रतिवाक्य चूलिका

प्रस्तुत "ध्यान-विचार" में निर्दिष्ट ९६ प्रकार के करणयोग और उतने ही प्रकार के भवनयोग विशिष्ट ध्यान-जनित एवं उत्तरोत्तर प्रकर्ष की ओर उन्मुख समाधि के द्योतक योग हैं। इन ९६ प्रकार के योगों के निरूपण के लिए उनके आधार-स्वरूप ग्रन्थकार के स्वयं द्वारा अंकित "जोगो विरियं थामो" इस पद्यांश में प्रयोजित प्रथम "योग" शब्द समाधि का ही द्योतक है जो इस ग्रन्थ के अध्ययन और मनन से अच्छी तरह जाना जा सकता है और इससे यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि जैन-दर्शन में "योग" शब्द समाधि के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

पूज्य हरिभद्र सूरिजी महाराज आगम-शास्त्रों के अगाध अभ्यासी, तथा आगम-शास्त्रों के प्रति अनन्य आदर, श्रद्धा एवं समर्पण भाव रखने वाले एक महान् योगदृष्टा महापुरुष थे। उन्होंने आगम-ग्रन्थों में निरूपित एवं संचित ध्यान-योग की विशदता एवं व्यापकता को जिन-भक्ति-जन्य विशिष्ट क्षयोपशम-भाव के असीम प्रभाव से गूढ़ आगम शैली के मर्म को शब्द रूप प्रदान किया, उनके अनुसन्धान में "**योग-बिन्दु**", "**योग दृष्टि समुच्चय**", "**योगविंशिका**" एवं "**योग-शतक**" आदि मननीय ग्रन्थों की रचना की तथा उन्होंने अन्य दर्शनों के प्रामाणिक योग ग्रन्थों एवं उनमें निर्दिष्ट प्रक्रियाओं के साथ सुन्दर समन्वय किया ।

स्वयं द्वारा रचित "**योग-शतक**" के मंगलाचरण की प्रथम गाथा में ही योगियों के स्वामी एवं श्रेष्ठं योग-दर्शक श्री महावीर भगवान को नमस्कार करके पूज्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने यह कहा है कि "जोगज्झयणाणुसारेणं" अर्थात् "योग-अध्ययन" का अनुकरण करके मैं योग का संक्षिप्त वर्णन करूँगा।

तो यह योग अध्ययन कौन-सा है?

इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए टीका में उन्होंने स्वयं लिखा है कि निष्पाप योगों की प्रवृत्ति के द्वारा समभावं का आत्म-भाव में रमण करने का उत्तम अभ्यास होता है। यह सामयिक धर्म जैन दर्शन का एक अग्रगण्य योग है। इसमें ज्ञान-योग, भक्ति-योग और कर्म-योग आदि समस्त योगों का समावेश है।

ध्यान-योग विषयक भ्रम से बचें

ध्यान-योगाभ्यास की समस्त प्रक्रिया स्वयं को शुद्ध करने के लिए है, देह, इन्द्रियों एवं मन से परे सच्चिदानंद स्वरूप आत्म-तत्त्व को पहचानने और उसका अनुभव करने के लिए है।

सब ओर से पराजित और क्लांत व्यक्ति मानसिक शान्ति एवं शारीरिक स्वास्थ्य के लिए अन्य

कोई उपाय कारगर होते न देखकर "योग" की ओर आकृष्ट हुए हैं परन्तु आत्मिक उत्थान के महान् ध्येय को प्राप्त कराने वाली ध्यान-योग की साधना को उसके मूलभूत तत्त्वों की उपेक्षा कर आज केवल मानसिक शान्ति एवं शारीरिक स्वास्थ्य का लक्ष्य बनाया जाता है। यह योग-साधना का अत्यन्त दु:खद अवमूल्यन और घोर अपमान है।

मानसिक अशान्ति एवं शारीरिक रोगों का मूल अपने आन्तरिक दोष हैं, राग-द्वेष, काम-क्रोध, मान-माया और उनसे बांधे हुए अशाता आदि कर्म हैं। अपने जीवन में व्याप्त दुष्ट वृत्तियों एवं तज्जनित प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण किए बिना अपने मन-वचन-काया के अयोग्य दिशा में होते उपयोग को रोककर योग्य दिशा में उसे मोड़ने का पुरुषार्थ किए बिना तन, मन, और आत्मा की सच्ची स्वस्थता एवं शान्ति कदापि उपलब्ध हो ही नहीं सकती ।

आत्मा के अस्तित्व की तथा सच्चिदानन्द स्वरूप की सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ जिनका उक्त स्वरूप प्रकट है और जो उसे प्रकट करने के लिए सच्चा पुरुषार्थ कर रहे हैं, उन परम कृपालु परमात्मा एवं महात्माओं की आन्तरिक आदर-सम्मानपूर्वक सेवा, भक्ति, उपासना करना, शुद्ध चित्त से उनकी आज्ञा का पालन करना ही सच्ची साधना है, जिस साधना के प्रभाव से मानव महामानव बन सकता है, आत्मा परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर सकती है।

ध्यान-योग की साधना प्रकट-अप्रकट निज दोषों के नाश तथा गुणों के विकास के लिए की जाती है। जीवन में जब ऐसी साधना की जाती है और वह स्थिर स्वरूप धारण कर लेती है तब कल्पनातीत अनुभूतियों का दौर प्रारम्भ होता है, जिसका प्रभाव समस्त जीवन पर पड़े बिना नहीं रह सकता। जीवन में जितने अंशों में राग, द्वेष एवं मोह आदि आन्तरिक दोषों की प्रबलता घटती है, उतने अंशों में योग-साधना का विकास माना जाता है।

यदि राग आदि की प्रबलता कम होने की प्रतीति नहीं होती हो तो यह समझ लेना चाहिए कि बाह्य मन, वचन, काया की अथवा बौद्धिक स्तर की शक्तियों का चाहे जितना विकास हुआ हो तो भी वह ध्यान-योग का तात्त्विक फल नही हैं। एकाग्रता तो योग की देह मात्र है, उसका प्राण तो अहंत्व, ममत्व का त्याग है।

ध्यान-योग के यथार्थ स्वरूप तथा उसकी साधना की यथार्थ प्रक्रिया एवं उसकी साधना में तन्मय साधक के यथार्थ स्वरूप आदि की यह स्पष्टता ऐसे शुभ आशय से की गई है, जिससे वे वास्तविक ध्यान-योग का मर्म समझकर, ग्रहण करके उसकी उपासना में उत्तरोत्तर अधिकाधिक सक्रिय बनकर अनन्त, अखण्ड और सर्व जीव हितकर समाधि के स्वामी बन सकें। लेकिन वर्तमान समय में ध्यान-योग एवं उसकी साधना के संबंध में जो भ्रांतियाँ फैली हुई हैं उनसे ध्यान-योग के सच्चे अभिलाषी व्यक्तियों का बचना बहुत आवश्यक है।

आभार प्रदर्शन

ध्यान-विचार सम्बन्धी इस विवेचन में **आवश्यक-सूत्र-निर्युक्ति, ध्यान-शतक, गुणस्थानक-क्रमारोह, योग-बिन्दु, योग-प्रदीप, नमस्कार-स्वाध्याय** और **योगशास्त्र-अष्टम-प्रकाश** [जैन साहित्य विकास मण्डल द्वारा प्रकाशित] आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों की सहायता ली गई है। साथ ही कतिपय अर्वाचीन ग्रन्थ भी उपयोगी सिद्ध हुए हैं, अत: उन ग्रन्थकार पूज्य महर्षियों, उनके सम्पादकों आदि के प्रति मैं कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। प्रस्तुत ग्रन्थ की लिखित सामग्री को आद्यंत पढ़कर, सोचकर उसमें उचित संशोधन, परिवर्द्धन के लिए सहृदयतापूर्वक परामर्श, निर्देश देने वाले अनेक नामी, अनामी पूज्यवर्यों, मुनिवरों एवं विद्वानों को भी मैं भूल नहीं सकता। ग्रन्थ के लेखन, सम्पादन एवं प्रकाशन आदि में अपनी अमूल्य शक्ति एवं सम्पत्ति आदि का लाभ देने वाले महानुभावों की श्रुत-भक्ति के प्रति भी मैं साधु धन्यवाद व्यक्त करता हूँ।

अन्तर की अभिलाषा

ध्यान जैसे गहन एवं गूढ़ विषय पर विशेष प्रकार के अनुभव के बिना केवल योगनिष्ठा तत्त्वदृष्टा स्व० पूज्य पन्यासजी महाराज श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य की प्रेरणा, कृपा एवं ध्यान-योग के प्रति आन्तरिक अभिरूचि से प्रेरित होकर स्वाध्याय के उद्देश्य से यह यत्किंचित् विवेचन लिखने का प्रयास किया गया है।

इसमें मेरी मन्द-बुद्धि, अज्ञान एवं छद्मस्थता के कारण जो कुछ भी त्रुटियाँ रह गई हैं उन्हें पूज्य गीतार्थ, अनुभवी पुरुष सुधारकर ग्रहण करेंगे और अनुकूलता हो तब उन त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करने के लिए मुझ पर विशेष अनुकम्पा करेंगे ऐसी मेरी श्रद्धा और आशा है।

एक विनम्र प्रार्थना यह भी है कि इस ''ध्यान-विचार'' ग्रन्थ में ध्यान-साधना विषयक अनेक रहस्यमय पदार्थ व्याप्त हैं, छिपे हुए हैं, उनकी ओर अपना ध्यान केन्द्रित कर उन पर विशेष प्रकाश डालने का प्रयास करें ।

अन्त में इस सम्पूर्ण विवेचन में यदि जिनाज्ञा से विपरीत कुछ भी लिखा गया हो, उसके लिए, त्रिविध त्रिविध मिच्छामि दुक्कडम् ।

विजय कलापूर्णसूरि

मांडवी (कच्छ)
वि० सं० 2042
आश्विन शुक्ला 10, रविवार,
दिनांक 12-10-86

॥ शिवमस्तु सर्वजगतः ॥

—: पूर्व विभाग :—

।। ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः ।।

धरणेन्द्रपदमावतीपरिपूजिताय

श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथाय नमः ।

अनन्तलब्धिनिधानाय

श्री गौतम स्वामिने नमः ।

।। ऐं सरस्वत्यै नमः ।।

ध्यान-विचार

(विवेचन युक्त)

मंगलाचरण

श्री शंखेश्वर पार्श्वजिन, प्रेमे प्रणमी पाय,
प्रतिमा पीयूष-वर्षिणी, देखत सवि दुःख जाय ।। १ ।।
जेहना ध्यान प्रभाव थी, प्रगटे आतम-भाव,
राग-द्वेष दूरे टले, न रहे मोह-विभाव ।। २ ।।
शासन-नायक सुखकर, श्री वर्द्धमान जिनराय ।
त्रिकरण योगे वंदतां, हैये हर्ष न माय ।। ३ ।।
अनन्तलब्धिनायक नमुं, श्री गौतम गुरुराज ।
जेहना गुण गातां थकां, लहिये अविचल राज ।। ४ ।।
उपकारी गुरूदेवना, चरणे नमावी शीश ।
अन्तर थी याचुं सदा, आपो शुभ आशिष ।। ५ ।।
श्री जितविजय दादा तणा, गुण गणतां न गणाय ।
हीरा सम झलके सदा, हीरविजय गुरुराय ।। ६ ।।
कनकगुणे करी दीपता, कनकसूरि गुरु राय ।
कंचन गुरु ने वंदतां, जीवतर सार्थक थाय ।। ७ ।।
स्मरण करी श्रुतदेवी नुं, नामे "ध्यान-विचार" ।
परम रहस्य ने पामवा, करुँ तेह तणो विस्तार ।। ८ ।।
ध्यानाभ्यासी भव्य जन, पामे सुविशद मर्म ।
शुक्लध्यान अभ्यास थी, काटे कर्म नो भर्म ।। ९ ।।

इस प्रकार परमोपकारी, परमगुणी परमात्मा एवं उनकी पाट-परम्परा में आये हुए समस्त गणधर भगवन्तों तथा समस्त उपकारी सद्गुरुओं को त्रिकरण योग से नमस्कार करके विद्वज्जनों को अपूर्व

ज्ञान-शक्ति-प्रदात्री सरस्वती देवी का ससम्मान स्मरण करके "ध्यान-विचार" ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में शब्दानुवाद एवं भावानुवाद करने का यथाशक्ति प्रयास करुँगा ।

ध्यान-विचार-मंगलादि अनुबन्ध चतुष्टय

इस महान् ग्रन्थ के प्रारम्भ में उल्लिखित ध्यान-मार्ग के २४ प्रकार का मूल-पाठ निम्नलिखित है ।

मूलपाठ

ध्यानं, परमध्यानम्, शून्यं, परमशून्यम्, कला, परमकला, ज्योति, परमज्योति, बिन्दुः, परम-बिन्दुः, नादः, परमनादः, तारा, परमतारा, लयः, परमलयः, लवः, परमलवः, मात्रा, परममात्रा, पदं, परमपदम्, सिद्धिः, परमसिद्धिः इति ध्यान-मार्ग भेदाः । उक्तं च –

"सुन्न-कल-जोइ-बिंदू, नादो, तारा-लओ-लवो-मत्ता ।
पय-सिद्धी परमजुया झाणाई हुंति चउवीसं ।।"

अर्थ — १. ध्यान, २. परमध्यान, ३. शून्य, ४. परमशून्य, ५. कला, ६. परमकला, ७. ज्योति, ८. परम-ज्योति, ९. बिन्दु, १०. परमबिन्दु, ११. नाद, १२. परमनाद, १३. तारा, १४. परमतारा, १५. लय, १६. परमलय, १७. लव, १८. परमलव, १९. मात्रा, २०. परममात्रा, २१. पद, २२. परमपद, २३. सिद्धि, २४. परमसिद्धि—इस प्रकार ध्यान-मार्ग के चौबीस प्रकार हैं ।

अन्यत्र भी कहा गया है कि-

१. ध्यान, २. शून्य, ३. कला, ४. ज्योति, ५. बिन्दु, ६. नाद, ७. तारा, ८. लय, ९. लव, १०. मात्रा, ११. पद, १२. सिद्धि ।

इस प्रकार बारह तथा प्रत्येक के साथ "परम" शब्द जोड़ने से "परमध्यान" आदि अन्य बारह मिलकर चौबीस भेद होते हैं ।

विवेचन — ग्रन्थ के शुभारम्भ में मंगल, अभिधेय, प्रयोजन और सम्बन्ध—इन अनुबन्ध चतुष्ट्य का निर्देश करने की शिष्ट पुरुषों की पावन मर्यादा है । इसके द्वारा ग्रन्थ का निर्विघ्न समापन होने के साथ उसकी उपादेयता एवं प्रमाणभूतता की प्राज्ञ पुरुषों को ठोस प्रतीत होती है।

मंगल — जिनागमों के रचयिता श्री गणधर भगवान आचारांग सूत्र के प्रारम्भ में ही "सुयं में आउसंतेणं" पद के द्वारा ग्रन्थ का मंगल प्रारम्भ करते हैं । इसमें "सुयं" अर्थात् "श्रुत" शब्द श्रुतज्ञान

वाची होने से मंगल स्वरूप* है, उस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वप्रथम "ध्यान" शब्द को प्रयुक्त कर ग्रन्थकार महर्षि ने मंगल किया है ।

ध्यान छः प्रकार के अभ्यन्तर तप का ही एक प्रकार है जो महामंगल स्वरूप और सर्व विघ्न-विनाशक है।

अतः इस ग्रन्थ में "स्वतन्त्र मंगल क्यों नहीं किया गया ?"- इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार हो जाता है कि धर्म-ध्यान आज्ञा विचयादि स्वरूप है । आज्ञा अर्थात् श्री जिनागम, जो श्रुतज्ञान-स्वरूप है। यह श्रुत सर्वज्ञ, सर्वदर्शी श्री जिनेश्वर भगवान द्वारा (अर्थ रूप) प्रकाशित किया हुआ होने से निश्चित रूप से महामंगल स्वरूप है ।

अभिधेय – प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय मुख्यतया "ध्यान-योग" है जो उसके नाम से तथा "ध्यान" शब्द के प्रयोग से ही स्पष्ट हो जाता है ।

प्रयोजन – ग्रन्थकार महर्षि द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना करने में प्राथमिक उद्देश्य मुमुक्षु जिज्ञासुओं को ध्यान से सम्बन्धित सम्यग् ज्ञान प्रदान करना, ध्यान का स्वरूप स्पष्ट करना और ध्यान के भेदों-उपभेदों आदि का मार्गदर्शन करना है ।

यह उद्देश्य [प्रयोजन] अनन्तर-प्रयोजन है ।

जबकि "परम्पर-प्रयोजन है ध्यान द्वारा समस्त कर्मों का क्षय कर मोक्ष-पद प्राप्त करना"।

श्रोता एवं पाठक प्रस्तुत ग्रन्थ के सतत् अध्ययन, मनन, चिन्तन, एवं निदिध्यासन के द्वारा ध्यान-सम्बन्धी परिपूर्ण ज्ञान आत्मसात् करके धर्म-ध्यान एवं शुक्ल-ध्यान के उत्तरोत्तर प्रकर्ष द्वारा स्वात्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करें यह परम्पर-प्रयोजन है ।

सम्बन्ध – प्रस्तुत ग्रन्थ का पूर्वाचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों के साथ जो सम्बन्ध है वह इस ग्रन्थ में वर्णित ध्यान आदि सम्बन्धी वर्णनों का ध्यान-विषयक अन्य ग्रन्थों में कहाँ-कहाँ किस प्रकार से निर्देश हुआ है, आदि बातों पर विचार करने से स्पष्ट होगा और इस महान् ग्रन्थ की प्राचीनता, उपादेयता एवं प्रमाणभूतता का वास्तविक ज्ञान हो जाने से उसके प्रति अपूर्व श्रद्धा एवं आन्तरिक सम्मान में वृद्धि होगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना में आधारभूत "सुन्न-कल-जोई-बिन्दू" आदि प्राकृत भाषाबद्ध जो चार गाथाएँ (श्लोक) हैं वे वर्तमान काल में अलभ्य "ध्यान-विभक्ति" जैसे किसी आगम ग्रन्थ में से उद्धृत प्रतीत होती हैं । ग्रन्थकार महर्षि ने "उक्तं च" कहकर, उसकी साक्षी देकर प्रस्तुत ग्रन्थ का

*** श्रुतमिति श्रुतज्ञानं, तच्च नन्द्यन्तःपातित्वात् मंगलम् ।**

–*आचारांग सूत्र,* अध्याय १, पत्र १, शीलांक टीका

पूर्वाचार्यों द्वारा रचित अन्य ग्रन्थों के साथ सम्बन्ध सूचित किया है ।''सुन्न-कल-जोई-बिन्दु'' गाथा में निर्दिष्ट ध्यान-भेदों का उल्लेख ''अरिहाण थुत्तं'' में भी दृष्टिगोचर होता है ।

इस स्तोत्रगत ''नमस्कार चक्र'' की उद्धारविधि के प्रणेता दस पूर्वधर श्री भद्रगुप्त स्वामी महाराज हैं, जिससे यह ''अरिहाण थुत्तं'' उससे भी प्राचीन होने के साथ किसी पूर्वधर महर्षि की कृति प्रतीत होती है । इस स्तोत्र के तैंतीसवें श्लोक में नमस्कार महामन्त्र को परममन्त्र, परमरहस्य, परात्परं तत्वं, परमज्ञान, परमज्ञेय, शुक्ल ध्यान एवं सर्वोत्तम ध्येय के रूप में वर्णित किया है, जिससे ''ध्यान एवं परमध्यान'' इन दो ध्यान-भेदों का स्पष्ट निर्देश दृष्टिगोचर होता है । चौंतीसवीं गाथा में शेष बाईस ध्यान-प्रकारों में ''ज्योति'' आदि का स्पष्ट नामोल्लेख है और कतिपय सारगर्भित रूप में सूचित हुए हैं जो इस स्तोत्र के अध्ययन से समझा जा सकता है ।*

इस ग्रन्थ के शास्त्र-सम्मत होने की विशेष प्रतीति इसमें दी गई अनेक जिनागमों की एवं प्रकरण-ग्रन्थों की साक्षीभूत गाथाओं से भी होती है ।

श्री आवश्यक सूत्र निर्युक्ति, दशवैकालिक निर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य, श्री प्रज्ञापना सूत्र, बृहत् कल्पसूत्र वृत्ति, ध्यान-शतक, कर्म-प्रकृति आदि अनेक ग्रन्थों की अनेक साक्षी गाथाएँ इस ग्रन्थ में दृष्टि-गोचर होती हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की शास्त्रीयता के साथ इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें ध्यान की परिभाषा, व्याख्या एवं भेदों-उपभेदों का जो विस्तृत वर्णन किया गया है वह वर्तमान समय में उपलब्ध ध्यान-विषयक अन्य ग्रन्थों में प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होता ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वप्रथम ध्यान आदि २४ प्रकार बताये गए हैं, जिन्हें तत्पश्चात् ९६ प्रकार के करणों से गुणा कर २३०४ ध्यान भेद स्थापित किए गए हैं ।

उन्हें ९६ करणयोगों से गुणा करने पर २२११८४ भेद होते हैं तथा ९६ भवन योगों से भी २२११८४ भेद होते हैं इस प्रकार दोनों मिलकर ध्यान के कुल ४४२३६८ भेद होते हैं अतः यह ध्यान का अद्वितीय-अपूर्व ग्रन्थ सर्वज्ञकथित शास्त्र रूप है ।

''झाणाई'' पद का रहस्यार्थ

''सुन्न-कल०'' पूर्वाचार्य-प्रणीत इस साक्षीभूत गाथा में ध्यान के २४ भेदों का जो उल्लेख किया

---

* **ऐसा परमो मंतो परमरहस्सं परंपरं तत्तं ।**
नाणं परमं नेयं, सुद्धं झाणं परं झेयं । ३६ ।
एयं कवयममेयं खाइयमत्थं परा भवणरक्खा ।
जोई सुन्नं बिंदु नाओ तारा लवो मत्ता । ३४ ।

''नमस्कार स्वाध्याय'' - प्राकृत विभाग, पृष्ठ २०५-२०६

गया है उसमें ''झाणाई'' पद का सामान्य अर्थ ''ध्यान है आदि में जिसके'' प्रतीत होता है परन्तु अधिक गहराई से सोचने पर यह स्पष्ट होता है कि प्रथम भेद रूप ''ध्यान'' समस्त ध्यानों का मूल आधार है। समस्त ध्यानों में आदि, प्रथम, मुख्य है ।

शून्य आदि किसी भी ध्यान-मार्ग की वास्तविक साधना एवं सिद्धि, प्रथम भेद रूप 'ध्यान' की साधना और सिद्धि की अपेक्षा रखती है तथा प्रथम भेद रूप ध्यान की साधना एवं सिद्धि यह चिंता (चिंतन) एवं भावना की अर्थात् श्रुतज्ञान एवं पंचाचार के पालन की अपेक्षा रखती है ।

इसी ग्रन्थ में आगे चलकर सात प्रकार की चिन्ता एवं चार प्रकार की भावनाओं के स्वरूप का वर्णन किया गया है, जिसमें चिन्ता के द्वारा श्रुतज्ञान की ओर भावना के द्वारा पंचाचार-पालन की अनिवार्यता स्पष्ट की गई है । जीवन में इन पर निरन्तर आचरण करने वाला साधक धर्म-ध्यान में उत्तरोत्तर उन्नति कर सकता है । इनके बिना धर्म-ध्यान की साधना एवं सिद्धि असम्भव है । इस गूढ़ तत्त्व का मार्मिक निर्देश भी ''झाणाई'' पद से ध्वनित होता है।

ध्यान के चार प्रकारों में आज्ञा-विचय को जो प्रथम स्थान प्रदान किया गया है, उससे यह प्रतीत होता है कि यह समस्त प्रकार के ध्यान मार्गों, ध्यान की पद्धतियों अथवा प्रणालियों की प्रमुख और सुदृढ़ नींव श्री जिनाज्ञा है। उस आज्ञा का उल्लंघन करने वाला स्वतः ही मोक्ष-मार्ग से बाहर हो जाता है।

आत्म-विकास-लक्षी किसी भी प्रकार के धर्म-ध्यान का मूल यहाँ वर्णित प्रथम भेद रूप ''ध्यान'' है। ''झाणाई'' पद में निहित आदि शब्द यही सूचित करता है।

१. ध्यान की परिभाषा

मूल पाठ – तत्र ध्यानं चिन्ता-भावनापूर्वकः स्थिरोऽध्यवसायः।

अर्थ – चौबीस ध्यानों में चिन्ता (चिन्तन) एवं भावना से उत्पन्न स्थिर अध्यवसाय ध्यान है।*

विवेचन – आत्मा के जो अध्यवसाय ''स्थिर'' अर्थात् अवस्थित होते हैं वे ''ध्यान'' कहलाते हैं और जो अध्यवसाय ''चल'' अर्थात् अनवस्थित होते हैं वे चिन्ता, अथवा चिन्तन कहलाते हैं।

श्री जिनागमों में एवं योग-सम्बन्धी प्रकरण ग्रन्थों में ध्यान के सम्बन्ध में विविध परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं। लेकिन उन समस्त परिभाषाओं-व्याख्याओं का सार है चित्त की स्थिरता-एकाग्रता सिद्ध करना और परमात्म स्वरूप में चित्त का लय करना।

---

* तुलना करें – एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। अग्रम-आलम्बनम् एकं च तदग्रं चेत्येकाग्रं एकालम्बननित्यर्थः। एकस्मिन्नालम्बने चिन्तानिरोधः। चलं चित्तमेव चिन्ता, तन्निरोधस्तस्यैकत्रावस्थापनमित्यर्थः।
–''*तत्त्वार्थ सूत्र*''–श्री सिद्धसेन गणि, टीका, सूत्र ९-२७

''लय'' करने से तात्पर्य है कि जिस प्रकार दूध में शक्कर घुल जाती है, उस प्रकार शुद्ध-आत्मस्वभाव में चित्त को सर्वथा विलीन कर देना, घोल देना।

इस आध्यात्मिक प्रक्रिया का प्रारम्भ विकल्प रूप चित्त को सर्वप्रथम अशुभ में से शुभ की ओर मोड़ने से होता है।

शुभ विकल्पों में चित्त को रममाण किये बिना अशुभ विकल्प लुप्त नहीं होते।

शुभ विकल्पों के लिए चित्त को शुभ आलम्बनों में स्थिर करने का निरन्तर अभ्यास करना पड़ता है।

इस ध्यानाभ्यास की भूमिका में साधक को क्या करना चाहिए, उसका निर्देश स्वयं ग्रन्थकार यहाँ वर्णित ध्यान की व्याख्या में करते हैं :

तत्त्वचिन्ता आदि सात प्रकार की चिन्ता और ज्ञान भावना आदि चार प्रकार की भावना को जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिये निष्ठापूर्वक सतत प्रयत्नशील रहना ही सच्चा ध्यानाभ्यास है, ध्यान की पूर्व भूमिका है।

जिस प्रकार बिना नींव का भवन हवा के एक ही झोंके में धराशायी हो जाता है, उसी प्रकार से चिन्ता एवं भावना के निरन्तर सेवन-रहित ध्यान अशुभ निमित्ति के एक ही झटके से छिन्न-भिन्न हो जाता है।

चिन्ता और भावना के निरन्तर सेवन से मन, वचन, काया के योग निर्मल होकर आज्ञाभिमुख हो जाते हैं और इसके बाद ही ''ध्यान योग'' की साधना के लिए पात्रता उत्पन्न होती है।

जीवन के समस्त क्षेत्रों में जब पात्रता आधारभूत वस्तु मानी जाती है तो समस्त कर्म-विनाशक ध्यान के सम्बन्ध में तो उसकी अत्यन्त आवश्यकता निर्विवाद है।

चंचल चित्त के प्रकार

चंचल चित्त के मुख्य तीन प्रकार हैं – १. भावना, २. अनुप्रेक्षा, ३. चिन्ता।*

१. भावना – भावना अर्थात् ध्यान के लिए अभ्यास की क्रिया, जिससे मन भावित होता है।

भस्मों एवं रसायनों आदि को भावित करने के लिए विभिन्न वनस्पतियों के रसों की भावना दी जाती है। जिस प्रकार कस्तूरी की डिबिया में रात्रि में डाला हुआ दातौन प्रातः कस्तूरी से सुवासित

---

* **जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं, जं चलं तयं चित्तं।**
तं होज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिन्ता॥
अर्थ – जो स्थिर अध्यवसाय है सो ध्यान है जो चंचल अध्यवसाय है सो चित्त है। यह चित्त भावना रूप होता है, अनुप्रेक्षा स्वरूप होता है अथवा चिन्ता स्वरूप होता है। –*ध्यानशतक* गाथा-२

हो जाता है, उसी प्रकार मन को बार-बार ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि भावनाओं का पुट देने से अनित्यत्व आदि बारह भावनाओं तथा मैत्री आदि चार भावनाओं के द्वारा पुनः-पुनः सुसंस्कारित करने से वह पवित्र एवं शान्त बनकर ध्येय स्वरूप परमात्मा के ध्यान में एकाकार हो सकता है।

ये भावनाएँ संवर स्वरूप हैं, अशुभ कर्मों को आत्मा में प्रविष्ट होने से रोकने वाली हैं, और मन को शुभ के प्रति प्रवृत्त कर शुद्ध में ले जाने वाली हैं। शास्त्रकार भगवानों का कथन है कि[१] ये ज्ञान आदि, अनित्यत्व आदि अथवा मैत्री आदि भावनाएँ चित्त को ध्यान में जोड़ने के लिए कारणभूत बनती हैं।

शुभ भावनाओं को ''भव-नाशिनी'' कहकर शास्त्रकार भगवानों ने उनके सामर्थ्य की यथार्थ महिमा प्रदर्शित की है।

२. अनुप्रेक्षा – अनुप्रेक्षा अर्थात् बाद में विचार करना। जिन तत्त्वों का विधिपूर्वक, सम्मानपूर्वक अध्ययन अथवा ध्यान किया हो उनका स्मरण करके तदनुरूप जो चिन्तन-मनन किया जाता है उसे अनुप्रेक्षा कहते हैं।

ध्यान अन्तर्मुहूर्त से अधिक स्थिर नहीं रहता। अन्तर्मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट के भीतर का काल, इतना काल व्यतीत होने के पश्चात् मन ध्यान से चलित होता है। उस समय मन को तत्त्व-स्मरण में लगाने को अनुप्रेक्षा कहते हैं जिससे मन पुनः ध्यान में जुड़ने से पूर्व अन्य विचारों में नहीं भटकता बल्कि ध्यान के अनुरूप विचारों में रमता रहता है।

मन को संसार आदि की अनित्यता, अशरणता, विचित्रता आदि के चिन्तन में लगाना भी एक प्रकार की अनुप्रेक्षा है।

इन समस्त प्रकार की अनुप्रेक्षाओं के द्वारा स्थिर एवं शान्त बना मन पुनः ध्यान-साधना में सरलता से जुड़ सकता है।

३. चिन्ता – चिन्ता अर्थात् भावना और अनुप्रेक्षा रहित मन की अवस्था, अथवा ध्यान से पूर्व विचलित चित्त से होने वाला जीव आदि तत्त्वों को अथवा जिनाज्ञा की अचिन्त्य महिमा आदि का चिन्तन।

तत्त्व-चिन्ता, परमतत्त्वचिन्ता आदि जो विशिष्ट प्रकार की चिन्ताएँ प्रस्तुत ग्रन्थ में आगे जाकर स्पष्ट

---

१. **सद्धर्मध्यानसंधानहेतवः श्री जिनेश्वरैः।**
मैत्रीप्रभृतयः प्रोक्ताश्चतस्रो भावनाः पराः॥
श्रेष्ठ धर्म ध्यान को जोड़ने के लिए श्री जिनेश्वर भगवान ने मैत्री चार प्रधान भावनाएँ बताई हैं।
–*शान्त सुधारस*, प्र० १३ श्लोक १

की गई हैं जिनके द्वारा साधक को राग-द्वेष की दुर्भावना क्षीण करनी है ताकि वह वीतराग जिनेश्वर-प्ररूपित परम मंगलकारी धर्म-ध्यान की योग्यता प्राप्त कर सके।

भावना, अनुप्रेक्षा एवं चिन्ता के इस स्वरूप को गुरू-गम द्वारा अधिक अच्छी तरह समझकर, उसे स्वीकार करके ध्यान रहित काल में मन को उनके द्वारा पुनः-पुनः भावित करना वांछनीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित २४ ध्यान-प्रकार छद्मस्थ अवस्था में सम्भावित ध्यान के प्रकार हैं।

मन की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान है। अन्तर्मुहूर्त काल तक एक वस्तु में चित्त का अवस्थान ही छद्मस्थ जीव का ध्यान है।

केवली भगवन्तों को योग-निरोधरूप ध्यान होता है। चित्त का निरोध होने से उन्हें चित्त अवस्थान रूप ध्यान नहीं होता। (मन, वचन और काया के निमित्त होने वाले कर्म-बन्ध रोकने के लिये योग-निरोध किया जाता है। अन्तर्मुहूर्त की इस क्रिया के पश्चात् केवली भगवान अयोगी बनते हैं।)

ध्यान के अधिकारी

''ध्यान-विचार'' ग्रन्थ के रचयिता महर्षि ने ''चिन्ता-भावना पूर्वकः स्थिरोऽध्यवसायः''।—ध्यान की इस व्याख्या में ध्यान के अधिकारी के सम्बन्ध में गर्भित रीति से निर्देश दिया है, उस पर मनन करें।

सात प्रकार की चिन्ता श्रुतज्ञान स्वरूप हैं, चार प्रकार की ज्ञानादि भावना पंचाचार के आसेवन स्वरूप हैं।

ध्यान के पूर्वाभ्यास के लिए इन दोनों की अनिवार्यता सिद्ध कर ग्रन्थकार महर्षि ने स्पष्ट किया है कि जो मुमुक्षु श्रुतज्ञान का अभ्यासी और पंचाचारों का पालक होता है वही ध्यान का मुख्य अधिकारी है। अन्य सम्यग् दृष्टि तथा मार्गानुसारी जीवों में बीज के रूप में ध्यान की योग्यता हो सकती है।[१]

---

१. **देसे सव्वे य तहा, नियमेणेसो चरित्तिणो होइ।**
इयरस्स बीयमित्तं, इत्तु च्चिय केइ इच्छंति ॥ ३॥

–*योगविंशिक*, गाथा ३

कर्मयोगद्वयं तत्र ज्ञानयोगत्रयं विदुः।
विरतेष्वेव नियमाद् बीजमात्रं परेष्वपि॥

–''*ज्ञानसार*'' अ० ३ श्लोक-२

यह स्थान आदि रूप योग निश्चय ही चारित्रवान को होता है, अन्य सम्यग् दृष्टि आदि जीवों को ये योग बीज रूप में होते हैं—इस बात को कई आचार्य मानते हैं।

व्यवहार, नय-योग-बीज में भी योग का उपचार करता है, जिससे व्यवहारनय से अपुनर्बन्धकादि जीव भी योग के[१] अधिकारी हैं—पूज्य आचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने अपने यौगिक ग्रन्थों में यह बात साफ तौर से कही है। पूज्य, महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने अपने "अध्यात्मसार" ग्रन्थ में ध्याता का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

जो व्यक्ति मन एवं इन्द्रियों पर विजयी होकर निर्विकार बुद्धि वाला होता है और फलतः जो शान्त-दान्त बन सके वह धर्म-ध्यान का ध्याता है।[२]

"**योगबिन्दु**" नामक ग्रन्थ में पूज्य आचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने ध्यान योग से पूर्व अध्यात्मयोग एवं भावना-योग के सतत् अभ्यास को आवश्यक माना है।

इनमें अध्यात्म-योग तत्त्व-चिन्तन-स्वरूप होने से चिन्तात्मक है और भावना-योग ज्ञानादि गुणों का अभ्यास स्वरूप होने से भावनात्मक है।

इस प्रकार ध्यान से पूर्व प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित "चिन्ता" और "भावना" तथा "योगबिन्दु" में निर्दिष्ट अध्यात्म-योग और भावना-योग ये दोनों अर्थतः एक हैं। अतः जिसके जीवन में चिन्ता-भावना अर्थात् अध्यात्म-योग और भावना-योग गुम्फित हो वह ध्यान का वास्तविक अधिकारी है।

अध्यात्म योग क्या है?

जिसका प्रत्येक आचरण औचित्ययुक्त हो, जिसके जीवन में पाँच अणुव्रत अथवा पाँच महाव्रत गुम्फित हों, जिसका मन सर्वज्ञ-कथित जीव आदि तत्त्वों के चिन्तन-मनन में लगा हो और इन सबके

---

१. "ध्यान" एवं "योग" शब्द समानार्थक भी हैं।
योगाभ्यासः—**योगस्य-योगाङ्ग रूपस्य ध्यानस्य वा अभ्यासो योगः।**
–*षोडशक-वृत्ति*

योगो ध्यानं समाधिश्च, धीरोधः स्वान्तः-निग्रहः।
अन्तःसंलीनता चेति, तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः॥
–*महापुराण*, पर्व-२१, श्लोक १२

योग, ध्यान, समाधि, धीरोध (बुद्धि की चंचलता का रोध) स्वान्त निग्रह (मन को वश में करना) और अन्तः सलीनता (आत्मस्वरूप में लीनता) आदि ध्यान के पर्यायवाची शब्द हैं यह विद्वानों का कथन है।

२. **मनसश्चेन्द्रियाणां च, जयाद् यो निर्विकारधीः**
धर्मध्यानस्य स ध्याता, शान्तो दान्तः प्रकीर्तितः॥
–*अध्यात्मसार* "ध्यानाधिकारः", श्लोक ६२

मूल में मैत्री आदि भाव विद्यमान हों, वह यथार्थ अध्यात्म-योग कहलाता है।[१]

भावनायोग क्या है?

मन को स्वस्थ रखकर उपरोक्त औचित्य-सेवन, व्रत-पालन और मैत्री आदि प्रधान जीव तत्त्वों का प्रतिदिन चिन्तन-मनन करना भावना-योग है।[२]

उसी तरह स्वरचित "**योग विंशिका**" एवं उसकी वृत्ति में भी पूज्य आचार्य श्री हरिभद्रसूरिश्वरजी महाराज और पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने देव-सेवा, प्रभु-नाम-स्मरण, आवश्यक क्रिया, तत्त्व-चिन्तन तथा मैत्री आदि भावों के सेवन का अध्यात्म योग में समावेश किया है। इससे स्पष्ट है कि ध्यान की पूर्व भूमिका में देव-सेवा आदि कृत्यों का होना आवश्यक है जिनसे ध्यान की पात्रता स्वतः विकसित होती है।

ध्यान के प्रकार

अब हम पूर्व वर्णित ध्यान के २४ भेदों में से प्रथम भेद ध्यान, उसके स्वरूप और उसके उपभेदों पर विचार करेंगे।

मूलपाठ – द्रव्यतश्चार्त-रौद्रे।

अर्थ – ध्यान के दो मुख्य प्रकार हैं— १. द्रव्य ध्यान और २. भाव ध्यान।

द्रव्य से ध्यान- (१) आर्तध्यान, (२) रौद्र ध्यान।

(ये दोनों ध्यान अशुभ हैं इनमें समस्त अशुभ ध्यानों का समावेश होता है अतः ये त्याज्य हैं।)

विवेचन – शुभ ध्यान का स्वरूप स्पष्ट करने से पूर्व अशुभ ध्यान की बात प्रस्तुत करने के पीछे प्रयोजन यह है कि अशुभ ध्यान एवं उसके कारणों को दूर किये बिना शुभ ध्यान का प्रारम्भ नहीं हो सकता।

---

१. **औचित्याद्-व्रतयुक्तस्य वचनात्तत्वचिन्तनम्।**
मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः॥
उचित प्रवृत्ति एवं व्रत से युक्त साधक का मैत्री आदि भाव-प्रधान जिनागमानुसारी जो तत्त्व-चिन्तन होता है उसे अध्यात्मविद पुरुष "अध्यात्म-योग" कहते हैं।

–"*योगबिन्दुः*" श्लोक ३५८

२. **अभ्यासोऽस्यैव विज्ञेयः प्रत्यहं वृद्धिसंगतः।**
मनः समाधिसंयुक्तः पौनः पुन्येन भावना॥
मन की समाधि पूर्वक प्रतिदिन वृद्धि प्राप्त करने वाला अध्यात्मयोग का पुनः-पुनः अभ्यास ही "भावना-योग" है।

–"*योगबिन्दुः*" श्लोक ३६०

जिस प्रकार वस्त्र की मलिनता दूर किये बिना उस पर नया रंग अच्छी तरह नहीं चढ़ता, उसी प्रकार से मन की मलिनता (अशुद्धि) दूर किये बिना उस पर शुभ ध्यान का रंग नहीं चढ़ता।

जल की भाँति मन का कोई रंग नहीं है। जिस प्रकार जल में जैसा रंग डालते हैं वह वैसा ही बन जाता है उसी प्रकार मन को जैसे शुभ अथवा अशुभ निमित्त प्राप्त होते हैं वह वैसा शुभ अथवा अशुभ चिन्तन पकड़ लेता है।

अशुभ चिन्तन एवं अशुभ भावना अशुभ ध्यान की उत्पत्तिकारक है।

जिस प्रकार शुभ ध्यान की स्थिति के लिए शुभ चिन्तन और शुभ भाव-मूलक प्रवृत्तियाँ आवश्यक हैं उसी प्रकार अशुभ ध्यान दूर करने के लिए उसके कारण रूप अशुभ चिन्ताओं, अशुभ भावनाओं, हिंसा आदि प्रवृत्तियों, मन-वचन-देह के अशुभ व्यापारों को भी छोड़ना अनिवार्य है।

जिस प्रकार मनुष्य अपने स्वच्छ वस्त्रों को काले दाग से बचाने के लिए बहुत सावधानी बरतता है, उसी प्रकार धर्माराधक को अपने मन को अशुभ भाव के काले दाग से बचाने के लिए पर्याप्त सावधानी बरतनी चाहिए। वस्त्र पर दाग लगने से जो हानि होती है उसकी तुलना में मन पर लगने वाले दाग से अनन्तगुनी हानि होती है। तत्त्व-चिन्तक के लिए यह परमावश्यक है कि उस तत्त्व का सदैव स्मरण रखे।

आर्त्तध्यान

आर्त्तध्यान अर्थात् दु:ख में अथवा दु:ख के निमित्त से होने वाला ध्यान। जब जीव आधि, व्याधि अथवा उपाधि स्वरूप किसी दु:खद स्थिति में पड़ता है तब उसे "मेरा कष्ट शीघ्र दूर हो, मुझे सुख प्राप्त हो", ऐसी जो सतत् चिन्ता होती है अपने दु:ख के प्रति अत्यन्त द्वेष एवं घृणा होती है, वही आर्त्तध्यान है। यह ध्यान सांसारिक दु:ख के कारण उत्पन्न होता है और पुन: दु:ख का अनुबन्ध कराता है।

आर्त्तध्यान के चार प्रकार —

१. अनिष्ट संयोग जनित, २. इष्ट वियोग जनित,

३. व्याधि वेदना जनित, ४. निदान चिन्तन रूप।

१. अनिष्ट संयोग-जनित आर्त्तध्यान – इस अशुभ ध्यान के मूल में मुख्य अध्यवसाय यह है कि अन्य समस्त मनुष्यों का कुछ भी हो, परन्तु मेरा दु:ख नष्ट हो, मुझे सुख प्राप्त हो।

अपने शरीर स्वजन आदि के लिए बाधक बनने वाले अग्नि, जल, हिंसक पशु, चोर डाकू आदि मनुष्य, प्रतिकूल राज्य अथवा शत्रु आदि का कदापि योग न हो, उनका सदा वियोग रहे तो अच्छा—इस प्रकार निरन्तर सोचना अनिष्ट संयोग-जनित आर्त्त ध्यान है।

२. इष्ट वियोग-जनित आर्त्त ध्यान – ऐश्वर्य, स्त्री, परिवार, मित्र, यश, सौभाग्य तथा भोग आदि की सामग्री का नाश होने से चित्त को प्रीतिदायक विषय-सुखों का अभाव होने से व्यक्ति को जो शोक, चिन्ता, खेद होता है वह "इष्ट वियोग-जनित आर्त्तध्यान" कहलाता है।

३. व्याधि वेदना-जनित आर्त्त ध्यान – सर्वज्ञ परमात्मा का कथन है कि मानव-देह में साढ़े तीन करोड़ रोम-कूप हैं। प्रत्येक रोम में पौने दो रोग विद्यमान हैं, परन्तु दैव-गुरू की आज्ञा में चलने वाले जीवों पर उक्त रोगों के आक्रमण कम सताते हैं। फिर भी अशातावेदनीय कर्म के उदय से देह में शूल, भगन्दर, कैन्सर, ज्वर, क्षय आदि रोग उत्पन्न होने पर उनकी पीड़ा से सन्तप्त होकर, परेशान एवं निराश होकर "अब यह रोग मेरा पीछा छोड़ दे तो अच्छा है" इस प्रकार के विचार में मन को लगाये रखना आर्त्तध्यान का ही एक प्रकार है, क्योंकि इस ध्यान के विषय के रूप में केवल नश्वर देह ही होती है जिसका स्वभाव नष्ट होना ही है। शास्त्रों में ऐसी देह की दासता से मुक्ति कराने के लिए भगवान का दास बनने का विधान है।

४. निदान चिन्तन रूप आर्त्तध्यान – कोई भी पुण्य-कार्य अथवा धार्मिक अनुष्ठान करते समय या करने के पश्चात् मोह, अज्ञान एवं मिथ्यात्व के वशीभूत होकर स्वर्गीय सुख, राज्य, सम्पत्ति, विषय-सुख तथा पूजा-प्रतिष्ठा की कामना करना ये सब मुझे प्राप्त हो ऐसा दृढ़ संकल्प करना "निदान चिन्तन रूप आर्त्त ध्यान" है।

आर्त्तध्यान के लक्षण – क्रन्दन, शोक ताड़न, विलाप, भौतिक सुखों की तीव्र आकांक्षा, असन्तोष, ईर्ष्या, धर्म-विमुखता, प्रगाढ़ बहिर्मुखता, अति आहार, निद्रा-रूचि, जिनागम निरपेक्ष वृत्ति आदि आर्त्तध्यान के लक्षण हैं।

इस प्रकार केवल अपने ही सुख-दुःख की निरन्तर चिन्ता करते रहना अथवा विषय-सुख का प्रगाढ़ राग एवं दुःख का तीव्र द्वेष करना आर्त्तध्यान है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिससे आत्म-रति में कमी हो और पौद्गलिक आसक्ति में वृद्धि हो ऐसे कारणों एवं तज्जनित कार्यों में आकंठ डूबे रहना आर्त्तध्यान है।

इस आर्त्तध्यान में कृष्ण, नील एवं कापोत लेश्या होती है और वह छठे गुण स्थानक तक के जीवों को हो सकता है।

रौद्र ध्यान

रौद्र ध्यान अर्थात् भयंकर ध्यान, जिसमें हिंसा आदि करने का अत्यन्त क्रूर अध्यवसाय होता है। इस ध्यान की उबलते हुए सीसे के (रस) संश्लेषण से उपमा दी गई है।

रौद्र ध्यान चार प्रकार का होता है—१. हिंसानुबंधी, २. मृषानुबंधी, ३. चौर्यानुबंधी, ४. संरक्षणानुबंधी।

रौद्र ध्यान के चार प्रकार

१. हिंसानुबंधी रौद्रध्यान – हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान अर्थात् हिंसा के अनुबन्ध युक्त अत्यन्त भयानक ध्यान, जिसमें निर्दयतापूर्वक जीवों को भयानक रूप से त्रस्त करके, उनका संहार करने का अत्यन्त भयंकर विचार मन पर प्रभुत्व रखता है।

हिंसा किस प्रकार की जाए, उसके लिऐ क्या-क्या साधन हैं, उन साधनों का किस प्रकार उपयोग किया जाए आदि हिंसा से सम्बन्धित एकाग्रतापूर्वक होने वाने विचार हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान हैं। जीव एक ऐसा महिमामय एवं अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न द्रव्य है कि उसे तनिक दुख पहुँचाना भी हिंसा कहलाती है, तो फिर उसका संहार करने के विचार में रत होना तथा तदनुरूप क्रूर एवं हिंसक व्यवहार करना यह घोर हिंसा-स्वरूप, रौद्र ध्यान-पोषक विचार-व्यवहार माना जाता है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

२. मृषानुबंधी रौद्र ध्यान – असत्य किस प्रकार बोला जाए, किस प्रकार असत्य बोलकर दूसरों को धोखा दिया जाए, किस प्रकार असत्य बोलकर छूट जाए इत्यादि संकल्पपूर्वक छल-कपट करके दूसरों को सन्तप्त करने के लिऐ एकाग्रतापूर्वक असत्य का चिन्तन करना मृषानुबंधी रौद्र ध्यान है।

३. चौर्यानुबंधी रौद्र ध्यान – उत्कट लोभ के वशीभूत होकर परायी वस्तु की चोरी करने के लिए चोरी कैसे की जाए, चोरी करने पर भी किस प्रकार पकड़े न जाएँ, चोरी करने के लिये साधन क्या-क्या हैं, वे किस प्रकार हो सकते हैं आदि चोरी के सम्बन्ध में एकाग्रचित्त से चिन्तन करना चौर्यानुबंधी रौद्र ध्यान कहलाता है।

४. संरक्षणानुबंधी रौद्र ध्यान – जो वस्तु स्वयं के लिए सुखद है, पाँच इन्द्रियों के विषयों की पोषक है, उनके संरक्षण के लिए एकाग्रतापूर्वक होने वाले विचार तथा उनके संरक्षण के लिए न करने योग्य पाप-कृत्य करना, कराना और करने वालों को प्रोत्साहन देना आदि विषय संरक्षणानुबंधी रौद्र ध्यान कहलाता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिंसा आदि चारों पाप-कार्य करने में और करने के पश्चात् उल्लसित होकर प्रसन्न होना रौद्र ध्यान है, जिसे क्रमशः हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और सरंक्षणानन्द (परिग्रहानन्द) के नामों से भी पहचाना जाता है।[१] यह रौद्रध्यान प्रथम से पाँचवे गुणस्थानक तक हो सकता है।

रौद्र ध्यान के समय जीव को अत्यन्त संक्लिष्ट (स्व-क्लेशकारी) कृष्ण, लील अथवा कापोत लेश्या होती है।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र (९-३७) –श्री सिद्धसेन गणि-टीका।
"हिंसानन्द-मृषानन्द-स्तेयानन्द संरक्षणात्मकम्।"
–*महापुराण*, पर्व-२१, गाथा-४३

इस ध्यान में जीव यदि देह का त्याग करे तो नरक में जाता है।

रौद्र ध्यान के लक्षण

(१) उसण्ण दोष—निरन्तर हिंसा, असत्य, चोरी आदि दुष्कर्म करना ।

(२) बहुदोष—हिंसा आदि समस्त पापों में निरन्तर प्रवृत्त होना ।

(३) अज्ञान दोष—अज्ञान से, कुशास्त्रों के संस्कार से, हिंसा आदि पाप-कार्यों में धर्म-बुद्धि से प्रवृत्त होना ।

(४) आवरणान्त दोष—जीवन के अन्त तक तनिक भी पश्चाताप किये बिना कालसौकर आदि की तरह हिंसा आदि पापों का आचरण करना ।

कालसौकर नामक कसाई जिसने जीवन भर नित्य ५०० पाडों (भैंसा) की हत्या की, अन्त में हिंसा के क्रूर रौद्र परिणामों में ही मरकर वह रौरव दुःखमय नारकी में उत्पन्न हुआ ।

इन अत्यन्त भयानक परिणामों से बचने के लिए मन को देव-गुरु की भक्ति में अधिकाधिक लगाना चाहिए।

शुभ ध्यान का प्रारम्भ

जीव को अनादि काल से उक्त आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान का अभ्यास है। अतः जीव को इस ध्यान की कला सहज साध्य है। अत्यन्त दुःखप्रद, भव-परम्परा-वर्धक इन दोनों अशुभ ध्यानों से समग्र चित्त को सर्वथा मुक्त करने के लिये दृढ़संकल्प, प्रबल धर्म-पुरुषार्थ एवं सतत् जागृति की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है।

ऐसे संकल्प, पुरुषार्थ और जागृति के लिये देव-गुरु की नित्य-भक्ति भी अनिवार्य है।

देव परम शुद्धिवान है, गुरु उक्त शुद्धि की साधना में अप्रमत्तता से प्रयत्नशील है अतः उनकी सेवा-भक्ति से मन में अशुभ ध्यान के बल का नाशक शुभ ध्यान प्रकट होता है।

अशुभ विचार, उनका सेवन और ध्यान एक ऐसा भाव-रोग है जिसका निवारण श्री अरिहन्त भगवान को त्रिविध भजने से ही सम्भव है।

जिस प्रकार अमावस की रात्रि का अन्धकार सूर्योदय होने पर अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार मन के गगन में विश्व-दिवाकर श्री अरिहन्त भगवान के प्रविष्ट होते ही तत्र-स्थित भावान्धकार जो मुख्यतः राग-द्वेषात्मक होता है नियमतः पलायन हो जाता है और वहां धर्म-ध्यान का मंगल प्रभात उदित हो जाता है। आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान द्रव्य ध्यान हैं क्योंकि वे भव-भ्रमण के हेतु रूप हैं।

धर्मध्यान भाव-ध्यान है क्योंकि वह भव-परम्परा का समूल नाश कर अक्षय सुख प्रदान करता है।

धर्मध्यान में आत्म तत्त्व के शुद्ध स्वभाव का ध्यान प्रमुख है। उक्त ध्यान की भूमिका प्राप्त करने के लिए जिनोक्त अनुष्ठानों, व्रतो-नियमों आदि का त्रिविध रूप से उच्च परिणाम के साथ नियमित सेवन करना पड़ता है अतः ये भी धर्म-ध्यान के ही अंग गिने जाते हैं।

भावध्यान के मुख्य चार प्रकार

मूलपाठ – भावतस्तु आज्ञाऽपाय-विपाक-संस्थानविचयभिदं धर्म-ध्यानम् ॥

अर्थ – आज्ञाविचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और संस्थान विचय—यह चार प्रकार का धर्म ध्यान भाव से ध्यान है।

विवेचन – इस सूत्र में भाव-ध्यान के मुख्य चार प्रकारों का स्पष्ट निर्देश है।

ध्यान मार्ग में उत्तरोत्तर प्रगति एवं विकास के दृढ़ अभिलाषी साधक को सर्वप्रथम अधिकारी महापुरुष से ध्यान की पूर्व भूमिका स्वरूप चिन्ता-भावना आदि का स्पष्ट मार्ग-दर्शन प्राप्त कर पूर्वाभ्यास करने का प्रयत्न करना चाहिए।

ध्यान योग्य चिन्ता-भावना एवं स्थान

शुभध्यान को मन में स्थिर करने के लिए शास्त्र सापेक्ष जीव आदि तत्त्वों का चिन्तन ज्ञान-दर्शन-चरित्र एवं वैराग्य भावना का अभ्यास आवश्यक है।

मन को सदा शुभ भावना के मानसरोवर में स्नान कराना चाहिए। नित्य प्रति इस अभ्यास के फलस्वरूप मन दुर्ध्यान के धूरे पर जाने से रुकता है यह अनुभूत तथ्य है।

जिस प्रकार सुई में धागा पिरोने के लिए उसके अग्रभाग को नुकीला बनाना पड़ता है, उसी प्रकार जब चंचल मन स्थिर हो जाता है तब ही वह सत् तत्त्व के ध्यान में पिरोया जाता है।

मन की चंचलता और मलिनता दूर करने के लिए उसे सदा सचेत रहकर सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चरित्र रूपी त्रिवेणी में स्नान कराना पड़ता है।

मन की यह विशेषता है कि हम उस पर जिस प्रकार के विचारों का रंग चढ़ाते हैं वह वैसा बन जाता है।

मन में विपरीत बुद्धि वासनाओं का बल नष्ट करने के लिए शुभ चिन्ता एवं भावनाओं का अभ्यास अनिवार्य है।

जिस तरह सो मन काष्ठ के बड़े ढ़ेर को खेर का एक अंगारा अल्प काल में जलाकर भस्म कर देता है, उसी तरह अशुभ भावना के सामर्थ्य को सर्व सत्त्व-हिताशय-स्वरूप शुभ भावना अल्प काल में पंगु बना देती है। फिर विपरीत बुद्धि, पौद्गलिक आसक्ति तथा विषयों आदि का आकर्षण स्वतः ही घटता जाता है।

सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चरित्र रूप रत्नत्रयी के सतत् अभ्यास से ध्यान की योग्यता प्रकट होती है। आइए, इस बात पर अच्छी तरह मनन करने के बाद अब हम ध्यान के योग्य स्थान के सम्बन्ध में विचार करें।

ध्यान के योग्य स्थान

ध्यान के लिए पवित्र एवं शान्त स्थान होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि योग-साधना-मार्ग में नव-प्रविष्ट साधक को कोलाहल युक्त, जन-समुदाय युक्त तथा अन्य सामग्री से भरे स्थान में ध्यान कारगर नहीं होते।

तात्पर्य यह है कि योग-साधक को एकान्त एवं पवित्र स्थान पसन्द करना चाहिए।

स्थान की अनियतता

स्थान का उपरोक्त नियम परिणत अर्थात् सिद्ध योगीवर्यों पर लागू नहीं होता, अर्थात् जो साधक स्थिर संहनन युक्त एवं अखण्ड धैर्ययुक्त होते हैं तथा जिन्होंने ज्ञान आदि चार भावनाएं अथवा सत्वादि पाँच भावनाएं अत्यन्त भावित की हों उन साधक महात्माओं के लिए तो घनी बस्ती वाला नगर अथवा निर्जन अरण्य दोनों समान होते हैं। वे चाहे जैसे स्थान में रहकर भी उचित समता भाव कायम रख सकते हैं।

यह नियम ध्यान-मार्ग में प्रविष्ट होने वाने नूतन साधकों पर लागू नहीं होता ।

आसन बाँधकर बैठने से मन को बाँधनें में सुगमता रहती है। नूतन साधक को इस बात का ध्यान भी रखना चाहिए।

आसन बाँधने की सुगमता के लिए ऊणोदरी व्रत भी इतना ही आवश्यक है तथा वात, पित्त और कफ विकृत करने वाले आहार का उपयोग नहीं करने की भी नव साधक के लिए सावधानी बरतना विशेष रूप से आवश्यक है।

काल की अनियतता

ध्यान किस समय करना, यह प्रश्न भी साधक के लिए उठना स्वाभाविक है । यद्यपि ज्ञानी महापुरुषों ने इसके लिये कोई निश्चित समय निर्धारित नहीं किया है तथापि जिस समय मन, वचन एवं काया स्वस्थ प्रतीत हो रहे हों, वह समय ध्यान के लिए उचित माना है।

दिन में, सन्ध्या के समय अथवा रात्रि में अथवा दिन के अमुक निश्चित काल में ही ध्यान करना चाहिए ऐसा कोई निश्चित समय नहीं है।

हाँ, इतना निर्देश अवश्य देखने में आता है कि ब्रह्म मुहूर्त में अथवा रात्रि की अन्तिम छः घड़ी शेष रहें तब मुमुक्षु साधक को परमात्मा का भजन-ध्यान करने में उद्यमशील बनना चाहिए क्योंकि

इस काल की विशेष पवित्रता एवं नीरवता का सीधा लाभ ध्येयनिष्ठ साधक को स्वाभाविक तौर पर प्राप्त होता है। फिर भी इस काल को ही ध्यान-योग्य काल कहने का ऐकान्तिक मत शास्त्रकारों ने प्ररूपित नहीं किया है। यह तथ्य सदा स्मरण में रखना चाहिए।

आसन – ध्यान के लिए योग्य आसन भी वही माना जाता है जिस आसन में बैठने से ध्यान में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न हो।

काल की तरह आसन के लिए भी जैन-शासन में कोई एकान्तिक नियम नहीं है।

चाहे कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े रहकर ध्यान करो अथवा पद्मासन में अथवा वीरासन में बैठकर ध्यान करो, इतना ही नहीं परन्तु अनशन अथवा रोग आदि के कारण साधक चित्त लेटकर भी निश्चल रूप में ध्यान कर सकता है। इसके लिए नियम इतना ही है कि जो आसन बाँधा हो उसमें देह को जमाये रखना चाहिए बार-बार देह को हिलाना-डुलाना नहीं चाहिए।

जांवन डाले हुए दूध को बार-बार हिलाने से जिस प्रकार उसे दही में रूपान्तरित करने में बड़ी मुश्किल पड़ती है, उस प्रकार स्वीकृत आसन में देह स्थिर करने के बाद उसे बार-बार हिलाने-डुलाने से ध्यान की धारा नहीं बँधती ।

आसन की अनियतता का कारण

कोई निश्चित देश, काल अथवा निश्चित आसन का आग्रह न रखने के पीछे मुख्य कारण यह है कि किसी भी प्रकार की साधना की सिद्धि अमुक देश में, अमुक काल में अथवा निश्चित किसी आसन पर ही हो ऐसा किसी भी ध्यान-परम्परा में "एकान्त"-नियम नहीं है।

अतीत में हुए अनेक महात्मा भिन्न-भिन्न देश (स्थानों) काल और आसन पर स्थित होकर ध्यान के बल पर समस्त पापों का क्षय कर केवल ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं और उनके अतिरिक्त अनेकानेक *मुनिवरों ने अवधिज्ञान एवं मन:पर्यवज्ञान भी प्राप्त किया है।*

इस कारण जिनागमों में किसी निश्चित देश (स्थान) और आसन विशेष का "एकान्त" आग्रह निरूपित नहीं है परन्तु मन-वचन-काया की स्वस्थता कायम रह सके, उसमें वृद्धि हो ऐसे देश, काल एवं आसन आदि के द्वारा ध्यान आदि करने का प्रयत्न करने के निर्देश दिये गए हैं।

ध्यान के समय दोनों होंठ बन्द रखना, दृष्टि को नाक के अग्रभाग पर अथवा जो आलम्बन निश्चित किया हो उस पर स्थिर रखना, मुख-मुद्रा को प्रसन्न रखना, पूर्व अथवा उत्तर दिशा के सम्मुख बैठना, कमर को सीधा रखना ध्यान के लिए ये सामान्य नियम हैं।

धर्मध्यान के चार आलम्बन

बिना किसी आलम्बन के नीचे से ऊपर जाना कठिन होता है, अत: साधक को पुष्ट आलम्बन

की परम आवश्यकता होती है।

आगम-ग्रन्थों में धर्मध्यान के शिखर पर पहुँचने के लिये वाचना आदि जो सुदृढ़ आलम्बन बताये गए हैं वे निम्नानुसार हैं–

(१) वाचना – केवल कर्म-निर्जरा के उद्देश्य से अपने शिष्यों आदि को तथा धर्म-प्रेमी अन्य साधकों आदि को सूत्रों एवं उनके अर्थ का वात्सल्यपूर्वक दान करना और सम्मानपूर्वक सद्गुरु के पास ग्रहण करना "वाचना" कहलाता है। इस वाचना के आलम्बन से मन पुष्ट एवं शुद्ध बनकर ध्यानारूढ़ हो सकता है।

(२) पृच्छना – सूत्र-अर्थ के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की शंका होने पर अथवा यथार्थ रूप से पूर्वापर सम्बन्ध नहीं समझ में आने पर सविनय उसके सम्बन्ध में गुरु से पूछना "पृच्छना" कहलाता है। इससे मन का आध्यात्मिक व्यायाम होता है जो उसे धर्म-ध्यान-मग्न करती है ।

(३) परावर्तना – जो जिनोक्त सूत्र स्वयं ने गुरु द्वारा विधिपूर्वक ग्रहण करके कण्ठस्थ किए हों, तथा उनके अर्थ जाने हों उनका विस्मरण न हो तथा विशेष कर्म-निर्जरा हो उस उद्धेश्य से बार-बार उच्चारणपूर्वक उनका पाठ करना "परावर्तना" कहलाता है।

यह आलम्बन मन को आत्माभिमुख करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

(४) धर्मकथा – आत्मसात् हुए सूत्रों एवं अर्थ का सुपात्र देखकर उपदेश देना, योग्य आत्माओं को धर्म का मर्म समझाना "धर्मकथा" कहलाता है।

ये चारों आलम्बन श्रुतधर्म को आश्रय करके स्पष्ट किए गए हैं ताकि श्रुत-सागर-रूप आत्मा के घर में स्थिर होने की मन में तीव्र उत्कण्ठा प्रकट हो।

धर्मध्यान के चार लक्षण

१. **आज्ञारूचि** – जिनेश्वर भगवान के वचनों की अनुपमता, कल्याणकारिता, समस्त सत् तत्त्वों की यथार्थ प्रतिपादकता आदि जानकर उनके प्रति श्रद्धा।
२. **निसर्गरूचि** – ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय आत्म-परिणाम प्रकट करने की रूचि-उत्कण्ठा ।
३. **उपदेशरूचि** – जिन-वचन के उपदेश को श्रवण करने की रूचि-भावना ।
४. **सूत्ररूचि** – द्वादशांगी-जिनागमों के अध्ययन-अध्यापन की रूचि-भावना।

सामायिक आदि आवश्यक

सच्चारित्र का माता की तरह यत्न-सुरक्षा करने में सामायिक आदि आवश्यक कर्त्तव्यों का प्रमुख स्थान है।

अनन्त उपकारी श्री तीर्थंकर भगवान ने दो प्रकार के धर्म का उपदेश दिया है—श्रुतधर्म का और चारित्र

धर्म का । इन दोनों प्रकार के धर्मों के सतत् अभ्यास से चित्त की निर्मलता तथा स्थिरता प्रकट होती है।

अतः धर्म-ध्यान की प्राप्ति, वृद्धि एवं शुद्धि के लिए श्रुत एवं चारित्र-धर्म का अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है। अनके आलम्बन से ही धर्म ध्यान में दृढ़तापूर्वक स्थिर होना संभव हो सकता है।

ध्यान-प्राप्ति का क्रम

कर्म-ग्रस्त जीवों की विविध कक्षाएँ हैं। इन कक्षाओं का कारण कर्मों की न्यूनाधिकता है।

इस कारण ध्यान प्राप्ति की कोई एक परिपाटी निश्चित नहीं है, परन्तु जिस प्रकार साधक के मन-वचन-काया के व्यापार निरवद्य-निष्पाप वस्तु को विषयभूत बना सकते हैं उसी प्रकार उसे ध्यान-मार्ग में अग्रसर होने का परामर्श दिया जाता है।

फिर भी देह एवं वाणी के व्यापार पर अंकुश लगाने के कार्य की अपेक्षा मन के व्यापार पर अंकुश लगाने का कार्य अत्यधिक कठिन है। ध्यान मार्ग के साधक को इस तथ्य की जरा भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

अतः अनुभवी सन्तों का कथन है कि देह, एवं वाणी के चिमटे से मन को अच्छी तरह पकड़कर देवाधिदेव-परमात्मा के चरण-कमल में समर्पित करना सर्वोत्कृष्ट धर्म-ध्यान की अनुभूति का मार्ग है।

नियम है कि स्थूल वस्तु पर नियन्त्रण स्थापित करने में मनुष्य को जो श्रम करना पड़ता है उसकी अपेक्षा अधिक श्रम सूक्ष्म वस्तु को वश में करने में पड़ता है।

अतः ध्यान-प्राप्ति का कोई निश्चित क्रम नहीं होने पर भी तन एवं वचन के साथ मन को भी वश में करने की पर्याप्त सावधानी साधक को बरतनी चाहिए।

ध्यातव्य

जो ध्यान धर्म से युक्त होता है वह 'धर्म-ध्यान' कहलाता है। उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य—इन तीन अवस्थाओं से युक्त जो वस्तु का यथार्थ स्वरूप है वही धर्म है अर्थात् वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा जाता है । जिस ध्यान में वस्तु (पदार्थ) के स्वभाव का चिन्तन किया जाता है वह धर्मध्यान[१] है। धर्म-ध्यान में ध्यान करने योग्य मुख्य पदार्थ (विषय) चार प्रकार के हैं—

१. आज्ञाविचय, २. अपायविचय, ३. विपाकविचय और ४. संस्थानविचय।

---

१. **तत्रानपेतं यद् धर्मात्तद् ध्यानं धर्म्यमिष्यते। धर्मोऽहि वस्तु-याथात्म्यमुत्पादादि त्रयात्मकम्॥**
– *श्री जिनसेनाचार्यकृतं महापुराण*, पर्व २१, श्लोक १३३

१. आज्ञाविचय ध्यान में जिनेश्वर की आज्ञा ध्येय है।
२. अपायविचय ध्यान में राग-द्वेष और कषाय से उत्पन्न होने वाले दुःखमय संसार का चिन्तन ध्येय है।
३. विपाकविचय ध्यान में कर्म के शुभ-अशुभ फल का चिन्तन ध्येय है।
४. संस्थानविचय ध्यान में चौदह राजलोक और जीव आदि षड् द्रव्यों के स्वरूप का चिन्तन ध्येय है।

इन चारों प्रकार के ध्यान के स्वरूप के सम्बन्ध में इस प्रकार विचार किया जा सकता है-

आज्ञाविचय का स्वरूप

१. आज्ञाविचय – परमआप्त-पुरुष श्री जिनेश्वर भगवान का वचन ही आज्ञा है अर्थात् जिन-वचन स्वरूप द्वादशांगी-जिनागम भी आज्ञा है। उस आज्ञा के अर्थ का निर्णय करना विचय है।[1]

अनन्त उपकारी जिनेश्वर परमात्मा सकल जीव-लोक के परम आप्त पुरुष हैं। उनकी आज्ञा क्या है? उसका चिन्तन करना आज्ञा-विंचय धर्म-ध्यान है। भगवान की परम मंगलकारी आज्ञा का संक्षेप में इस प्रकार विचार किया जा सकता है—

जिनेश्वर भगवान की आज्ञा शाश्वत है अनादि-निधन है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से द्वादशांगी का किसी भी काल में नाश नहीं होता, अर्थात् वह सदा विद्यमान रहता है।

जिनेश्वर भगवान की आज्ञा समस्त जीवों की पीड़ा दूर करने वाली और उनका आत्यन्तिक-हित करने वाली है। "किसी एक जीव का भी संहार नहीं करना"[2] —-इस आज्ञा का त्रिविध रूप से पालन करने से अनन्त आत्माओं ने मुक्ति-पद प्राप्त किया है।

जिनेश्वर भगवान की आज्ञा अनेकान्त-स्याद्वाद ज्ञान स्वरूप होने से उसके द्वारा सत्य का ज्ञान होता है।

जिनेश्वर भगवान त्रिलोक में सर्वोत्तम, पुरुषोत्तम है अतः उनकी आज्ञा भी सर्वोत्तम है, अमूल्य है।

जिनाज्ञा समस्त कर्मों का समूल उन्मूलन करने वाली है।

जिन कर्मों का क्षय करने में अज्ञानी को पूर्व करोड़ वर्ष लगते हैं, उन कर्मों के पुंज का जिनेश्वर भगवान की आज्ञानुसार पाँच समिति और तीन गुप्ति का यथार्थ रूप से पालन करने वाले ज्ञानी मुनिवर श्वासोच्छ्वास जितने अल्प काल में क्षय कर देते हैं।

---

१. **आप्तवचनं प्रवचनं चाज्ञा, विचयस्तदर्थनिर्णयनम्।**

–प्रशमरति प्रकरण, श्लोक २४

२. **सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा।**

–आचारांग सूत्र ४।१।१

अर्थ की अपेक्षा से जिनाज्ञा अनन्त है। जिनेश्वर भगवान का प्रत्येक वचन भी अनन्त अर्थयुक्त होता है।

''एकम् अपि जिनवचनं निर्वाहको भवति''[१] कहकर शास्त्रकार भगवानों ने जिनेश्वर भगवान के परम तारणहार सामर्थ्य का यथार्थ रूप से गुणगान किया है।

जिनाज्ञा को स्व-हृदय में धारण करके महापुरुष भी कृतकृत्यता अनुभव करते हैं।

जिनाज्ञा के ज्ञाता एवं उसके पालक पुरुष महान् सामर्थ्य वाले होते हैं, समस्त लब्धि-सम्पन्न होते हैं और विश्वोपकारी महान् कार्य करने वाले होते हैं।

जिनाज्ञा सर्व दोष-रहित है, सर्व गुण सम्पन्न है।

जिनाज्ञा में व्यापक एवं सघन रूप से विश्व वात्सल्य भरा है।

जिनाज्ञा गूढ़ातिगूढ़ है।

जिनाज्ञा नय, गम, भंग एवं प्रमाण आदि के द्वारा अत्यन्त गम्भीर अर्थयुक्त है।

जिनाज्ञा अत्यन्त गंभीर, व्यापक, सूक्ष्म एवं गहन है और सम्पूर्ण विश्व पर उसका एकचक्री शासन है।

नवजात शिशु के लिए जिस प्रकार माता का दूध लाभदायक है उसी प्रकार सम्पूर्ण जीव लोक के लिए जिनाज्ञा हितकारी है।

हमारे समान मन्द बुद्धि एवं मन्द पुण्य वाले जीवों को गीतार्थ महाज्ञानी गुरुओं के विरह से अथवा उस प्रकार के हेतु, दृष्टान्तों आदि के अभाव में, अथवा ज्ञानावरणीय कर्म के प्रबल उदय से कदाचित इस जिनाज्ञा के सम्पूर्ण रहस्य स्पष्ट समझ में न आएं, फिर भी यदि हम उसके प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास रखकर उसका चिन्तन-ध्यान और पालन करें तो, अवश्य ही आत्म-कल्याण कर सकते हैं क्योंकि जिनेश्वर भगवान परार्थ-व्यसन के प्रकर्ष को प्राप्त होने के कारण उनकी आज्ञा के आराधक नैसर्गिक रीति से उनके अनुग्रह के भागी होते हैं और अनुग्रह के अचिन्त्य प्रभाव से वह भवसागर पार कर लेते हैं।

''तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं—वही तत्त्व सत्य एवं शंका-रहित है जो जिनेश्वर भगवान ने कहा है''—इस शास्त्र-वचन में अटूट श्रद्धा रखकर अनन्त आत्माओं ने भवसागर पार किया है।

हम भी उनका अनुकरण करके भवसागर-तारिणी जिनाज्ञा के एकनिष्ठ आराधक बनें।

---

१. *तत्वार्थ भाष्य सम्बन्धकारिका,* श्लोक २६०

यह है जिनाज्ञा का अनुपम प्रभाव!

इस प्रकार जिनेश्वर भगवान की परम कल्याणकारी आज्ञा का एकाग्रचित्त से चिन्तन करना आज्ञा विचय रूप धर्म-ध्यान है।

अपायविचय का स्वरूप

२. अपायविचय – राग-द्वेष, कषाय, और मिथ्यात्व आदि के सेवन से जीव को इस भव में और पर-भव में कैसे-कैसे भयानक दुःख भोगने पड़ते हैं उनका चिन्तन करना, उनमें ध्यान लगाना अपाय-विचय धर्म-ध्यान है।

इस चिन्तन एवं ध्यान के प्रभाव से जीव की वीतराग, वीत-द्वेष, निष्कषाय एवं पूर्णतः सम्यक्त्ववान् बनने की पात्रता क्रमशः प्रकट होती है अर्थात् इन महान् गुणों को प्राप्त करने के लक्ष्यपूर्वक यह ध्यान करने का आदेश है।

''मैं हूँ, मैं बीमार हूँ''—इस प्रकार बार-बार कहने मात्र से निरोगी नहीं बना जाता परन्तु उसके कारण का निवारण करने वाले निर्दोष उपचार से ही आरोग्य प्राप्त होता है। उसी तरह ''मैं राग-द्वेष कषायों आदि से ग्रस्त हूँ''—यह बात ध्यान में लेने के पश्चात् जो इन दोषों से सर्वथा मुक्त है, तथा जो इन दोषों को सर्वथा नष्ट करने के श्रेष्ठ पुरुषार्थ में उद्यमशील हैं उन श्री पंचपरमेष्ठि भगवानों की अनन्य भाव से शरणागति स्वीकार करना ही इस चिन्तन-ध्यान का फलितार्थ है।

राग-द्वेष कैसे हैं?

ये इस जीव को भवारण्य में दुर्दशापूर्वक भटकाने वाले हैं।

कैन्सर, क्षय, भगंदर आदि देह के रोग हैं जबकि ये राग-द्वेष आत्मा के रोग हैं, अतः सचमुच खतरनाक हैं। ये चिकने कर्मबन्ध कराकर जीव की दुर्दशा करने वाले हैं।

अनुकूल विषय-सामग्री प्राप्त होने पर हर्ष और प्रतिकूल संयोगों में विषाद की जो भावना उत्पन्न होती है उसका कारण ये राग-द्वेष ही हैं।

राग की उत्कटता जीव को दीर्घ-संसारी बनाती है।

द्वेष की प्रबलता जीव को नरक आदि दुर्गतियों में ढ़केलती है।

अतः अनन्त उपकारी परमात्माओं का कथन है कि जड़ के प्रति राग का त्याग करने से जीव के प्रति द्वेष करने की अधम-वृत्ति स्वतः छूट जाएगी ।

इस विचार-श्रेणी और चिन्तन से बार-बार चित्त को भक्ति करना भी अपायविचय धर्म ध्यान का एक अंग है।

राग-द्वेष की तरह चार कषाय भी अत्यन्त भयंकर हैं। जीव को चार गतियों में भटकाकर दुःखी

करने वाले हैं, सन्तप्त करने वाले हैं।

राग-द्वेष यदि अग्नि-कुण्ड है तो कषाय लावारस का सरोवर है, दु:खमूलक-दु:खफलक एवं दु:ख-परम्परक संसारवृक्ष का मूल है।

क्रोध को काले नाग की उपमा दी गई है।

मान को हाथी की उपमा दी गई है।

माया को पाप-माता की उपमा दी गई है।

लोभ को बढ़ते हुए ताड़ वृक्ष की उपमा दी गई है।

इन उपमाओं के अभ्यास से ध्यान-मार्ग के साधक को क्षमा, विनम्रता, सरलता, लोभ-रहितता आदि गुणों से युक्त जिनेश्वर देव के भजन में मन को लीन करना है ताकि वह सुगमतापूर्वक धर्म-ध्यान में स्थिर बन सके ।

मिथ्यात्व आदि की अनर्थता

राग, द्वेष एवं कषाय का मूल मिथ्यात्व में ही निहित है।

यह मिथ्यात्व देह में आत्म-बुद्धि उत्पन्न करता है।

अमूल्य आत्मा को भान भुलाने वाला यह मिथ्यात्व है। सम्यक्त्व जितनां भद्रंकर है, यह मिथ्यात्व उतना ही भयंकर है।

- मति को सदा विपरीत गति में दौड़ाकर अपनी नाभि में विद्यमान कस्तूरी को बाहर खोजने वाले कस्तूरी मृग जैसी दुर्दशा में जीव को ढ़केल देने वाला यह मिथ्यात्व है।

विषधर नाग के विष से भी भयानक जीव पर इस मिथ्यात्व आदि का प्रभाव पड़ता है।

अत: इससे बचने के लिए महा-मोह-विजेता जिनेश्वर परमात्मा ही एक अनन्य शरण है—इस प्रकार के सद्बोध की भावना मन में लाना भी अपाय-विचय धर्मध्यान है।

अविरति – हिंसा, असत्य, चोरी एवं परिग्रह आदि पापों का सेवन अविरति है। इनसे प्रेरित जीव स्वजन-परिवारादि के वध-बन्धन करने में भी नही हिचकिचाते, इस लोक में अत्यन्त निन्दनीय गिने जाने वाने हिंसा आदि कार्य भी करते हैं और परलोक में अत्यन्त दारुण नरक आदि वेदनाओं के शिकार बनते हैं।

इस तथ्य का चिन्तन बुद्धि को शुद्ध करके विरतिधरों की सेवा करने की लौ लगाता है अत: यह अपायविचय ध्यान का अंगभूत है।

आस्त्रव – मन, वचन काया की अप्रशस्त (आज्ञा-निरपेक्ष) क्रिया से उपार्जित अशुभ कर्मों के योग से जीवों को चार गतिमय संसार में घोर दुर्दशा में परिभ्रमण करना पड़ता है, आधि, व्याधि

और उपाधि से ग्रस्त होकर दुःसह दुख भोगने पड़ते हैं।

इस प्रकार जो अप्रमत्त मुनि अथवा ध्यान-साधक व्यक्ति अपायराग आदि दोषों का करूणापूर्ण हृदय से चिन्तन करते हैं वह अपाय-विचय धर्मध्यान कहलाता है।

विपाकविचय का स्वरूप

३. विपाकविचय – कर्मों के विपाक/परिणाम का चिन्तन करना विपाकविचय धर्म ध्यान कहलाता है। जैसे कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और मन-वचन कायादि से उपार्जित कर्म जीव को शुभाशुभ फल देने वाले हैं। कर्म के प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश—ये मुख्य चार प्रकार हैं। जब ये (कर्म) उदित होते हैं तब जीव को कैसे-कैसे दारुण दुःख भोगने पड़ते हैं उनका विचार इस ध्यान में किया जाता है।

कर्म-प्रकृति अर्थात् कर्म का स्वभाव, जैसे ज्ञानावरणीय कर्म का स्वभाव आत्मा के ज्ञानगुण को ढँकना है। इस प्रकार के विचार-विस्तार में मन का विचरण इस ध्यान का एक भाग रूप है।

कर्म की स्थिति अर्थात् कर्मों का आत्मा के साथ चिपके रहने का काल। इसके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट—तीन प्रकार हैं। जैसे ज्ञानावरणीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति (काल-मर्यादा) तीस कोडाकोडी सागरोपम की और जघन्य स्थिति अर्न्तमुहूर्त की हैं।

कर्म का रस (अनुभाग) अर्थात् विपाक, रसोदय जिसके फलस्वरूप ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के स्वभाव की उग्रता, मन्दता आदि की अमुभूति होती है।

कर्म के प्रदेश अर्थात् जीव के असंख्य प्रदेशों के साथ चिपके हुए कर्म-पुद्‌गल के दल जो जीव-प्रदेशों पर उपना आधिपत्य स्थापित कर लेते हैं।

इस प्रकार कर्म-प्रकृति आदि के विपाक का जिन वचनानुसार स्थिरतापूर्वक चिन्तन करना विपाक-विचय धर्मध्यान है।

संस्थान-विचय का स्वरूप

४. संस्थान-विचय – जिनवचनानुसार जगत में विद्यमान पदार्थों के संस्थान (आकार) आधार, प्रकार और प्रमाण आदि का चिन्तन करना तथा द्रव्यों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि पर्यायों का चिन्तन करना 'संस्थान विचय' धर्म-ध्यान कहलाता है।

इस ध्यान में चौदह राजलोक और जीव आदि षड्द्रव्यों का विभिन्न प्रकार से शास्त्र-सापेक्ष विचार किया जाता है।

चौदह राजलोक की शास्त्रोक्त आकृति के साथ पुरुष-देहाकृति विशेष साम्य रखती है जिससे इस विचार में सुगमता रहती है, तथा इसके फलस्वरूप विश्व-सायुज्य बढ़ता है।

संस्थान अर्थात् आकार जीवों के शरीरों का समचतुरस्रादि संस्थान है और पुद्गल-द्रव्यों का परिमण्डल आदि संस्थान है, तथा धर्मास्तिकाय का संस्थान लोकक्षेत्र के संस्थान के समान है।

लोक का संस्थान—अधोलोक विस्तीर्ण पुष्प चंगेरी के आकार का है, तिर्छालोक झल्लरी के समरूप है और ऊर्ध्वलोक मृदंग के आकार का है।

काल का संस्थान—मनुष्य-क्षेत्र प्रमाण है क्योंकि काल सूर्य आदि की गति क्रिया से ज्ञात होता है। अत: काल मनुष्य-क्षेत्र के आकार का है—यह उपचार से कहा जाता है।

प्रकार—द्रव्यों के भेदों का चिन्तन करना जैसे कि धर्मास्तिकाय लोकव्यापी है आदि।

पर्याय—धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों में विद्यमान उत्पात आदि पर्याय अर्थात् अवस्था का चिन्तन करना।

यह सब संस्थानविचय धर्म-ध्यान में समाविष्ट है।

लोकस्वरूप का चिन्तन – जिनेश्वर भगवान द्वारा कथित अनादि निधन, नित्य एवं नाम, स्थापना आदि भेदयुक्त पंचास्तिकाय लोक का चिन्तन करना ऊर्ध्व, अध: एवं तिर्यक स्वरूप लोक का चिन्तन करना तथा लोक में विद्यमान घम्मादि नरक-भूमियों, घनोदधि आदि वलयों, जम्बूद्वीप आदि द्वीपों, लवणादि समुद्रों, सीमान्तक आदि नरकवासों, ज्योतिषी तथा वैमानिक देव सम्बन्धी विमानों, भवनपतिदेव आदि से सम्बन्धित भवनों तथा अन्य गाँवों, नगरों, क्षेत्रों आदि का सिद्धान्त-सापेक्ष स्वरूप चिन्तन करना संस्थानविचय धर्म ध्यान कहलाता है।

इस चिन्तन के साथ ही साथ जीव स्वरूप का चिन्तन भी मुमुक्षु साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह चिन्तन इस प्रकार किया जा सकता है—

जीव उपयोग-लक्षण युक्त एवं नित्य है।

जीव अरूपी है।

देह के जो धर्म हैं उनसे भिन्न धर्म जीव के हैं।

जीव अपने कर्मों का कर्त्ता एवं भोक्ता है।

जीव में शिवत्व छिपा हुआ है।

इस प्रकार यदि जीव-स्वरूप के चिन्तन में अधिकाधिक गहराई से उतरें तो एक अलौकिक संसार के दर्शन होते हैं जिसकी तीव्र उत्कण्ठा प्रत्येक धर्म-साधक को होती है।

संसार-समुद्र – जीव अपने अशुभ कर्मोदय के कारण संसार सागर में परिभ्रमण करता है, उस संसार-सागर के स्वरूप का चिन्तन करना।

यह संसार जलपूर्ण सागर की तरह जन्म-मृत्यु आदि से पूर्ण है।

समुद्र में पाताल-कलश होते हैं उसी प्रकार संसार रूपी समुद्र, कषाय रूपी चार पाताल-कलशों

से युक्त है।

जिस प्रकार समुद्र में बड़ी-बड़ी चट्टानें होती हैं उसी प्रकार संसार-रूपी समुद्र में अनेक प्रकार के अन्तराय-रूप बड़ी चट्टान हैं।

जिस प्रकार समुद्र में उपद्रवकारी जल-जन्तु होते हैं, उसी प्रकार संसार-समुद्र सैकड़ों दु:खों, संकटों तथा दुर्व्यसनों रूपी जन्तुओं से व्याप्त है।

जिस प्रकार समुद्र में भयानक आवर्त्त होते हैं उसी प्रकार संसार-समुद्र में मोहनीय कर्म ही परिभ्रमण कराने वाला होने से भयानक आवर्त्त है।

जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठती हैं, उसी प्रकार संसार-समुद्र भी अज्ञान रूपी वायु से प्रेरित संयोग-वियोग रूपी लहरों से युक्त है तथा जिसका (प्रवाह की अपेक्षा से) आदि अथवा अन्त नहीं है। ऐसा घोर भयानक संसार-सागर है इत्यादि चिन्तन करना भी धर्म ध्यान का अंगभूत है।

चारित्र रूपी जहाज—ऐसे भयानक भवसागर से आत्मा को पार उतारने वाला चारित्र रूपी जहाज है जिसमें बैठकर आज पर्यन्त अनन्त आत्मा भवसागर पार करके मुक्तिपुरी में पहुँचे हैं।

यह जहाज कैसा है?

१. जिसका कर्णधार सम्यग् ज्ञान है।

२. जो सम्यग्-दर्शन रूपी सुदृढ़ पालों से युक्त है।

३. जो छिद्र-रहित है।

४. जो तप रूपी वायु से प्रेरित शीघ्र गति-युक्त है।

५. जो वैराग्य-मार्ग पर चलता है अत: दुर्ध्यान रूपी लहरों से अक्षुब्ध है ।

६. जो अत्यन्त मूल्यवान शीलांग रूप रत्नों से अलंकृत है।

७. जिसकी समग्र रचना अलौकिक, अद्वितीय एवं अनुपम है।

८. जिसने अपने आश्रित का कभी साथ नहीं छोड़ा ।

ऐसे चारित्र-रूपी जहाज में बैठकर सही-सलामत मुक्तिपुरी में पहुँचा जा सकता है।

इस प्रकार एकाग्रतापूर्वक विचार करना भी संस्थान-विचय धर्म ध्यान का एक प्रकार है।

अन्त में मिट्टी में मिलने वाले देहादि पर-पदार्थों के ममत्व में से मन को मुक्त करके नहीं मरने के स्वभाव वाले अनन्त ज्ञानादि युक्त आत्मा के साथ जोड़ने के लिए ये चारों प्रकार के ध्यान नियम अचूक रूप से प्रभावी हैं। अत: इनका अधिकाधिक अभ्यास ध्यानमार्ग के साधक के लिये तो प्राणवायु के समान आवश्यक है।

धर्मध्यान के उक्त चार प्रकारों में संस्थान-विचय प्रकार में जिनोपदिष्ट जीवादि समस्त पदार्थों का नय, निक्षेप आदि द्वारा चिन्तन एवं ध्यान करने के लिए कहा गया है जिससे ध्यान के समस्त

प्रकारों का उसमें समावेश हो जाता है।

पिण्ड में ब्रह्माण्ड का अवतरण करने की इस अद्‌भुत कला में कुशलता प्राप्त करने के लिए यह चारों प्रकार का धर्मध्यान उपकारक है और इस ध्यान के केन्द्र-स्थान में जिनाज्ञा को रखने से ही सर्व मंगलकारी धर्म-ध्यान से च्युत करने वाले अशुभ बलों के आक्रमण निष्फल होते हैं।

जब तक चिन्तन चलित चित्त से होता हो तब तक चिन्ता एवं भावना रूप ध्यान का पूर्वाभ्यास है ऐसा जानें और जब उक्त चिन्तन स्थिर परिणाम से होता है तब वह धर्म ध्यान स्वरूप बनता है।

उक्त धर्म ध्यान के सतत अभ्यास से जो शुद्ध अनुभूतिपूर्वक तत्त्व-चिन्तन होता है वह शुक्ल ध्यान का अंग माना जाता है।

धर्मध्यान के अधिकारी सब प्रकार के प्रमाद से रहित, ज्ञान रूपी धन युक्त तथा उपशामक एवं क्षपक निर्ग्रन्थ धर्मध्यान के मुख्य अधिकारी हैं। धर्मध्यान की शुद्धता की पराकाष्ठा उपरोक्त महात्माओं में ही होती है।

गुणस्थान की अपेक्षा से मुख्यत: सातवें गुणस्थानक से लगाकर बारहवें गुणस्थानक तक के जीव एवं गौणत: चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानक पर स्थित जीव भी धर्मध्यान के अधिकारी माने जाते हैं।

शुक्लध्यान के प्रथम दो प्रकार के ध्याता प्रथम [वज्रऋषभ नाराच] संघयण युक्त तथा पूर्वधर अप्रमत्त मुनिवर होते हैं और अन्तिम दो प्रकार के ध्याता सयोगी और अयोगी केवली भगवान होते हैं।

धर्मध्यान और मैत्री आदि भाव

आज्ञाविचय आदि धर्मध्यान में जिनेश्वर भगवान की परम मंगलकारी, आज्ञा का चिन्तन करने से साधक को मैत्री आदि चार भावों का चिन्तन करने की प्रेरणा भी सहज रूप से प्राप्त होती है।

''गुणस्थान क्रमारोह''[१] आदि ग्रन्थों में भी धर्मध्यान का स्वरूप बताते हुए मैत्री आदि चार भावनाओं एवं पिण्डस्थ आदि चार अवस्थाओं को धर्मध्यान के प्रकारों के रूप में माना है।

जीव को आर्त्तध्यान से मुक्त करके धर्मध्यान में जोड़ने वाले तथा श्रेणी एवं शुक्लध्यान तक पहुँचाने वाले सकल सत्त्व (जीव) विषयक स्नेह एवं हित-चिन्ता के परिणाम हैं, जिससे मैत्री आदि भाव स्वयं धर्मध्यान रूप हैं और धर्मध्यान के हेतु भी हैं।

---

१. **मैत्र्यादिभिश्चतुर्भेदं यदाज्ञादिचतुर्विधम्।**
पिंडस्थादि चतुर्धा वा धर्मध्यानं प्रकीर्तितम्॥ –''*गुणस्थान क्रमारोह*'' श्लोक ३५-वृत्ति
मैत्र्यादि चार भेद वाला तथा आज्ञाविचय आदि चार प्रकार वाला और पिण्डस्थ आदि चार भेद वाला ''धर्म ध्यान'' कहा गया है।

आज्ञाविचय आदि चारों प्रकार के ध्यान से क्रमशः मैत्री आदि चारों भावनाओं का भी व्यवस्थित रूप से निम्नानुसार विचार किया जा सकता है।

१. आज्ञाविचय ध्यान और मैत्री भाव – असीम उपकारी जिनेश्वर भगवान की परम कल्याणकारी आज्ञा अनन्त अर्थात्मक है, जिसका निष्कर्ष है—विश्व वात्सल्य विकसित करना।

विश्व वात्सल्य विकसित करने से तात्पर्य है विश्व के समस्त जीवों के प्रति स्वतुल्य भाव प्रदर्शित करना।

इस भाव का आधार मैत्री-भाव है।

मैत्री भाव अर्थात् समस्त जीवों को मित्र की दृष्टि से देखना, सहृदयी मित्र तुल्य भाव रखना क्योंकि जीव-जीव के मध्य सम्बन्ध रक्त के सम्बन्ध से भी ऊँचा है।

ऐसे सम्बन्ध का कारण-जीवत्व की तुल्यता है, समानता है, एकरूपता है।

तदुपरान्त एक जीव का जो उपयोगमय स्वरूप है वही स्वरूप तीन लोकों के समस्त जीवों का है। जीव चाहे निगोद अवस्था में रहा हो अथवा सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ हो, परन्तु उसका उपयोगमय स्वरूप तो सदा सर्वत्र कायम ही रहता है, काल भी उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता।

इस प्रकार समस्त जीवों का उपयोग-लक्षण एवं जीवत्व-जाति एक होने से जीव-जीव के मध्य जाति-भाई का सम्बन्ध है।

इस सम्बन्ध को सम्यक् प्रकार से उज्जवल करने से कर्म के बन्धन टूटते हैं और जीव-जीव के मध्य के अभिन्न सम्बन्ध को शाश्वत रूप से जीने का परम सौभाग्य प्राप्त होता है। और यदि जीव को पराया समझकर उसका तिरस्कार, अवहेलना, हिंसा आदि की जाती है तो उसका कठोर दण्ड, उस प्रकार का अमैत्री-पूर्ण व्यवहार करने वाले को भोगना पड़ता है।

जिनेश्वर भगवान जिन्हें स्वतुल्य भाव प्रदान करते हैं, स्नेह प्रदान करते हैं उन समस्त जीवों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रशस्त चिन्तन आज्ञाविचय ध्यान में समाविष्ट होता है।

"सव्वे जीवा न हन्तव्वा"[१] अर्थात "किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी" मित्ती मे सव्व भूएसु"[२] अर्थात् "समस्त जीवों के साथ मेरी मैत्री है—ऐसी अहिंसा एवं मैत्री भावना का त्रिविध रूप से पालन करने की आज्ञा जिनेश्वर भगवानों ने दी है।

---

१. *आचारांग सूत्र*, अध्ययन ४

२. *श्रमणसूत्र-वंदित्तासूत्र*, गाथा ४९

त्याग एवं वैराग्य को प्राणवान बनाने वाले जीव-जाति के साथ जाति-भाई जैसा बल्कि उससे भी अच्छा सम्बन्ध स्थापित करने के रूप में मैत्री आदि भाव है-इस तथ्य का विस्मरण होता है तो निगोद के जीवों जैसी अधम मनोदशा संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य की भी होती है।

इस कारण ही तो जीव-मैत्री को अमृत की उपमा दी गई है।

सामायिक को परमामृत की उपमा दी गई है।

यदि कोई पूछे कि "मैत्री भावना से क्या तात्पर्य है?" तो इसके उत्तर में स्पष्ट कहा जा सकता है कि तीन लोकों के समस्त जीव मेरे मित्र हैं, इस सत्य से मन को पुनः-पुनः भावित करना।

जीव-जगत् से अलग पड़ने वाले के लिए मोक्ष अत्यन्त ही दूर है और जीव-जगत के साथ आत्मीयता स्थापित करके, जड़-जगत से दूर रहने वाले के लिए मोक्ष अत्यन्त निकट है।

आज्ञाविचय ध्यान में इस सारे चिन्तन का स्थान है।

"शिवमस्तु सर्वजगतः।"
"सर्वे भद्राणि पश्यन्तु ।"
"मा कार्षीत् कोऽपि पापानि ।"

ये और इस प्रकार की अन्य भावनाऐं जीव-मैत्री के तात्विक मूल्य को सिद्ध करती हैं।

यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि त्रिभुवन-पति श्री जिनेश्वर भगवान की आज्ञा का आराधक उक्त आज्ञा के हृदयभूत जीवों का सहृदय मित्र भी होता है, किसी एक जीव के साथ शत्रुता अर्थात् किसी एक जीव की भी विराधना उसे आँख की किरकिरी के समान खटकती ही है।

यह सारा चिन्तन उन देवाधिदेव की आज्ञा के ही चिन्तन स्वरूप होने से आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

२. **अपायविचय ध्यान और प्रमोद-भाव** – दुःख-मूलक, दुःख-फलक एवं दुःखों की परम्परा-सर्जक संसार के स्वरूप का चिन्तन करना उक्त ध्यान का अंगभूत है।

इस स्वरूप का चिन्तन करने से उसके कारणभूत राग आदि दोषों की भयंकरता एवं प्रबलता का ख्याल आता है। यह ख्याल आने पर छः खण्ड-विजेता चक्रवर्तियों को भी परास्त करने वाले जो राग आदि दोष हैं उन्हें नख-शिख परास्त करने वाले पंच परमेष्ठि-भगवंतों के प्रति आन्तरिक सम्मान उत्पन्न होता है।

यह सम्मान उन गुणाधिकों के प्रति प्रमोद भाव है।

ज्ञानी भगवान ने इस प्रमोद-भाव को अत्यन्त दुर्लभ बताया है और इसका कारण यह है कि मोह-मिथ्यात्ववश जीव को "गुण-सम्मान" का अध्यवसाय कठिनाई से ही स्पर्श करता है।

उक्त अध्यवसाय को जागृत करने के लिए अपाय-विचय ध्यान अचूक औषधि है।

''राग गयों तुज मन थकी'' यह स्तवन-पंक्ति पूर्ण करने के पश्चात् हमें अपने मन का निरीक्षण करना है कि उसमें निहित रागादि दोषों के दास बनकर हम जीते हैं अथवा उसका उन्मूलन करने वाले जिनेश्वर भगवानों के दास बनकर जीते हैं—उसका हमें स्पष्ट ध्यान आ सके।

यह ध्यान आने के पश्चात् तुरन्त यह बात भी ध्यान में आती है कि रागादि दोषों पर विजय प्राप्त करने का कार्य अत्यन्त कठिन है।

ज्यों-ज्यों यह ख्याल सुदृढ़ होता जाता है त्यों-त्यों रागादि दोषों पर विजय प्राप्त करने के प्रयत्न में कटिबद्ध साधु महात्माओं के प्रति अपूर्व प्रमोद-भाव उत्पन्न होता ही है।

इन चार भावों के प्रभाव से दोष सेवन करते समय झटका लगता है और सद्गुण निज अंगभूत बनते हैं।

''थोडलों पण गुण पर तणों, देखी हर्ष मन आण रे'' —अमृतवेल की सज्झाय की यह पंक्ति अत्यन्त मार्मिक है, संसार-वर्ती समस्त अपायों का उन्मूलन करने की अपार अपरिमित शक्ति वाली है। इससे चित्त को बार-बार भावित करते रहना भी अपाय-विचय ध्यान का एक अंग है।

३. विपाकविचय ध्यान एवं करुणा-भाव – विपाक अर्थात् परिणाम, फल।

जगत् के जीवों की दीन-हीन एवं दुःखी दशा देखकर कर्म के विचित्र फलों का विचार करना, उन पर चिन्तन करना विपाक-विचय ध्यान कहलाता है।

यह विचार एवं चिन्तन नितान्त करुणा-जनक है।

चिकित्सालय के बिस्तर पर दुःसह्य व्याधि से पीड़ित तथा कराहते हुए रोगी को देखकर कठोर हृदय वाले मनुष्य को भी एक बार तो करुणा स्पर्श कर ही लेती है तो फिर विविध प्रकार के अशुभ कर्मों के भाव-रोग से सतत पीड़ित तथा त्राहि-त्राहि करते जीवों को देखकर पाषाण हृदय मनुष्य को भी करुणा स्पर्श न करे ऐसा कैसे माना जाये?

विपाक-विचय ध्यान के अभ्यासी को अपना ध्यान केवल अपने ही कर्मों के फल पर नहीं रखना है, वरन् कर्मग्रस्त समस्त जीवों पर रखना है। ऐसा करने से उन समस्त जीवों पर असीम करुणा की वृष्टि करने वाने जिनेश्वर भगवान की करुणा का पात्र बना जा सकता है और करुणा उत्पन्न करने वाले कर्मग्रस्त जीव भी अपेक्षा से उपकारक प्रतीत होते हैं।

प्रमोद-भावना में ध्येय के रूप में गुण की अधिकता होती है, उस प्रकार करुणा-भावना में दुःख की अधिकता ध्येय है।

जीव मात्र को अपने दुःख की करुणा तो होती ही है, परन्तु वह आर्त्तध्यान स्वरूप है। जब वह

अन्य जीव-विषयक बनती है तब धर्म ध्यान स्वरूप बनती है।

अत: करुणा-भाव को पुष्ट करने वाला विपाक-विचय ध्यान भी ध्यान-मार्ग के अभ्यासी के लिए बहुत आवश्यक है।

४. **संस्थानविचय ध्यान और माध्यस्थ-भाव** – संस्थान विचय धर्म-ध्यान में समस्त लोकों के स्वरूप और पदार्थों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि का चिन्तन करना पड़ता है। उससे साधक को जड़-पुद्गल पदार्थों के प्रति और जीवों के दोषों के प्रति माध्यस्थ भाव उत्पन्न होता है, जिससे चित्त में उन जीवों के प्रति भी मैत्री भाव अखण्ड रहता है और समता-भाव की वृद्धि होती है।

इस चौथी माध्यस्थ भावना में ध्येय के रूप में दोषों की अधिकता होने से, उसके द्वारा जीवों के दोषों के प्रति ही माध्यस्थ-भाव स्थापित करना पड़ता है।

उपेक्षा के पात्र दोषी नहीं, पर दोष है पापी न ही पर पाप है। जीव मात्र तो मैत्री आदि के ही पात्र हैं।

किसी भी जीव के प्रति उपेक्षा अथवा द्वेष-वृत्ति प्रदर्शित करने से महामोह-मिथ्यात्व कर्म का सर्जन होता है।

जीव मात्र के प्रति पूर्ण दृष्टि खुलने से ये समस्त भावनाएं सुसाध्य बनती हैं।

अत: प्रथम आज्ञा-विचय धर्म ध्यान है। आज्ञा के अभ्यासी को समस्त जीव स्वतुल्य होने का शास्त्र-सत्य स्पर्श करता है और तब वह आज्ञा पालन करने में कुशल होकर धर्म-ध्यान के शिखर पर पहुँचने योग्य बनता है।

इस प्रकार आज्ञाविचय आदि धर्म ध्यान में जीव-मैत्री आदि भावों का ध्यान भी समाविष्ट है।

जिस प्रकार आज्ञाविचय आदि धर्मध्यान में मैत्री आदि भाव समाविष्ट है उसी प्रकार जिनेश्वर भगवान की पिण्डस्थ आदि अवस्थाओं के चिन्तन में भी मैत्री आदि भाव समाविष्ट हैं।

अत: किसी भी जिनोक्त वचन का सम्यक् प्रकार से चिन्तन करने वाले को उस भाव की स्पर्शना होती ही है जो भव-परम्परानाशक है।

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाएं

औपपातिक सूत्र में धर्म-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं बताई हैं—

१. अनित्यत्वभावना, २. अशरणत्व भावना, ३. एकत्व भावना और ४. संसार भावना ।

धर्मध्यान से अत्यन्त भावित चित्त वाले मुनिवर ध्यान के अंत में और नवीन रूप से ध्यानारूढ़

होने से पूर्व ध्यान में सहायक प्रेरक अनित्य आदि भावनाओं का जो चिन्तन करते हैं वही अनुप्रेक्षा उन्हें "अहं" एवं "मम" के द्वन्द्व से सर्वथा परे रहने का बल प्रदान करती है।

लेश्या – "लेश्या" शब्द "लिश्" धातु से बना है। लिश् का अर्थ है चिपकना, सम्बद्ध होना अर्थात् जिसके द्वारा कर्म आत्मा के साथ चिपकते हैं, बंधते हैं उसे "लेश्या" कहते हैं।

लेश्या आत्मा का परिणाम-अध्यवयास स्वरूप है।

धर्मध्यानी को तीव्र-मन्द आदि प्रकार की पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या क्रमशः विशुद्ध होती है अर्थात् धर्मध्यान के समय आत्म-परिणामों की विशुद्धि की वृद्धि होती है।

धर्मध्यान के बाह्य चिह्न

१. ऐसे साधकों को जिन-प्रणीत जीव आदि तत्त्वों के प्रति दृढ़ श्रद्धा होती है।
२. सुदेव एवं सुगुरु की भक्ति एवं सेवा करने में सदा सक्रिय होता है, उनके गुणों की प्रशंसा करने में सदा आगे रहता है।
३. श्रुताभ्यास, शील एवं संयम में प्रेम-पूर्वक प्रवृत्ति करता है।
४. लोकसंज्ञा का अनुसरण न करके जिनाज्ञा का अनुसरण करता है।

इन चिह्नों के द्वारा धर्मध्यान-धारक को पहचाना जा सकता है।

धर्म-ध्यान का फल

धर्मध्यान का फल अमोघ, अचिन्त्य और अपार है। कोई छद्मस्थ उसका पूर्ण मूल्यांकन नहीं कर सकता परन्तु सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवान के वचनानुसार उसका वर्णन करते हुए शास्त्रकार भगवान् ने बताया है कि—

धर्मध्यान के प्रभाव से शुभ आस्रव-पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है, संवर-आते हुए अशुभ कर्म रुक जाते हैं, निर्जरा-पुराने कर्मों का भी थोड़ा-थोड़ा क्षय होता है और परलोक में दैवी सुख की विपुल सामग्री प्राप्त होती है।

शुभ आस्रव का अनुबंध होने से क्रमशः उत्तम कुल, बोधि-लाभ, प्रव्रज्या, केवल-ज्ञान और मोक्ष प्राप्त होता है।

धर्मध्यान के प्रभाव से ये व्यक्तिगत लाभ प्राप्त होने के बाद समष्टि में भद्रंकर वातावरण अधिक समृद्ध बनता है।

२. परम ध्यान

मूलपाठ — परमध्यानं-शुक्लस्य प्रथमो भेदः-पृथक्त्ववितर्कसविचारम् ॥ २ ॥

अर्थ — शुक्ल ध्यान का "पृथक्त्व वितर्क" नामक जो प्रथम भेद है वह "परमध्यान" कहलाता है।

विवेचन—"**ध्यान शतक**" आदि ग्रन्थों में शुक्लध्यान के सम्बन्ध में विशेष जानकारी दी गयी है। प्रस्तुत विषय में उसके उपयोगी सार का निम्नलिखित विचार यहाँ किया गया है—

शुक्लध्यान के ध्याता को यह ध्यान सिद्ध करने के लिए विशेष पुरुषार्थ करना पड़ता है, जिसमें मुख्यतः समस्त गुणों के आधारभूत सत्व गुण का आश्रय लेना पड़ता है क्योंकि शुक्लध्यान निरालम्बन, निराकार एवं सदा आनन्दमय स्वभावयुक्त है। उस ध्यान रूपी प्रासाद को सुदृढ़ रखने के लिए सत्व स्तम्भ का कार्य करता है।

इस सत्व के वास्तविक रूप से विकास करने के लिए जिन चार आलम्बनों तथा चार अनुप्रेक्षाओं आदि का भगवती सूत्र[१] में उल्लेख किया गया है वह निम्नलिखित है—

शुक्लध्यान के चार आलम्बन

१. उत्तम क्षमा, २. उत्तम मृदुता, ३. उत्तम आर्जव और ४. उत्तम सन्तोष ।

जिन में ऐसी उत्तम प्रकार की क्षमा आदि होती है वे शुक्लध्यान के अधिकारी माने जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो क्षमा करनें में अत्यन्त शूरवीर होते हैं, पुष्प से भी अधिक मृदु हृदय वाले होते हैं, जल के समान पारदर्शक होते हैं और अनायास प्राप्त होने वाली सामग्री से सन्तोष अनुभव करने वाले होते हैं वे शुक्लध्यान के अधिकारी गिने जाते हैं।

शुक्लध्यान के चार लक्षण

१. **अव्यथ** — देवादिकृत उपसर्गों में भी व्यथा का अभाव होता है।
२. **असंमोह** — देवादिकृत माया-जाल अथवा सैद्धान्तिक सूक्ष्म पदार्थ विषयक संमोह मूढ़ता का अभाव होता है।
३. **विवेक** — देह से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान (भान) होता है।
४. **व्युत्सर्ग** — निस्सन्देहपूर्वक देह एवं उपधि का त्याग करते हैं।

---

१. **चत्तारि आलंबणा-खंती-मुत्ती-मज्जवे-मद्दवं।**
चत्तारि लकखणा-अव्वहे-असंमोहे-विवेगे-विउस्सग्गे।
चत्तारि अणुप्पेहाओ-अणंत वत्तियाणुप्पेहा-
विप्परिणामाणुप्पेहा-असुभाणुप्पेहा-अवायाणुप्पेहा।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं

शुक्लध्यान की व्युत्थान अवस्था में चार प्रकार की अनुप्रेक्षा का उपयोग किया जाता है जिनके द्वारा ध्याता के अन्तरंग परिणाम की सुरक्षा होती है तथा ध्यान की धारा का प्रवाह अखण्ड बना रहता है।

१. अनन्तवृत्तिता, अनुप्रेक्षा—अर्थात् आत्मा की अनन्त काल से अविच्छिन्न गति से चली आ रही भव-परम्परा का सम्यक् प्रकार से विचार करना।

२. विपरिणामानुप्रेक्षा — अर्थात् पदार्थों के प्रतिक्षण विविध रूप में होते परिणमन का यथार्थ रूप से चिन्तन करना।

३. अशुभानुप्रेक्षा — अर्थात् रागद्वेषात्मक संसार की अशुभता का, असारता का सम्यक् प्रकार से विचार करना।

४. अपायानुप्रेक्षा — अर्थात् हिंसा आस्रव द्वारों से होने वाले भयंकर अनर्थों का यथार्थ विचार करना।

यदि इन चारों प्रकार की अनुप्रेक्षाओं में मन लीन रहता है तो ध्यान तुरन्त लागू हो जाता है।

ध्यातव्य — ध्यातव्य अर्थात् जिसका ध्यान करना हो वह ध्येय ।

यहाँ शुक्लध्यान की चर्चा चल रही है अत: उसके ध्येय का विचार करना है जो इस प्रकार है—

आत्मा आदि द्रव्यों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि पर्यायों का विविध नय-द्रव्यास्तिक नय आदि के द्वारा पूर्वगत श्रुत के आधार पर चिन्तन करना शुक्लध्यान का ध्येय है।

इस ध्यान के चार प्रकार हैं जो चार पायों के रूप में प्रसिद्ध हैं।

प्रथम प्रकार अर्थात् प्रथम शुक्लध्यान

पृथक्त्व-''वितर्क-सविचार'' —प्रथम शुक्लध्यान अर्थात् शुक्लध्यान का प्रथम प्रकार है।

पृथक्त्व-वितर्क-सविचार से क्या तात्पर्य है?

''पृथक्त्व'' अर्थात् भेद से अथवा विस्तार से,

''वितर्क'' अर्थात् श्रुतज्ञान का विशिष्ट प्रकार से चिन्तन, और

''सविचार'' अर्थात् अर्थ, शब्द और योग में संक्रमण होना।

जो इन तीनों लक्षणों से युक्त होता है वह प्रथम शुक्लध्यान होता है। आइए अब इन तीनों लक्षणों का तनिक विस्तार से विचार करें।

पृथक्त्व — जिससे विस्तारपूर्वक (भेदपूर्वक) जीव अथवा पुद्गल आदि द्रव्यों के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदि पर्यायों अथवा अमूर्त आदि पर्यायों का एकाग्रचित्त से चिन्तन किया जाता है उसे ''पृथक्त्व'' कहते हैं।

अथवा श्रुतज्ञान के आधार पर एक द्रव्य से द्रव्यान्तर में एक गुण से गुणान्तर में और एक पर्याय से पर्यायान्तर में चिन्तन किया जाये वह भी ''पृथक्त्व'' है।[१]

वितर्क—जिस ध्यान में स्वशुद्धात्मानुभवरूप भावश्रुत के आलम्बन से उत्पन्न आन्तर-जल्पात्मक (अन्तरंग ध्वनिरूप) विमर्स होता है वह वितर्क कहलाता है।

सविचार—जिस ध्यान में एक अर्थ से अन्य अर्थ में, एक शब्द से अन्य शब्द में तथा एक योग से अन्य योग में संक्रमण होता हो वह ''सविचार'' कहलाता है।[२]

यहाँ ''अर्थ'' द्रव्य स्वरूप है, ''शब्द'' अक्षर-नाम स्वरूप है और ''योग'' मन-वचन-काया स्वरूप है। इसमें परस्पर संक्रमण होता है अर्थात् ध्यान का उपयोग बदलता रहता है, यह शुक्लध्यान का प्रथम प्रकार है।

यद्यपि यह ध्यान प्रतिपाती है तथापि विशुद्ध होने के कारण उत्तरोत्तर विशुद्धतर ध्यान (उत्तर गुणस्थानक) का साधक बनता है।

इस प्रकार धर्मध्यान के आज्ञाविचय आदि भेदों के सतत अभ्यास से परम-ध्यान प्रकट होता है। अतः उसकी यहाँ शुक्लध्यान के प्रथम प्रकार के रूप में गणना की गई है।

शुक्लध्यान का आंशिक स्वाद

''द्रव्यादिक चिन्ताए सार, शुक्लध्यान नो लहीए पार।''
ते माटे अेहि ज आदरो, सद्गुरु बिन मत भूला फिरो ॥''

आत्म-द्रव्य-गुण-पर्याय की भेद की चिन्ता से शुक्लध्यान का प्रथम भेद हो और उसकी अभेद चिन्ता से द्वितीय भेद हो तथा शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय की भावना से सिद्ध समापत्ति हो तो वह शुक्लध्यान का फल है।

प्रवचनसारेऽप्युक्तम्—

जो जाणदि अरिहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जवत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु तस्स जादि लयं ॥ १ ॥ ८० ॥[३]

---

१. सहभावी को गुण कहा जाता है और क्रमभावी को ''पर्याय'' कहा जाता है और जो गुण-पर्याय से युक्त होता है उसे द्रव्य कहा जाता है।

२. **सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वमुदाहृतम्।**
त्रियोगयोगिनः साधोराद्यं शुक्लं सुनिर्मलम्॥
श्रुतचिन्ता वितर्कः स्यात् विचारः संक्रमो मतः।
पृथक्त्वं स्यादनेकत्वं भवत्येतत्त्रयात्मकम्॥ —*गुणस्थान क्रमारोह*, श्लोक ६०-६१

३. ''प्रवचनसार'' में कहा है कि जो साधक अरिहन्त भगवान को द्रव्य, गुण और पर्याय से जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है और उसके मोह का क्षय हो जाता है।

पूज्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने स्वरचित "द्रव्यगुणपर्याय रास" में जो उपरोक्त तथ्य स्पष्ट किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मार्मिक है। इसमें से वर्तमान काल में भी शुक्लध्यान की आंशिक अनुभूति हो सकती है, ऐसा महत्त्वपूर्ण गर्भित निर्देश प्राप्त होता है।

गुरुकुल में रहकर, गुरु की सेवा में तत्पर रहने वाले मुनि संयम आदि क्रियाओं का विधिपूर्वक पालन करने के साथ द्रव्यानुयोग के अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासन में सतत मगन रहते हैं तो उन्हें क्रमशः धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान करने का सामर्थ्य अवश्य प्राप्त होता है।

पूर्वधर महर्षि, आत्मा की द्रव्य-गुण एवं पर्याय के रूप में भेद-नय से चिन्ता विचारणा करके शुक्लध्यान का प्रथम भेद "पृथक्त्व-वितर्क-सविचार" सिद्ध कर सकते थे और द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद रूप में आत्मा का चिन्तन करके शुक्लध्यान के दूसरे भेद "अपृथक्त्व-सवितर्क-अविचार" की कक्षा प्राप्त कर सकते थे परन्तु जिन्हें "पूर्व" का ज्ञान नहीं है वे मुनि भी शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय की भावना से सिद्ध भगवान के साथ "समापत्ति"[१] ध्यान के द्वारा एकता सिद्ध करके शुक्लध्यान का फल प्राप्त कर सकते हैं।

यह बात पूज्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने अपने "**द्रव्य-गुण-पर्याय के रास**" के टबे (टिप्पण) में कही है। "**योग-विंशिका**" की स्वरचित वृत्ति में भी "अनालम्बन-योग" में शुक्लध्यान का अंश अर्थात् आंशिक स्वाद होने के प्रतिपादन के माध्यंम से भी कही गई है।

"अप्रमत्त गुणस्थान प्राप्त करने वाले मुनियों को निर्विकल्प दशा में चिन्मात्र समाधि के अनुभव के समय निरालम्बन ध्यान होता है और वह सामर्थ्य-योग स्वरूप है।"

यह अनालम्बन योग मुख्यतः क्षपक श्रेणी में आरूढ़ मुनि को अपूर्वकरण गुणस्थानक में होता है, उससे पूर्व सातवें गुणस्थानक में भी पिण्डस्थ आदि तीन अवस्थाओं में से जब रूपातीत अवस्था भाव-ध्यान होता है तब ध्येयरूप सिद्ध भगवान के अरूपी गुण होते हैं इन अरूपी गुणों का ध्यान आंशिक शुक्लध्यान स्वरूप होने से अप्रमत्त मुनियों को भी अनालम्बन योग (सामर्थ्य-योग) अनुभवसिद्ध[२] है।

वर्तमान काल में भी अप्रमत्त भूमिका तक का अनालम्बन ध्यान सिद्ध किया जा सकता है, जो भवान्तर में उत्तरोत्तर श्रेणीगत विशिष्ट ध्यान की प्राप्ति में सहायक होता है।

धर्मध्यान में पिण्डस्थ आदि चार प्रकारों में अन्तिम प्रकार रूपातीत ध्यान है, जिसमें सिद्ध भगवान के अरूपी गुणों का चिन्तन किया जाता है। इस रूपातीत ध्यान के प्रभाव से निश्चय-नय से

---

१. समापत्ति-ध्याता, ध्यान एवं ध्येय की एकता।

२. **अतएवावस्थात्रयभावने रूपातीतसिद्धगुणप्रणिधानवेलायामप्रमत्तानां शुक्लध्यानांशों निरालंबनेऽनुभवसिद्ध एव।** –*योगविंशिका*, श्लोक ११ की वृत्ति

सिद्धस्वरूपी आत्मा के आंशिक परमानंद का अनुभव होता है इस तात्पर्य का स्पष्ट निर्देश "**योग-प्रदीप**" में इस प्रकार किया गया है:

"इस शुक्लध्यान से मुक्ति रूपी लक्ष्मी का परम आनन्द प्राप्त करने के लिए योगी को सदा रूपातीत तथा निराकार (आत्म) ध्यान करना चाहिए।[१]

रूपातीत ध्यान

निरंजन, निराकार, चिदानन्द स्वरूप सिद्ध भगवान का ध्यान "रूपातीत ध्यान" कहलाता है।

निरंजन (सर्वकर्मरहित) सिद्ध स्वरूप के आलम्बन के द्वारा निरन्तर उनका ध्यान करने वाला योगी, ग्राहक भाव अर्थात् "परमात्मा ध्येय हैं और मैं ध्याता" इस भेदभाव की दीवार दूर करके तन्मय होता है अर्थात् ध्याता, ध्येय-सिद्ध परमात्मा में लीन हो जाता है अर्थात् ध्याता स्वयं ध्येय स्वरूप हो जाता है।

सिद्ध परमात्मा के साथ यह एकरूपता ही "समरसी-भाव" है। परमयोग-साम्राज्य के सम्राट् अहर्निश इस भाव में मग्न होते हैं।

"योग" शब्द को उलटा करने पर "गयो" हो जाता है ।"गयो" तो कहाँ गया? तो कहा कि राग-द्वेष रूपी पर-घर में से वीतराग-वीत-द्वेष स्वरूप स्व-घर में गया । इस योग-प्रयोग के सतत अभ्यास के पश्चात् परमात्म-मिलन की कला में कुशलता प्राप्त होती है।

परमात्म-मिलन की कला

जब सिद्ध परमात्मा के शुद्ध स्वरूप के चिन्तन में ध्याता की चित्त-वृत्ति एकरूप बनती है तब उनका गुह्य-गुप्त स्वरूप अनुभव में आता है। परमात्मा केवलज्ञान गुण के द्वारा सर्वव्यापी है अर्थात् अनन्त सिद्ध भगवान एवं केवलज्ञानी भगवान अपने केवलज्ञान गुण के द्वारा ध्याता के प्रत्येक प्रदेश में व्याप्त है और उनके गुण-चिन्तन में तदाकार बना साधक भी उन सिद्ध भगवन्तों एवं केवली भगवन्तों के केवलज्ञान रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित है।

इस प्रकार ध्याता अनन्त सिद्ध स्वरूप ध्येय भाव का अनुभव करने के बाद परम आत्मस्वरूप की प्रतीति के द्वारा परमानन्द की अनुभूति करता है, यही सच्चा परमात्म-मिलन है, परमात्म-साक्षात्कार है।

जब हमारी योग्यता परिपूर्ण रूप से विकसित होती है तब परमात्मा के परम गुप्त स्वरूप के साथ

---

१. **मुक्ति-श्रीपरमानंदध्यानेनानेन योगिना।**
रूपातीत निराकारं ध्यानं ध्येयं ततोऽनिशम्॥
-*योगप्रदीप*, श्लोक १०७

तादात्म्य स्थापित होता है, तत्पश्चात् मैं परमात्मा हूँ—यह सत्य अस्थि-मज्जावत् हो जाता है।

यह बात हम पूज्य श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरीश्वरजी महाराज के अनुभूत शब्दों में देखें—

''जिनो दाता जिनो भोक्ता, जिनः सर्वमिदं जगत् ।
जिनो जयति सर्वत्र, यो जिनः सोऽहमेव च ॥''

—*शक्रस्तव*, श्लोक ३

अर्थ — जिनेश्वर भगवान ही दाता है, भोक्ता है। इस समस्त विश्व के समस्त जीव भी स्वरूप से जिन हैं। अत: जिनेश्वर परमात्मा की सर्वत्र जय होती है। जो ''जिन'' है वही ''मैं'' हूँ।

निजत्व निरपेक्ष अवस्था को प्राप्त योगीवर्य ऐसे विधान के द्वारा जीव में प्रच्छन्न शिवत्व को परम स्नेह-पूर्वक सिद्ध करने का निर्देश देते हैं।

आत्मा के अतिरिक्त ''मैं'' का सर्वथा विसर्जन करने के बाद ही आत्मा में ''जिन'' दृष्टिगोचर होता है, ''जिन'' में आत्मा दृष्टिगोचर होता है और इस अवस्था में ही उक्त प्रकार के अभेदात्मक उद्‌गार सहज बनते हैं।

अतएव शास्त्रों का कथन है कि ध्याता जितने समय तक जिनेश्वर भगवान के ध्यान में, उपयोग में रहता है उतने समय तक 'आगम से' वह भाव-जिन-रूप बनता है।

जिनेश्वर भगवान के उपयोग में रहना अर्थात् अपनी समग्रता के किसी एक अंश का भी उपयोग जिनेश्वर भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी को न करने देना अर्थात् जिनेश्वर भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय में अंपनी समग्रता को ड़ाल देना, घुला देना।

इस प्रकार परमात्मा की पूर्ण कृपा से चित्त निर्मल होने पर स्वात्मा के परमात्म स्वरूप की अपूर्व अनुभूति होती है यही परमात्म दर्शन है और परमात्ममिलन भी यही है।

जिन्होंने अपने संयम जीवन में अप्ट प्रवचन माताओं की सुसेवा के द्वारा समापत्ति ध्यान की पात्रता प्रकट करके जिनेश्वर भगवान के साथ एकरूपता सिद्ध करने की दिशा में अनुपम प्रगति की है ऐसे अनुभव-योगी पुरुपों के उद्‌गार सचमुच रोमांचकारी और हृदय-वीणा के तार झंकृत करने वाले हैं।

शुक्ल-ध्यान के अधिकारी

प्रथम संघयण वाले पूर्वधर (पूर्व के ज्ञान के ज्ञाता) समर्थ महापुरुष ही इस शुक्लध्यान के प्रधान अधिकारी हैं क्योंकि अल्प सत्त्व वाले जीवों का मन किसी भी प्रकार से इस शुक्ल-ध्यान में निश्चलता प्राप्त नहीं कर सकता।

शुक्लध्यान के लिए विशिप्ट सत्त्व और विशिप्ट श्रुतज्ञान अपेक्षित है।

विशिप्ट सत्त्व के द्वारा समस्त प्रकार के उपसर्गों के विरुद्ध अडिग-अचल रहा जा सकता है।

विशिप्ट श्रुताभ्यास के बल पर मन निस्तरंग बनता है और समस्त कुविकल्पों का शमन हो जाता है।

इस कारण उपरोक्त लक्षण युक्त सत्त्वशाली पूर्वधर महर्षि ही शुक्लध्यान के सच्चे अधिकारी हैं।

''मासतुष'' मुनिवर तथा मरुदेवा माता आदि ''पूर्वों'' के ज्ञाता नहीं होने पर भी अन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति धर्मध्यान के प्रकर्ष से हुए शुक्लध्यान से हुई ऐसा स्पष्ट विधान है।

धर्मध्यान में पिण्डस्थ, पदस्थ एवं रूपस्थ ध्यान का भी अन्तर्भाव है और ये तीनों भेद रूपातीत ध्यान को (जो शुक्लध्यान स्वरूप है) प्राप्त करने के तीन सोपान हैं।[१]

शुक्लध्यान रूपी ऊंचे महल में पहुँचने का सोपान है। पिण्डस्थ आदि चारों प्रकारों का समावेश आगे के ध्यान-प्रकारों में ग्रन्थकार ने स्वयं ही किया है।

प्रथम ध्यान-मार्ग में निर्दिष्ट आज्ञाविचय आदि तथा पिण्डस्थ आदि समस्त प्रकारों के यथायोग्य अभ्यास से साधक में ''परमध्यान'' रूप शुक्लध्यान करने की शक्ति प्रकट होती है।

जब चित्त पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ध्यान से निवृत्त होकर उन्मनीभाव प्राप्त करता है तब वह निराकार महासूक्ष्म-ध्यान कहलाता है और वह शुक्लध्यान का अंश बन जाता है। इस महासूक्ष्म-ध्यान के अभ्यास से ही शुक्लध्यान प्राप्त होता है।[२]

३. शून्यध्यान

मूलपाठ — **शून्यं-चिन्ताया उपरमः। द्रव्यशून्यं क्षिप्तचित्तादिना**
द्वादशधा खित्तेदित्तुम्मत्ते राग-सिणेहाई भयमहडव्वत्ते।
निद्दाई-पंचगेणं बारसहा दव्वसुन्नं ति ॥
भावतो व्यापारयोग्यस्यापि चेतसः सर्वथा व्यापारोपरमः ॥

अर्थ — जिसमें चिन्ता का उपरम (अभाव) हो उसे शून्य कहा जाता है। इसके दो भेद हैं—
१. द्रव्य-शून्य और २. भावशून्य।

''द्रव्यशून्य'' के ''क्षिप्त-चित्त'' आदि बारह भेद हैं—१. क्षिप्त, २. दीप्त, ३. उन्मत्त, ४. राग, ५. स्नेह, ६. अतिभय, ७. अव्यक्त, ८. निद्रा, ९. निद्रा-निद्रा, १०. प्रचला, ११. प्रचला-प्रचला और १२. स्त्यानर्द्धि।

भाव-शून्य—चित्त (शुभाशुभ विचारादि रूप) व्यापार के योग्य होते हुए भी उसके व्यापार का

---

१. **पिण्डस्थपदरूप भेदाः शुक्लध्यानस्य ये पुरा।**
उक्तास्तस्यैव रोहार्थं, प्रासादे पदिकं यथा॥
– *योगप्रदीप*, श्लोक ६४

२. **न किञ्चिच्चिंतयेच्चित्तमुन्मनीभावसंगतम्।**
निराकारं महासूक्ष्मं महाध्यानं तदुच्यते॥
– *योगप्रदीप*, श्लोक ६३

सर्वथा उपरम किया जाए वह "भावशून्य" कहलाता है अर्थात् चित्त-वृत्तियों की सर्वथा निवृत्ति होना "भावशून्य" ध्यान कहलाता है।

विवेचन — डण्डे की मार की अपेक्षा अशुभ विचार की मार मनुष्य की अधिक दुर्दशा करती है।

अपने तन, वचन, और मन को शुभ व्यापार में जोड़कर शुद्ध की ओर प्रवृत्त करने के लिए इन तीनों को शान्त और मौन करना पड़ता है।

ऐसा करने से सच्चे एवं पूर्ण "विराम" के आनन्द की उपलब्धि होती है।

ऐसा विराम समस्त शुभाशुभ विचारों से सर्वथा मुक्त पूर्ण-परमात्मा के चरण-कमलों में प्राप्त होता है क्योंकि वे राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त हैं।

अतः आत्म-स्वभाव में रमण करने के लिए सर्वप्रथम सर्वथा शुद्ध-पूर्ण परमात्मा के चारों निक्षेपों की अनन्य भाव से आराधना करने की शास्त्राज्ञा है, जिसका हमने प्रथम ध्यान-भेद में सम्यक् रूप से विचार किया है। उक्त आराधना के अभ्यास में वृद्धि होते-होते आराधक स्वयं आराध्य आत्म-स्वरूप में स्वयं को देखने, जानने और अनुभव करने लगता है। यही भावशून्य (विकल्प-रहित) दशा है।

भावशून्य-ध्यान में चित्त के चिन्तन-व्यापार सर्वथा शान्त हो जाते हैं। जब चित्त चिन्तन-व्यापार के लिए समर्थ होता है तब उसे आत्मवीर्य (आत्म-शक्ति) की प्रबलता के द्वारा संकल्प-विकल्प रहित बनाने को ही "भावशून्य" ध्यान कहते हैं।

अमनस्कयोग, उन्मनीभाव, निर्विकल्प अवस्था अथवा परम उदासीनता आदि "भावशून्य" अवस्था के सूचक पर्यायवाची नाम हैं।

सब प्रकार के सविकल्प ध्यानों का अन्तिम फल निर्विकल्प दशा का योग है और वही शुद्ध आत्म-स्वभाव का सुयोग है । इस अवस्था में पहुँचा हुआ ध्याता आत्मा के शुद्ध स्वभाव में ही मग्न रहता है अर्थात् देह आदि पर पदार्थों के धर्म से सर्वथा परे हो जाता है।

समस्त संयोगो में, सब प्रकार की अवस्था में अशुभ विकल्प हेय है, त्याज्य है, परन्तु परम-ध्यान गिरि के चरम शिखर पर आरोहण करने में शुभ विकल्प भी भार रूप सिद्ध होते हैं, जैसे हिमालय के उत्तुंग शिखर पर चढ़ने वाले व्यक्ति को अपने वस्त्र भी बोझ स्वरूप प्रतीत होते हैं।

इस बात की अधिक स्पष्टता बाबागाड़ी (चालणगाड़ी) के उदाहरण से हो जाती है। बालक के लिए वह हितकर अवश्य है परन्तु प्रौढ़ व्यक्ति की चाल में सहायक बनने की अपेक्षा वह अवरोधक बनती है।

इससे स्पष्ट है कि बाल स्तर के आराधक जीवों के लिए उपकारी शुभ विकल्पों को प्रौढ़ आराधकों को विवेकपूर्वक त्याग देना चाहिए।

जल में जो शक्ति होती है उसकी अपेक्षा अधिक शक्ति उसी जल से उत्पन्न भाफ में होती है। उसी प्रकार से शुभ विकल्प में जो शक्ति होती है उसकी अपेक्षा अत्यन्त अधिक शक्ति शुद्ध आत्म-स्वभाव में होती है। तन्मयता अर्थात् तदरूपता लाने के लिए शुभ विकल्पों के परित्याग का आदेश उस कक्षा के आत्माओं के लिऐ ही परमोपकारी महर्षियों ने दिया है।

नय, गम, भंग के द्वारा तत्त्वों का चिन्तन करते-करते पूर्वधर महर्षि उस चिन्तन के सुफल के रूप में निर्विकल्प दशा में पहुँचकर आत्मानुभव के दिव्य मण्डल में झूलते हैं।[१]

इस प्रकार की अनुभव दशा प्राप्त करने के लिए "योग-प्रदीप" में अनुभव-सिद्ध प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं।

"अपने मन को सर्वप्रथम भ्रू भाग (बिन्दु-स्थान) पर स्थिर करके पर का अवलोकन करना जिससे निरंजन आत्मा के दर्शन हों ।"

"मेरी आत्मा आनन्दमय है, शान्त-दान्त है। ऐसे शुद्ध आत्म-स्वरूप का जिस समय ध्यान होता है उस समय अपार कर्मों की निर्जरा होती है।"

इस प्रकार आत्मा का भावन करके ध्यान करने से विचारों की सीमा से बाहर रहते हुए आत्मानन्द की अपूर्व अनुभूति होगी, जिससे भव की भ्रान्ति का सम्पूर्ण त्याग हो जायेगा ।

विचार पराये हैं, ज्ञान की अग्नि हमारी अपनी है। विचार हमारी सीमा है, इन्द्रियाँ हमारी सीमा है। अत: इन सबके द्वारा जो ज्ञात हो सकता है वह ससीम होता है। असीम (अनन्त) को जानने के लिए उससे ऊपर उठना होगा । इन्द्रियों से परे चित्त की विचार-शून्य अवस्था में जिसका साक्षात्कार होता है, वही अनन्त-असीम अनादि आत्मा है।

आत्मा को पहचानने की आँख अनोखी ही है। वही समाधि है और वही योग है। चित्त-वृत्तियों के विसर्जन से वे बन्द आँखे खुलती हैं और सम्पूर्ण जीवन अमृत-प्रकाश से आलोकित एवं रूपान्तरित हो जाता है। वहाँ विचार नहीं दर्शन है।

जहाँ विचार-वृत्तियाँ और चित्त नहीं हैं वहाँ दर्शन है। शून्य के दर्शन होते हैं।

"मात्र देखना"—इस बिन्दु पर स्थिरता आते ही विचार क्रमशः विलीन हो जाते हैं।

जिसे पूर्ण होने की लौ लगी है वह भौतिकता से रिक्त एवं शून्य हो जाता है। जो शून्य हो जाता है वह स्वयं पूर्ण को प्राप्त होता है और आध्यात्मिक रीति से पूर्णता सिद्ध करता है। उस समय ध्याता एवं ध्यान प्रत्यय का अभाव होने से ध्येय के साथ आत्मा की एकता का अनुभव होता है। इसे "समरसी-भाव" कहते हैं।[२]

इस ग्रन्थ में ही आगे जाकर उन्मनीकरण एवं उन्मनीभवन आदि करण जो निर्विकल्प समाधिरूप हैं उनका वर्णन हुआ है, वे भावशून्य आदि ध्यान के दीर्घकालीन अभ्यास से साध्य हैं अर्थात् चित्त की निर्विकल्प अवस्था सिद्ध करने के लिए "भावशून्य-ध्यान" पूर्वाभ्यास है।

आत्मिक शुद्धि एवं स्थिरता के लक्ष्य के बिना केवल विचारों से, मन को शून्य बनाने की प्रक्रिया के द्वारा भावशून्य ध्यान के आनन्द का अनुभव नहीं किया जा सकता ।

---

१. **नय अरू भंग निक्षेप विचार, पूर्वधर थाके गुण हेरी।**
विकल्प करत ताग नहि पाये, निर्विकल्प ते हेत भयी री॥

—पूज्य चिदानन्दजी महाराज

२. *योगप्रदीप*, श्लोक ५८ से ६५

चित्त की क्षिप्त आदि बारह अवस्थाएँ, जिनका आगे वर्णन किया जा रहा है। उनमें उस प्रकार के कारणों से चित्त विचार शून्य बनता है, जिसे द्रव्य ध्यान कहते हैं, परन्तु उसकी भाव-ध्यान के साथ तुलना नहीं की जा सकती । उन्मनीभाव स्वरूप शून्य ध्यान (२४ ध्यानों में से तीसरा प्रकार) यह ध्यान और परम-ध्यान पारंगत पुरुष ही कर सकते हैं—यह नियम अटल है।

चित्त की बारह अवस्थाओं का वर्णन

१. **क्षिप्त** — अर्थात् अपना धन आदि चोरी हो जाने पर जिसके चित्त में विभ्रम उत्पन्न हो वह चित्त की क्षिप्तावस्था है।

२. **दीप्त** — अर्थात् शत्रु पर बार-बार विजयी होने आदि कारणों से प्राप्त उत्कर्ष के अपाचन को चित्त की दीप्तावस्था कहते हैं।

३. **मत्त** — मदिरा-पान से उन्मत चित्त को मत्त कहते हैं।

४. **राग** — पौद्गलिक पदार्थों के प्रति प्रेम, विषय-सुखों की आसक्ति ।

५. **स्नेह** — पुत्र, परिवार आदि के प्रति प्रेम ।

६. **अतिभय** — सात प्रकार के महाभय।*

७. **अव्यक्त** — समझ-विहीन चित्त अव्यक्त कहा जाता है।

८. **निद्रा** — सुखपूर्वक शीघ्र जग सके वैसी नींद ।

९. **निद्रा-निद्रा** — कष्टपूर्वक जग सके वैसी प्रगाढ़ नींद।

१०. **प्रचला-प्रचला** — चलते-चलते नींद आती है वह ।

११. **प्रचला** — बैठे-बैठे नींद आती है वह।

१२. **स्त्यानर्द्धि** — दिन में सोचा हुआ कार्य रात्रि में नींद में कर सके वैसी अत्यन्त प्रगाढ़ नींद । ये बारह प्रकार की अवस्थाएँ संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवों को हो सकती हैं।

---

* सात महाभय-

१. *इहलोकभय*—मनुष्य को सजातीय मनुष्य आदि का (पारस्परिक) भय।

२. *परलोक भय*—पर-विजातीय पशु आदि की ओर से मनुष्य को भय।

३. *आदान भय*—चोर आदि से उत्पन्न भय।

४. *अकस्मात् भय*—किसी बाह्य निमित्त के बिना ही अचानक मन में उत्पन्न होता भय।

५. *आजीविका भय*—जीवन-निर्वाह के साधन से सम्बन्धित भय।

६. *मृत्युभय*—मौत का भय।

७. *अश्लाघा भय*—अपयश, बदनामी का भय।

प्रकट मन-विहीन एकेन्द्रिय आदि जीवों को तथा असंज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवों को द्रव्य-शून्य अवस्था सहज ही होती है।

पुण्योदय से स्वयं को प्राप्त उत्तम सामग्री का सत्कार्य में त्याग करना ही उसकी सार्थकता है। उसी प्रकार से पुण्योदय से प्राप्त मन परमात्मा को समर्पित करने में उसकी सार्थकता है शून्य बनकर पूर्ण बनने की यह कुंजी है।

४. परम-शून्य ध्यान

मूलपाठ — परम-शून्यं-त्रिभुवनविषय-व्यापि चेतो विधाय ।

एकवस्तुविषयतया संकोच्य ततस्तस्मादप्यपनीयते ॥ ४॥

अर्थ — चित्त को प्रथम तीन भुवन रूपी विषय में व्याप्त करके, तत्पश्चात् उनमें से एक वस्तु में संकुचित करके, फिर उस एक वस्तु में से भी चित्त को हटा लिया जाए तो उसे ''परम-शून्य'' कहा जाता है ।

विवेचन — इस परम शून्यध्यान में चित्त की एकाग्रता का उत्कर्ष होता है । इसमें त्रिभुवन-व्याप्त मन को क्रमशः संकुचित करके एक परमाणु पर स्थापित किया जाता है ।

''**ध्यान-शतक**'' में शुक्लध्यान का क्रम बताते हुए कहा गया है कि [1]त्रिभुवन-विषय-व्याप्त चिन्तन को क्रमशः संक्षिप्त कर अन्त में एक आत्म-तत्त्व अथवा परमाणु के विषय वाला बनाकर फिर उससे मन को हटा लिया है तब मन रहित अवस्था प्राप्त होती है।[2]

त्रिभुवन-व्यापी चित्त क्रमशः अल्प विषय-युक्त बनता है और जब चित्त किसी एक आत्मा आदि वस्तु के एक ही पर्याय के चिन्तन में निश्चल बनता है तब शुक्लध्यान का दूसरा प्रकार ''एकत्व-वितर्क-सविचार'' होता है । द्वितीय प्रकार के लक्षणों से यह फलित होता है। वे लक्षण निम्नलिखित हैं—

श्रुतज्ञान के सुदृढ़ अभ्यास और तज्जनित परिणति के प्रभाव से एक पदार्थ के चिन्तन के पश्चात् तुरन्त अन्य पदार्थ का तथा एक शब्द से शब्दान्तर का चिन्तन करे अथवा एक योग से अन्य योग का आलम्बन ले—इस प्रकार विभिन्न अर्थों के चिन्तन में दृढ़ अभ्यास होने से आत्मगुण का आविर्भाव होने पर साधक जब एकत्व चिन्तन की योग्यता प्राप्त कर लेता है तब वह एक ही योग के आलम्बन से उत्पाद आदि एक ही पर्याय का ध्यान करता है ।

---

१. त्रिभुवन-विषयता-जैसे केवली भगवान केवली समुद्घात करते समय चौथे समय में अपने आत्म-प्रदेशों को सर्वलोक-व्यापी बनाते हैं उस अवस्था का ध्यान करने से हमारे चित्त का विषय सम्पूर्ण लोक बन सकता है।

२. **तिहुयण-विसयं कमसो संखिविउ मणो अणुंमि छउमत्थो।**
झायइ सुनिप्पकंपो झाणं अमणो जिणो होइ॥

– *ध्यानशतक*, गाथा-७०

५. कलाध्यान

मूलपाठ — कला-द्रव्यतो मल्लादिभिर्नाडीचम्पनेन या चटाप्यते, भावतस्तु अत्यन्ताभ्यासतः स्वयमेव देश-काल-करणाद्यनपेक्ष्य या समरोहति, अन्येन त्ववतार्यते, यथा पुष्पभूतेराचार्यस्य पुष्प (ष्य) मित्रेण कलाजागरणं कृतम्॥ ५॥

अर्थ — "कला" के दो प्रकार हैं—१. द्रव्यकला और २. भावकला। मल्ल आदि लोग नाड़ी दबाकर उतरे हुए अंग को चढ़ाते हैं—यह द्रव्यकला है परन्तु अत्यन्त अभ्यास के कारण देश, काल तथा करण आदि की अपेक्षा के बिना अपने आप ही चढ़े और अन्य के द्वारा उतारा जाए यह भाव-कला है।

जिस प्रकार मुनि पुष्पमित्र ने आचार्य पुष्पभूति की कला (समाधि) जागृत की थी, उतारी थी। इस कथा के लिए देखिए परिशिष्ट (१)।

विवेचन — द्रव्य-कला की बात इसलिए प्रस्तुत की गई है कि ध्यान-मार्ग के अभ्यासी को भाव-कला का स्वरूप समझने में सरलता रहे।

पहलवान तथा कुशल जर्राह (अस्थि चिकित्सक) आदि बाह्य प्रयत्न से मानव आदि के उतरे हुए अंगोपांगों को पुनः उनके उचित स्थान पर यथावत् जमा देते हैं। इस कला को द्रव्य-कला कहते हैं। यह कला आत्मोत्थान की दिशा में हेतुभूत नहीं बनती।

भाव-कला उसे कहते हैं जिसमें कुण्ड़लिनी का ऊर्ध्वगमन होने से अन्य किसी की भी सहायता के बिना "समाधि" प्राप्त होती है।

ध्यान योग के सतत् अभ्यास से कुण्डलिनी-प्राण शक्ति ऊर्ध्वगामी बनती है जिसमें किसी देश, काल, करण अथवा आसन आदि साधनों की विशेष अपेक्षा नहीं रहती। ध्यान में यथाप्रकार की प्रबलता आने पर वह अनायास ही स्फुरित होती है और उस समय ध्याता को अपूर्व "समाधि" का अनुभव होता है।

इस समाधि-अवस्था में दीर्घ काल तक मग्न रहा जा सकता है परन्तु उसमें से जब पुनः लौटना होता है तब व्योम में उड़ते वायुयान को नीचे उतरने के लिए जिस प्रकार सुदृढ़ हवाई-पट्टी की आवश्यकता होती है उसी प्रकार दृढ़ साधना के बल वाले उत्तर साधक की आवश्यकता होती है।

इस तथ्य के प्रमाणस्वरूप आवश्यक-सूत्र की बृहद्-वृत्ति में पूज्य श्री हरिभद्र सूरीश्वरजी महाराज ने जिस प्रसंग का उल्लेख किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि आचार्य पुष्यभूति महाराज की ऊर्ध्वगामी बनी हुई कला-कुण्डलिनी का पुनः अवतरण मुनि पुष्यमित्र ने उनके अंगूठे के स्पर्श से किया था।

कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान होने से साधक को जिस अलौकिक अनुभव-प्रकाश की प्राप्ति होती है जिसके स्वरूप का वर्णन पूज्य श्री चिदानन्दजी महाराज ने एक स्वरचित आध्यात्मिक पद में किया है वह इस प्रकार है—

सोहं सोहं सोहं सोहं सोहं सोहं रटना लगीरी।
इंगला पिंगला सुषुम्ना साधके अरुणपति थी प्रेम पगीरी।
वंकनाल षट्चक्र भेदके, दशम द्वार शुभ ज्योति जगीरी।
खुलत कपाट घाट निज पायो, जनम-जरा-भव-भीति भगीरी।
काच शकल तज चिंतामणि लई, कुमति कुटिल कुं सहज ठगीरी।
व्यापक सकल स्वरूप लख्यो इम, जिम नभमे मग लहत खगीरी।
चिदानंद आनंद मुरति निरख प्रेम भर बुद्धि थगीरी॥

भावार्थ — अर्हं आदि मन्त्र-पदों को दीर्घकालीन ध्यानाभ्यास से जब ध्याता की आत्मा में अक्षर के स्थान पर अनक्षर ध्वनि रूप ध्यान की धारा बहती है तब ''सोऽहं'' का नाद अक्षरात्मक मिटकर ध्वन्यात्मक बनता है।

उस नाद को ध्याता की आत्मा ही सुनती है। उस नाद के सहज प्रभाव से प्राण-शक्ति इंगला, पिंगला के मार्ग को त्यागकर सुषुम्ना में प्रविष्ट होती है। उस समय ध्याता स्व-आत्मराज के दर्शनार्थ ध्येय-स्वरूप को प्राप्त करने के लिए आतुर, उत्कंठित होता है, तब उससे उसकी प्राण-शक्ति वक्रनाल (पीठ की रीढ़ का भाग) और षटचक्रों को भेदन करके दसवें द्वार ब्रह्मरंध्र में पहुँच जाती है। वहाँ अनुभव-ज्योति प्रकट होती है आत्म-मन्दिर के द्वार खुल जाते हैं अर्थात् बादलों के छँटने पर सूर्य निकल आता है, उस प्रकार ऐसे कर्म के आवरण दूर होने पर स्वात्मरवि के दर्शन होते हैं, जिससे आत्मा आत्मा को आत्मा के रूप में अनुभव करती है। यही स्वात्मानुभूति है। तत्पश्चात् जिसकी जन्म-मृत्यु नहीं है उस आत्मा का ही साम्राज्य सर्वत्र स्थापित होता है, जिससे जन्म-मरण के भय नष्ट हो जाते हैं। ''अब हम अमर भये''—यह सत्य जिया जाता है, कुटिल कुमति को ठग कर ध्याता चिन्तामणि तुल्य स्वात्म-दर्शन को प्राप्त करता है और व्योम-विहारी पक्षी की तरह आत्मा के चराचर व्यापी स्वरूप को अस्थि-मज्जावत् बनाकर चिदानन्दमय स्वरूप में ही स्थिरता प्राप्त करता है।

कुण्डलिनी का स्वरूप

जैन ग्रन्थों में कुण्डलिनी शक्ति का निर्देश अनेक स्थानों पर दृष्टिगोचर होता है, जिनमें से कुछ निर्देश निम्नलिखित हैं—

१. जिन योगीश्वरों ने ध्यानाभ्यास की पराकाष्ठा से पवन सहित चित्त का निरोध करके और इस प्रकार मानसिक विक्षेपों को दूर करके सहज रीति से निरूपम आनन्द से भरपूर रसयुक्त स्वानुभव रूप प्रबोध प्राप्त किया है उनके द्वारा स्वाधीन पवन से ब्रह्मरन्ध्र को पूर्ण करके, जिसमें जिनके स्वरूप का ध्यान कुण्डलिनी में किया जाता है, वे अचिन्त्य महिमामय सर्वज्ञ परम पुरुष परमात्मा जय को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार कुण्डलिनी का स्पष्ट उल्लेख ''**सर्वज्ञाष्टक**'' में पूज्य श्री मुनिसुन्दर सूरीश्वरजी

महाराज ने सर्वज्ञ परमात्मा की स्तुति में किया है।

२. श्री सिद्धसेन सूरिकृत "**सिद्धमातृकाभिध धर्म प्रकरण**" में कुण्डलिनी के सम्बन्ध में इस तरह का निर्देश है—

लोक को नौ तत्त्व (ज्ञान के रूप में) प्रदान करती है, नौ प्रकार के जीवों की सत्ता (अस्तित्व) समझाती है, नौ प्रकार के पाप-कारणों के समूह को नष्ट करती है अतः गुणवान पुरुष इस कुण्डलिनी शक्ति को "भलि" कहते हैं।

समस्त बीजांकुर एवं विद्युत् की आकृति से मानों पाताललोक, मर्त्यलोक और स्वर्गलोक को धारण करती हो वैसी यह पराशक्ति कुण्डलिनी प्रतीत होती है जो बालकों द्वारा "भलि" के नाम से बारहखड़ी से पूर्व बार-बार लिखी जाती है।

हे भले! भले! कुण्डलिनी! जब तू जड़ता रूपी अंधकार का नाश करती है तब तू महाभूतों के गुण रूप अपनी अद्भुत लक्ष्मी प्रदान करती है और इसके साथ-साथ सनातन ज्ञान-धन भी प्रदान करती है।

३. श्री विनयचन्द्रसूरि-रचित "**काव्य-शिक्षा**" में प्राप्त कुण्डलिनी का निर्देश—

"भलि" के नाम से प्रख्यात जो पराशक्ति है वह आद्यशक्ति है, परा भगवती है, कुब्जा-कृति की धारक है, जिसका रेखा अथवा कुण्डलिनी के रूप में वर्णन किया जाता है। वह द्वादशान्त तक के समस्त मध्यम मार्ग की प्रकाशिका है, जिसका पुस्तकों अथवा बारहखड़ी के प्रारम्भ में आलेखन किया है। काव्यों के मंगलाचरणों में उसकी स्तुति सुनी जाती है। वह देवता है ब्रह्ममयी है वह सिद्धि है, वह आपको पवित्र करे।

४. "**ध्यानदंड़क**" स्तुति में कुण्डलिनी का निर्देश—

जिस पर जिनेश्वर भगवान प्रसन्न होते हैं वह अग्नि के समान अपान को संकुचित करके और बिस तन्तु के समान सूक्ष्म रूप वाली प्राण-शक्ति का ऊर्ध्वगमन कर सके अर्थात् मूलाधार से उत्थापित करके वह हृदय-कमल-कोश में (अनाहत चक्र में) धारण करके तत्पश्चात् गले में (विशुद्ध चक्र में), फिर तालू में (घंटिका चक्र में) धारण करके उस प्राण-शक्ति को शून्यातिशून्य खगति में (आज्ञा चक्र से द्वादशान्त तक के प्रदेश में) ले जाती है तब वह सब ओर से लोकालोक का अवलोकन करने वाली वह देदीप्यमान कला को (केवल ज्ञान को) प्राप्त करती है।

५. "**अध्यात्म-मातृका**" में कुण्डलिनी का उल्लेख—

योगी पुरुष कुण्डलिनी शक्ति से "भले" अथवा "भलि" के नाम से परिचित हैं। इस शक्ति का वर्णन वेदों, पुराणों तथा आगमों से प्रमाणित है।

नाभि के मूल के समीप वरुण-चक्र एवं अग्नि-चक्र के मध्य में एक अत्यन्त सुन्दर नागिन है, जिसका नाम कुण्डलिनी शक्ति है।

स्थिर आकुंचन (मूल-बंध) करने से और उड्डीयान बंध करने से यह योगिनी (कुण्डलिनी-शक्ति) जागृत होती है तथा जगत् में सूर्य की तरह उदित होती है। कुण्डलिनी शक्ति दैवी शक्ति है, जिसका स्थान दीपक के समान प्रकाशमय है।

६. "**शारदा-स्तव**" में कुण्डलिनी का निर्देश—

वह अनिर्वचनीय प्रभावशाली कुण्डलिनी-शक्ति योगियों को सुविहित है और उनके द्वारा इसकी विविध प्रकार से महिमा गायी गयी है। यह नाभिकंद से सम्यक् प्रकार से उद्गत होकर (मध्यम मार्ग से ऊर्ध्वगति प्राप्त करके) ब्रह्मरन्ध्र में विलीन होती है।

ब्रह्मरन्ध्र में विलीन होने वाली उस कुण्डलिनी-शक्ति से निरन्तर प्रविकस्वर, उपाधि-रहित एवं परमोत्कृष्ट परम आनन्द रूपी अमृत झरता है। ऐसी कुण्डलिनी-शक्ति को जब कविवर स्मृति-पथ में लाते हैं तब वह काव्य रूप फलों के समूह को जन्म देती है।

कुण्डलिनी प्रसुप्त भुजगाकार है, स्वयं उच्चारणशील अनच्क (स्वर-रहित) "ह" कार रूप है। इस "ह" कार को ही परम बीज भी कहते हैं।

महाशक्ति स्वरूप कुण्डलिनी जब प्रबुद्ध होती है तब प्राण ब्रह्मरन्ध्र में लीन[१] होते हैं।

७. "**योगशास्त्र**" में कुण्डलिनी का उल्लेख—

अथ तस्यान्तरात्मानं प्लाव्यमानं विचिन्तयेत्।
बिन्दुतप्तकलानिर्यत्-क्षीरगौरामृतोर्मिभिः॥

—*योगशास्त्र*, प्रकाश ८, श्लोक ११

"अर्हं" के ध्यान में तन्मय बना योगी उस मूलाधार स्थान में विद्यमान अष्ट दल-कमल की कर्णिका में विराजमान अपने आत्मा को बिन्दु तथा तप्तकला (कुण्डलिनी) में से प्रवाहित दूध के समान उज्जवल अमृत की उर्मियों (धारा) से भीतर तक भीगा हो इस तरह चिन्तन करें। यहाँ 'बिन्दु' का अर्थ है सहस्त्रदल-कमल रूप ब्रह्मरन्ध्र में विराजमान परमात्म-पद रूप "परमत्त्व", "कला" का तात्पर्य है पूर्वोक्त उत्थापन तथा ग्रन्थि-विदारण की प्रक्रिया के द्वारा जागृत होकर ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट कुण्डलिनी (प्राण) शक्ति।

८. "**उपदेशपद**" में जिन साढ़े तीन कलाओं के ध्यान का वर्णन किया गया है वह कुण्डलिनी का सूचक है।

इस प्रकार कुण्डलिनी का ध्यान भाव-कला है और नाड़ी आदि के दबाव से होने वाला कुण्डलिनी का उत्थान द्रव्य-सला है।

---

१ देखें *योगशास्त्र* "अष्टम प्रकाश" पृष्ठ २०८ से २११, जैन साहित्य विकास मण्डल द्वारा प्रकाशित।

कलाध्यान की प्रक्रिया

"**उपदेशयद**" ग्रन्थ में वर्णित कला-कुण्डलिनी के ध्यान से सम्बन्धित प्रक्रिया में स्पष्ट किया गया है कि—

ध्यान-मार्ग के अभिलाषी साधकों को हृदय में समवसरण-स्थित तीर्थंकर भगवान के स्वरूप की कल्पना करके, इन्द्र आदि देवों की तरह उनके समीप तक प्रवेश करना और तत्पश्चात् साढ़े तीन कला से सहित उन परमात्मा का ध्यान करना।

साढ़े तीन कलाओं का रहस्य

"ज्ञानावरणीय" आदि आठ कर्म रूप आठ कलाएं हैं। ये सामान्यत: प्रत्येक सांसारिक जीव में होती हैं। उन आठ कलाओं में से चार घातीकर्म रूप[1] चार कलाएं और आयुष्य कर्म का कुछ भाग (आधे जितना) क्षय हो जाने से शेष साढ़े तीन कलाएँ (प्रशस्त नाम, उच्च गोत्र, शातावेदनीय—ये तीन कर्म रूप कलाएं एवं शेष आयुष्य की आधी कला) जीवनपर्यन्त केवली भगवन्तों का अनुसरण करती है, अत: इन साढ़े तीन कलाओं से युक्त केवली भगवन्तों का ध्यान करना चाहिए।[2]

"अर्हं-अक्षरतत्त्वस्तव" में कला विषयक अन्य प्रकार से भी ध्यान निरूपण दृष्टिगोचर होते हैं जो इस प्रकार हैं —

इस अर्हं का आश्रय लेकर अन्य दार्शनिकों ने साढ़े तीन मात्राओं युक्त कला-नाद-बिन्दु और लय-योग का निरूपण किया है अर्थात् पर-दर्शन में विख्यात कुणडलिनी-योग, नादानुसंधान-योग, लय-योग आदि "अर्हं" की ध्यान-प्रक्रिया के अंग होने से वे उसमें से उत्पन्न हैं।[3]

"योगशास्त्र", अष्टम प्रकाश में निर्दिष्ट "अर्हं" की ध्यान प्रक्रिया में नाद, बिन्दु, कला आदि की जानकारी दी गयी है।

६. परम-कला ध्यान

मूलपाठ — परमकला या सुनिष्पन्नत्वादभ्यासस्य स्वयमेव जागर्ति, यथा चतुर्दशपूर्विणां महाप्राण-ध्याने ॥ ६ ॥

अर्थ — अभ्यास सुनिष्पन्न (सिद्ध) होने से जो समाधि स्वत: ही जागृत होती है एवं उतर जाती

---

१. ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म "घातीकर्म" कहलाते हैं।

२. *उपदेशपद*, गाथा ८९० से ८९८ तक।

३. **एतदेव समाश्रित्य, कला-ह्यर्धचतुर्थिका।**
नाद-बिन्दु-लयश्चेति, कीर्तिता पर वादिभि:॥
–*अर्हंअक्षरतत्वस्तव*, श्लोक २१, (देखें-*नमस्कार स्वाध्याय*, संस्कृत-विभाग, पृष्ठ २४)

है। जैसा कि चौदह पूर्वधरों को महाप्राण-ध्यान में होता है वह ''परम-कला'' कहलाती है।

विवेचन — ध्यान के सतत् अभ्यास से कला-ध्यान की सिद्धि प्राप्त होने के बाद जब उसका जागरण एवं अवतरण अन्य किसी की सहायता के बिना स्वयं होने लगता है तब वह कला सर्वोच्च कोटि पर पहुँच जाती है।

कला-ध्यान भी समाधि-स्वरूप होने से वह दीर्घकालीन अभ्यास से सिद्ध होता है और उसके फलस्वरूप यह ''परमकला'' रूप परम समाधि-दशा प्रकट होती है। अत: ध्यान की एक महान् सिद्धि के रूप में उसका निर्देश यहाँ किया गया है।

''कला'' प्राणशक्ति-स्वरूप है और ''परम-कला'' महाप्राण शक्ति स्वरूप है।

चौदह पूर्वधर महायोगी भद्रबाहु स्वामीजी ने महाप्राण ध्यान की सिद्धि प्राप्त की थी। इस प्रकार का उल्लेख ''उत्तराध्ययन'' आदि सूत्रों की टीका में उपलब्ध है। आप श्री ने नेपाल में स्थिरता कर बारह वर्षों की दीर्घ साधना से यह महान् ध्यान-सिद्धि प्राप्त की थी।

इस महान् ध्यान-सिद्धि के प्रभाव के हजारों हाथी-प्रमाण स्याही से लिखे जा सके ऐसे विशाल चौदह पूर्वों का स्वाध्याय भी केवल अन्तर्मुहूर्त-दो घड़ी जितने अल्प काल में किया जा सके ऐसा अद्‌भुत क्षयोपशम खुलता है, इतना ही नहीं, इस कला और परम-कला के दीर्घकालीन अभ्यास से सिद्धि एवं समाधि की सर्वोच्च कक्षाएं भी अनायास ही प्राप्त होती हैं।

''**हठयोग प्रदीपिका**'' आदि ग्रन्थों में वर्णित हठयोग की आसन, प्राणायाम आदि प्रक्रियाओं के द्वारा षटचक्रों का भेदन होने से कुण्डलिनी का उत्थान होता है। कला कुण्डलिनी-स्वरूप होने से कला-ध्यान के साथ इसका सम्बन्ध है क्योंकि कलाध्यान और उसकी सिद्धि षट्चक्रभेदन एवं कुण्डलिनी के उत्थान (प्राणवायु के ऊर्ध्वगमन) के बिना नहीं होती।

राजयोग की पद्धति हठयोग की पद्धति की अपेक्षा साधक के लिए अनेक अपेक्षाओं से सरल है।

राजयोग में भक्ति, ज्ञान एवं कर्मयोग के द्वारा समाधि प्राप्ति होती है, जबकि हठयोग में शारीरिक श्रम विशेष करना पड़ता है।

राजयोग की पद्धति के अनुसार ईश्वर-प्रणिधान, जाप और सूत्र स्वाध्याय के द्वारा प्राण-शक्ति पर सहज ही नियंत्रण हो जाता है, जबकि हठयोग में प्राणायाम अथवा आसनों आदि के द्वारा प्राण-नियमन करने का विधान है। इस प्रक्रिया के द्वारा मन वशीभूत किए जाने के स्थान पर चंचल एवं संक्लिष्ट बन जाने की सम्भावना अधिक रहती है।

जबकि राजयोग की प्रक्रिया में प्राण-नियमन करते समय मनोजय की ओर विशेष लक्ष्य होने से उसमें शारीरिक श्रम अल्प होता है और मन को स्थिर एवं निर्मल करने के लिए ईश्वर-प्रणिधान, जाप आदि के सरल उपाय विशेष तौर से किए जाते हैं, जिससे धीरे-धीरे मन निर्मल एवं शांत होता रहता है।

जहाँ मन जाता है वहाँ प्राण जाता है, जहाँ प्राण जाता है वहाँ मन जाता है मन और प्राण के बीच ऐसा अभिन्न सम्बन्ध है। अत: एक को जीतने से दूसरा सहज ही जीत लिया जाता है। इस कारण ही सच्चे मुमुक्षु साधक हठयोग की साधना की अपेक्षा राजयोग की साधना को ही अपने जीवन में अधिक मान एवं स्थान

प्रदान करते हैं।

''**गुणस्थान क्रमारोह**'' में कहा है कि उपरोक्त प्रकार से ''क्षपक श्रेणी'' पर आरोहण करते समय प्राणायाम का जो वर्णन किया गया है, वह रूढ़ि मात्र है। मुख्यत: तो क्षपक-साधक का विशुद्ध भाव ही ''क्षपक श्रेणी'' का मूलभूत कारण है[१] अर्थात् प्राणायाम आदि हठयोग की प्रक्रियाओं का आश्रय लिये बिना भी क्षपक-श्रेणी वाले साधक को विशुद्ध एवं प्रबल ध्यान-शक्ति का प्रादुर्भाव हो सकता है।

आगे के पृष्ठों में जिनका वर्णन किया जाएगा वे नाद, परमनाद, बिन्दु, परमबिन्दु आदि ध्यान भी प्राण-शक्ति की विशिष्ट अवस्थाएं हैं। नाद, बिन्दु और कला ये तीनों प्राणशक्ति (आत्म-वीर्य) की विकसित भूमिकाएँ हैं। आत्मवीर्य के तारतम्य के अनुसार ध्यान की भिन्न-भिन्न कक्षाएँ बनती हैं।

७. ज्योति ध्यान

मूलपाठ — ज्योतिः-चन्द्र-सूर्य-मणि-प्रदीप-विद्युदादि द्रव्यतः, भावतोऽभ्यासादनुलीनमनसो भूत-भवद्-भविष्यद् बहिर्वस्तुसूचा विषय-प्रकाशः॥७॥

अर्थ — ज्योति के दो प्रकार हैं—१. द्रव्य-ज्योति और २. भाव-ज्योति।

द्रव्य-ज्योति—चन्द्र, सूर्य, मणि, दीपक तथा बिजली आदि-द्रव्य से ज्योति है।

भाव-ज्योति—ध्यानाभ्यास से जिनका मन लीन हुआ है ऐसे मनुष्यों को भूत, वर्तमान और भविष्य काल से सम्बन्धित बाह्य वस्तुओं को सूचित करने वाला जो विषय-प्रकाश उत्पन्न होता है वह भाव से ज्योति है।

विवेचन — ज्योति का ध्यान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, रोमांचक एवं रहस्यमय है। ज्योति के स्वरूप का ज्ञान होने से उसके चिन्तन तथा भावना के अभ्यासी साधक को स्वतः ही उसका अपूर्व सुखद अनुभव होता है।

द्रव्य-ज्योति का ध्यान भी भाव-ज्योति के ध्यान में आलम्बन का काम करता है।

इस तथ्य के समर्थन में राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का दृष्टान्त शास्त्र प्रसिद्ध है। पहले उन्होंने सूर्य के सम्मुख दृष्टि करके द्रव्यध्यान किया था और उसके आलम्बन से भाव-ज्योति के ध्यान में एकाकार होकर क्षपक श्रेणी प्रारम्भ की थी।

ध्यान के अभ्यास से मन जब आत्मा आदि तत्त्वों के चिन्तन में अच्छी तरह लीन होता है, तब भूत, भावी और वर्तमान-कालीन बाह्य वस्तुओं को बताने वाला जो ज्ञान-प्रकाश साधक के हृदय में प्रकट होता है वह भाव-ज्योति है। यह ध्यान योगियों को अनुभव-गम्य होता है।

---

१. **प्राणायामक्रम-प्रौढ़ी, अत्र रूढ्यैव दर्शिता।**
क्षपकस्य यतः श्रेण्यारोहे भावो हि कारणम्॥

—*गुणस्थान क्रमारोह*, श्लोक ५९

इस सन्दर्भ में पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज का कथन है कि "प्रशस्त आलम्बन ध्यान का बार-बार अभ्यास करने के पश्चात् मन को पल भर के लिए निरालम्बन करना चाहिए। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करने से निरालम्बन ध्यान परिपक्व हो जाएगा। फिर किसी भी एक पदार्थ का आलम्बन लेकर अन्य सभी विचारों-विकल्पों का परित्याग करने से चित्त ईंधन रहित अग्नि की तरह शान्त हो जाता है। चित्त शान्त होने से आत्मा की सहज प्रशान्त ज्योति प्रकट होती है और अनादि अविद्या का अन्धकार नष्ट हो जाता है मोह विलीन हो जाता है[१]।"

आत्म-ज्योति एवं अनुभव-ज्ञान

श्रुतज्ञान एवं शुभध्यान के सतत् अभ्यास से उसके फलस्वरूप उत्पन्न आत्म-ज्योति आत्मा का अनुभव कराने वाली होने से "अनुभवज्ञान" स्वरूप होती है।

कहा भी है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्म और शरीर आदि नोकर्मजनित भावों के सम्बन्ध में साक्षी के रूप में प्रवृत्ति करने वाला अज्ञान से अनावृत्त 'आत्म प्रभु' आत्म-ज्योति के द्वारा स्वयं स्फुरित होता है अर्थात् अपनी ज्ञान-ज्योति के द्वारा आत्मा स्वयं अपना अनुभव करता है।[२]

"**भगवती सूत्र**" आदि आगम ग्रन्थों में[३] चरित्र-सम्पन्न मुनि को चारित्रपर्याय की वृद्धि के साथ तेजोलेश्या अर्थात् आत्मिक निर्मल सुख की अभिवृद्धि होती है। ऐसा कहा गया है कि उक्त सुख एक माह, दो माह के क्रम से व्यन्तर, आदि देवों के सुख को लाँघकर बारह माह का चरित्र पर्याय होने पर सर्वार्थ-सिद्ध विमानवासी देवों के अनुत्तर सुख को भी लाँघ जाता है।[४]

आत्म-मग्न मुनि के इस वर्धमान आत्मिक-सुख की अनुभूति ध्यान-जाति "दिव्य-ज्योति" है—इस प्रकार का स्पष्ट निर्देश पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज द्वारा रचित "**परम ज्योति पंच विंशतिका**" में उपलब्ध है।[५]

---

१. *अध्यात्मसार, अनुभव-स्वरूप*-श्लोक १५ से १९

२. *परम-ज्योति पंच विंशिका*, श्लोक नं० ...

३. शतक-१४, उ० ९

४. **तेजोलेश्या विवृद्धिर्या, साधोः पर्याय-वृद्धितः।**
भाषिता भगवत्यादौ, सेत्थं भूतस्य युज्यते॥
–*ज्ञानसार, मग्नाष्टक*, श्लोक-५

५. **श्रामण्ये वर्षपर्यायात् प्राप्ते परम शुक्लताम्।**
सर्वार्थसिद्धदेवेभ्योऽप्यधिकं ज्योतिरुल्लसेत्॥
–*परमज्योति पंचविंशतिका*, श्लोक-१३

"**योग-दृष्टि समुच्चय**" में योग की आठ दृष्टियों में से सम्यक्त्व-प्राप्ति से पूर्व की मित्रादि चार दृष्टियों में भी क्रमशः तृणाग्नि, छराग्नि, काष्ठाग्नि और दीपक के समान ज्योतिर्मय "ज्ञान-ज्योति" उत्पन्न होती है और सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद की स्थिर आदि चार दृष्टियों में स्थिर तथा अत्यन्त निर्मल "ज्योति" प्रकट होती है, जो क्रमशः रत्न, तारा, सूर्य एवं चन्द्रमा की कान्ति के समान प्रकाशमय होती है और बताया गया है कि वह रत्न-त्रय स्वरूप होती है।[१]

आत्म ज्योति स्व-पर प्रकाशक है, जिससे उसके बल से साधक को आत्मिक आनन्द की अनुभूति के साथ बाह्य पदार्थों का भी स्पष्टतर बोध होता है। भूतकाल में घटित भविष्य में होने वाली और वर्तमान काल में होती हुई घटनाओं का स्पष्ट ख्याल ज्योति के विकास के अनुसार साधक को अवश्य आता है।

खुले नेत्रों से जिस प्रकार हमें सम्मुख विद्यमान बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष दर्शन होता है उसी प्रकार आत्म-ज्योति आन्तरचक्षु होने के कारण उसके खुलने का साधक को बाह्य एवं आन्तरिक भावों का परिमित मात्रा में क्षयोपशम के अनुसार प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

अविधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान आदि अनेक प्रकार की लब्धियाँ भी ध्यान-जनित "ज्योति" का ही फल है।

ज्यों-ज्यों आत्मिक गुणों का क्रमिक विकास होता जाता है, त्यों-त्यों आत्म-ज्योति, आन्तरिक ज्ञान-प्रकाश में वृद्धि होती रहती है। शास्त्रकार दिव्य-दृष्टि, ज्योति, अनुभव, साक्षात्कार आदि भिन्न-भिन्न नामों से उसकी पहचान देते हैं।

सर्वप्रथम धर्म-ध्यान के सतत् अभ्यास से चित्त चिन्तन-व्यापार रहित होता है, तत्पश्चात् प्राणशक्तिस्वरूप कुणडलिनी-कला जागृत होती है और फिर विशिष्ट ध्यानाभ्यास के द्वारा आत्म-ज्योति प्रकट होती है।

ध्यान के चौबीस भेदों में से प्रथम ध्यान-भेद के जिस प्रकार १८४३२ उपभेद होते हैं, जिनका उल्लेख आगे किया जाएगा, उसी प्रकार "ज्योति" ध्यान के भी उतने ही उपभेद हो सकते हैं।

योग एवं उपयोग रूप आत्म-शक्ति के तारतम्य से प्रत्येक ध्यान की चढ़ती-उतरती (भिन्न-भिन्न) कक्षाएँ होती हैं। कारण के भेद से कार्य का भेद भी अवश्य होता है।

---

१. **पहेली चउदिठी ज्ञानाधारे, रत्नत्रयाधारे चार रे,**
अडकर्मक्षये उपशमे विचित्रा, ओघदृष्टि बहु प्रकार रे।

–पूज्य लक्ष्मीसूरिकृत-*बीस स्थानक की पूजा,* ढाल १३

८. परम-ज्योति ध्यान

मूलपाठ — परम ज्योतिः—येन सदाऽप्ययत्नेनाऽपि समाहितावस्थायां पूर्वस्मात् चिरकालभाविप्रकाशो जन्यते॥ ८॥

अर्थ — उपरोक्त "ज्योति" की अपेक्षा चिरकाल तक स्थायी रहने वाला प्रकाश सदा प्रयत्न किए बिना समाधि अवस्था में जिस ध्यान से उत्पन्न होता है उसे **"परमज्योति"** कहते हैं।

विवेचन — ज्योर्तिध्यान के दीर्घकालीन अभ्यास के फलस्वरूप आत्मा में परम ज्योति प्रकट होती है अनुभव-ज्ञान का दिव्य प्रकाश जगमगा उठता है, जो पूर्व के ज्योति ध्यान के प्रकाश की अपेक्षा अधिक निर्मल एवं दीर्घकाल भावी होता है, जिसका अनुभव योगी-पुरुष किसी प्रकार के प्रयत्न बिना सहज भाव से समाधिदशा में करते हैं।

परम-ज्योति का स्वरूप — आत्मा की यह परम ज्योति समस्त प्रकार की बाह्य ज्योति की अपेक्षा अद्‌भुत एवं निरूपम होती है। जिसका न कोई बाह्य आलम्बन या आकार है, न कोई विकल्प या विकार, अर्थात् यह परम-ज्योति सब प्रकार की उपाधियों से रहित निरंजन एवं निर्मल है।

इस परम-ज्योति की महिमा गाते हुए पूज्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने कहा है कि जिसका अंश मात्र भी प्राप्त होने से नौ निधान भी सदा समीप रहते हैं, उस निरूपाधिक आत्मा की परम-ज्योति की हम बार-बार स्तुति करते हैं।[१]

चंद्र, सूर्य, ग्रहों, नक्षत्रों आदि की ज्योति तो परिमित क्षेत्र को ही प्रकाशित करती है परन्तु आत्मा की परम ज्योति तो लोक एवं अलोक, चेतन एवं जड़ दोनों को प्रकाशित करने वाली होती है।

नौ निधानों एवं चौदह रत्नों के स्वामी चक्रवर्ती को भी जो तेज प्राप्त नहीं होता, वह तेज परम-ज्योति-धारक महात्मा के अधीन होता है अर्थात् परमात्म-ध्यान-मग्न महात्मा इन्द्र एवं चक्रवर्तियों की अपेक्षा भी अधिक तेजस्वी होते हैं विशेष प्रभावशाली होते हैं। इन्द्र एवं नरेन्द्र भी उनके चरणों में शीश नँवाते हैं।

सहज एवं विराट् परम-ज्योति से प्रकाशित अन्तःकरण वाले, जीवन मुक्त महात्मा परम निःस्पृह एवं ममता-रहित होते हैं। उनके मन में मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं रहती।

सूर्योदय होने पर जिस प्रकार अन्धकार का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है और सूर्य की प्रतापी तेज किरणों से विश्व एवं दृश्यमान पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं उसी प्रकार आत्मा में परम-ज्योति का उदय होते ही मोह एवं अज्ञान रूपी अन्धकार विलीन होने लगता है, देह एवं आत्मा का भेदज्ञान प्रकट होता

---

१. **ऐन्द्रं तत् परमं ज्योति-रूपाधिरहितं स्तुमः।**
उदिते स्युर्यशोऽपि सन्निधौ निधयो नव॥
– परमज्योतिष्पञ्चविंशतिका, श्लोक १

है, आत्मा-परमात्मा एवं समस्त जीव-राशि के साथ एकता का अनुभव होता है, चित्त के क्रोध आदि विकार नष्ट हो जाते हैं, सर्वत्र समस्त परिस्थितियों में समाधि-भाव अखण्ड बनता है और आत्मा में विद्यमान ज्ञान आदि गुण-सम्पत्ति रूप अनन्त ऐश्वर्य की प्रतीति दृढ़ होती जाती है।

समता के अमृत-कुण्ड में निरन्तर मग्न बने हुए और उस समता के प्रभाव के पाप-मल से मुक्त बने महात्माओं को "शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप" परम-ज्योति प्रकट होती है और उसके प्रभाव से ही तीर्थंकर भगवान, गणधर भगवान और लब्धिवान मुनिगण त्रिभुवन-वंद्य जगज्ज्योतिर्धर बनते हैं। ऐसी अद्‌भुत एवं अद्वितीय परम-ज्योति का स्वरूप जानकर, प्रवर्द्धमान भावोल्लासपूर्वक वैखरी वाणी के द्वारा उसकी स्तुति-स्तवना करके, मध्यमा वाणी के द्वारा अर्थात् मनोगत चिन्तन के द्वारा स्थिरतापूर्वक उसका ध्यान करने वाले साधक को पश्यन्ती एवं परा-वाणी के द्वारा परमज्योति का साक्षात्कार होता है।

चतुर्विंशदि-जिनस्तवरूप "लोगस्स सूत्र" को "उज्जोअगरे" भी कहते हैं। कायोत्सर्ग में "लोकस्य-उद्योतकर सूत्र" के द्वारा क्षायिकभाव की "परम-ज्योति" के स्वरूप को पूर्णत: प्राप्त किए हुए चौबीस जिनेश्वर भगवानों का ही ध्यान होता है अत: वह परम-ज्योति का ही ध्यान कहलाता है।

"लोगस्स-सूत्र" की अन्तिम गाथा में परमात्मा के परम-ज्योतिर्मय स्वरूप का निर्देश करके मुमुक्षु साधक उच्चतम माँग करता है कि "उक्त परम-ज्योति हमारे अन्तर में भी प्रकट हो"।

उक्त गाथा और उसका अर्थ निम्नानुसार है—

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागर-वरगंभीरा, सिद्धासिद्धिं मम दिसंतु॥७॥

"असंख्य चन्द्रमाओं की अपेक्षा भी अधिक निर्मल, असंख्य सूर्यों की अपेक्षा भी अधिक प्रकाशमय और अगाध सागर से भी अधिक गंभीर श्री अरिहन्त एवं सिद्ध भगवान मुझे भी उस प्रकार की परम-ज्योति की सिद्धि प्रदान करें।"

यह सूत्र गणधर भगवान-रचित होने से अनन्त अर्थ एवं गम[१] युक्त है, उसमें "परम-ज्योति" प्राप्ति की अनेक कलाएं एवं रहस्य गूढ़ रीति से समाविष्ट हैं। उनका भेद तो उस प्रकार की उच्च भूमिका पर पहुँचे हुए महायोगी पुरुष ही जान सकते हैं। जिस प्रकार छोटा बालक ऊँचे वृक्ष का स्पर्श नहीं कर सकता, उस प्रकार निम्न गुण-स्थानक पर रहे हुए जीव इस भेद का पार नहीं पा सकते।

लेकिन जैन-दर्शन में निर्दिष्ट सामायिक की (इष्टअनिष्ट के प्रसंगों में राग और द्वेष से परे रहकर पूर्ण समताभाव में मज्जन करने की) साधना के द्वारा परम औदासीन्यभाव प्राप्त करके लोगस्स-सूत्र का ध्यान करने वाला मुमुक्षु साधक उस "परम-ज्योति" को अवश्य प्राप्त करता है।

---

१. गम—अर्थ जानने के प्रकार।

चौदह पूर्वधर श्री भद्रबाहु स्वामीजी महाराज ने आवश्यक निर्युक्ति में कहा है।[१]

ज्ञान "भाव-उद्योत" है। ज्ञान आत्मा का ही मुख्य गुण होने के कारण जब उस ज्ञान का उपयोग आत्मा के लिए ही अर्थात् आत्म-स्वभाव के लाभार्थ[२] होता है, तब ज्ञान की भाव-उद्योतता चरितार्थ होती है।

भाव ज्योति एवं भाव-उद्योत दोनों एकार्थक शब्द हैं, एक ही अर्थ के द्योतक हैं।

आत्मा जब अपने ज्ञान के माध्यम से स्वयं को पहचानता है अनुभव करता है तब ही उक्त ज्ञान ज्योतिस्वरूप बनता है।

तत्पश्चात् ज्योति-स्वरूप उक्त ज्ञान के द्वारा तीनों कालों और तीनों लोकों के पदार्थों को यथार्थ रीति से जाना जा सकता है। उनमें से पूर्ण ज्ञानी भगवन् केवलज्ञान रूपी परम-ज्योति के द्वारा लोकालोक को प्रत्यक्ष रूप से देख और जान सकते हैं।

तीर्थंकर भगवान "लोक उद्योतकर" कहलाते हैं। वह स्वयं प्रकट हुए केवलज्ञान के द्वारा जिस प्रकार लोकालोक के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं उस प्रकार ही उसका कथन करके समस्त लोक एवं अलोक के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान विश्व को प्रदान करते हैं। इस कारण ही कवियों ने तीर्थंकर परमात्मा को "लोकालोक-प्रकाशक" कहकर उनकी महिमा का गुणगान किया है।

"परम ज्योति" साध्य है और उसे प्रकट करने का साधन लोक में उद्योत करने वाले परम ज्योतिर्मय तीर्थंकर परमात्मा का वन्दन, पूजन, स्मरण और ध्यान है।

जो प्राप्त करना है उसका और उसके धारक का ध्यान करना विशेष आवश्यक है। इसके बिना कोई सिद्धि नहीं होती।

तीर्थंकर, गणधर आदि उत्तम पदों का मूलभूत उद्देश्य यह रत्नत्रयमयी "परम-ज्योति" है। अष्ट महासिद्धि, नौ निधि तथा अनेक प्रकार की लब्धियाँ भी इसके प्रभाव से ही प्राप्त होती हैं।

"**योगशास्त्र**" के आठवें प्रकाश में मन्त्राधिराज "अर्हं" के ध्यान की प्रक्रियाएँ बताते हुए ग्रन्थकार श्री हेमचन्दसूरीश्वरजी महाराज ने "परम-ज्योति" का निर्देश इस प्रकार किया है।

"उसी अनाहत को क्रमशः बाल के अग्रभाग के समान सूक्ष्म सोचें, फिर कुछ समय तक सम्पूर्ण विश्व अव्यक्त-निराकार ज्योतिर्मय है यह देखें। तत्पश्चात् मन को लक्ष्य में से शनैः-शनैः हटाकर

---

१. **नाणं भावुज्जोयो, जह भणियं सव्वभावदंसीहिं।**
तस्स उवओगकरणे, भावुज्जोअं विआणुहिं॥

–आवश्यक-निर्युक्ति, कायोत्सर्ग अधिकार, गाथा १०६०

२. **स्वभावलाभसंस्कारकारणं ज्ञानमिष्यते॥**

–ज्ञानसार, ज्ञानाष्टक, श्लोक-३

अलक्ष्य में स्थिर करने से अक्षय और अतीन्द्रिय आन्तर-ज्योति प्रकट होती है।''[१]

''चिन्तामणि मन्त्रराज कल्प'' में कहा गया है कि—

''नाद, बिन्दु एवं कला के अभ्यास से आन्तरज्योति प्रज्वलित होती है और उसके प्रभाव से मनुष्यों को परम पद प्राप्त होता है। अतः ''परम-ज्योति'' के इस स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझकर परमज्योतिर्मय परमात्मा के स्मरण, मनन, पूजन, स्तवन और ध्यान में एकरूपता साधने का सत्व मुमुक्षु साधकों को प्रकट करना चाहिए।''

९. बिन्दु ध्यान

मूल पाठ — बिन्दुः—द्रव्यतो जलादेः, भावतो येन-
परिणामविशेषेण जीवात् कर्म गलति॥ ९॥

अर्थ — जल आदि का बिन्दु द्रव्य से ''बिन्दु'' है और जिस परिणाम विशेष से आत्मा के ऊपर से कर्म झड़ जाएं उसे भाव से ''बिन्दु'' कहा जाता है।

विवेचन — (१) द्रव्य-बिन्दु — जल की बूँद अथवा प्रवाही घी, तेल आदि पदार्थों के बिन्दु और शून्याकार (0) में लिखा जाने वाला बिन्दु आदि ''बिन्दु'' कहलाता है। उसका चिन्तन द्रव्य से बिन्दु का चिन्तन-ध्यान कहा जा सकता है अथवा भाव से बिन्दु-ध्यान में निमित्त कारण रूप बनने वाले बिन्दु को भी द्रव्य-बिन्दु-ध्यान कहा जा सकता है।

(२) भाव-बिन्दु — जिस स्थिर परिणाम के द्वारा आत्मा पर चिपके हुए कर्म झड़ जाते हैं उस स्थिर परिणाम (अध्यवसाय) को भाव से ''बिन्दु-ध्यान'' कहा जाता है।

यह बिन्दु-ध्यान पूर्वकथित ध्यान, शून्य, कला एवं ज्योति-ध्यान के सतत् अभ्यास के द्वारा सिद्ध होने पर जब आत्मा के परिणाम सुस्थिर एवं शान्त बनते हैं, तब ही आत्मा के असंख्य प्रदेशों के साथ अनादि काल से घनीभूत बनकर रहे हुए ''ज्ञानावरणीय'' आदि कर्म शिथिल होकर पके हुए फलों की तरह झड़ जाते हैं।

लोहे के गोले के प्रत्येक अणु में व्याप्त अग्नि की तरह अथवा दूध में मिले हुए जल की तरह निबिड़ एवं प्रगाढ़ रीति से आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में मिले हुए कर्म, इस ध्यान के अचिन्त्य प्रभाव से ढीले, जर्जर और शिथिल बनने से तुरन्त उदय में आकर उपभोग करने योग्य बनते हैं। दीर्घकाल के पश्चात् उदय में

---

१. **तदेव च क्रमात् सूक्ष्मं ध्यायेत् बालाग्रसन्निभम्।**
क्षणमव्यक्तमीक्षेत जगज्जयोतिर्मयं ततः॥ २६॥
प्रच्याव्य मानसं लक्ष्यादलक्ष्ये दधतः स्थिरम्।
ज्योतिरक्षयमत्यक्षमन्तरून्मीलति क्रमात्॥ २७॥
—*योगशास्त्र*, प्रकाश ८

आकर अपना फल प्रदान करने वाले कर्म भी इस ध्यान-अग्नि के प्रबल ताप से जमे हुए घी की तरह पिघलने लगते हैं और अल्प काल में ही जल-बिन्दुओं की तरह तरल बनकर घुलने लगते हैं।

जिस शुभ एवं स्थिर परिणाम विशेष से घनीभूत कर्म बह जाते हैं वह स्थिर परिणाम ही ''भाव-बिन्दु-ध्यान'' के रूप में पहचाना जाता है।

एक पहलवान को लौह श्रृंखला से जकड़ लिया गया। लेकिन पहलवान होने के कारण उसने दूसरे ही क्षण अपने समग्र शरीर को संकुचित कर लिया और श्रृंखला से मुक्त हो गया, उस प्रकार द्रव्य एवं भाव संकोच के द्वारा कर्म-ग्रस्त आत्मा कर्म-मुक्त होता है।

भाव-संकोच की कला में कुशलता प्राप्त करने के लिए बिन्दु ध्यान पर्याप्त बल प्रदान करता है।

मन्त्र की दृष्टि से बिन्दु का महत्त्व

मन्त्र-शास्त्रों में ''बिन्दु'' का बहुत महत्त्व बताया गया है।

कोई भी मन्त्र पहले विकल्परूपता (विचार-रूपता) को प्राप्त करता है, तत्पश्चात् वह विकल्प संजल्पता बार-बार आन्तर जल्प स्वरूप अवस्था को प्राप्त करता है और संजल्प के योग से उक्त विकल्प अन्त में विमर्शरूपता को अर्थात् परामर्शरूपता-निर्विकल्परूपता को प्राप्त करता है। विमर्श ही तात्विक मन्त्र है।

संजल्प (पुनः पुनः मन्त्रोच्चार) अर्थ-भावनापूर्वक ही होता है। संजल्प से भाव्यमान वस्तु स्पष्ट होती है।

मन्त्र का अभेद-प्रणिधान जब पराकाष्ठा पर पहुँचता है। तब संजल्प स्वतः ही विलीन हो जाता है, और भाव्यमान वस्तु का, ध्येय का साक्षात्कार होता है अर्थात् भाव्यमान वस्तु का निर्विकल्पज्ञान प्राप्त होता है।

संजल्प का अभ्यासी साधक भले ही मानसिक रटन करता हो, तो भी संजल्प से स्वाभाविक रीति से अर्थ का ज्ञान होता है। अर्थ के साक्षात्कार का आधार निर्विकल्प-दशा पर है और संजल्प से सहज ही प्राप्त होता है। प्रशस्त विकल्प बार-बार उत्पन्न करने के रूप में संजल्प के अभ्यास से विकल्प क्षीण होने पर अन्त में निर्विकल्प-दशा प्राप्त हो जाती है।

निर्विकल्प संवित् पश्यन्ती अवस्था में ही होता है और उक्त अवस्था बिन्दु-स्थान (आज्ञाचक्र, भ्रूमध्य) में प्राप्त होती है अर्थात् मन्त्र जब आज्ञा-चक्र के स्थान को प्राप्त होता है तब वह पदमयी देवता के तात्विक रूप को धारण करता है।

मन्त्र की निर्गुण, निष्कल, सूक्ष्म आदि अवस्थाओं का प्रारम्भ बिन्दु-स्थान से होता है।

तात्विक मन्त्र तो उसे कहा जाता है जो विमर्श (अविकल्पक संवित्) स्वरूप होने से देवता स्वरूप हो और उसमें इष्ट देवता (परमात्मा) के साथ अभेद हुआ हो।

मन्त्रमय देवता को ज्योति रूप कहा जाता है। मन्त्र की शब्द रूप (उच्चारण काल की मात्रा स्वरूप) जो ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत अवस्थाएँ हैं उनसे परे ज्योति-अवस्था है। यह अवस्था भी बिन्दु स्थान (आज्ञाचक्र) में ही प्राप्त होती है।

बिन्दुस्थान में मन्त्र का प्रवेश होने पर साधक के राग-द्वेष घट जाते हैं, चित्त-प्रसाद की वृद्धि होती है और मन्त्र की ज्योतिरूपता प्रकट होती है, जिससे मन्त्र देवता का स्वरूप धारण करता है, और योग एवं क्षेम करने वाला बनता है।

"अर्हं-अक्षर-स्तव" में बिन्दु की विशालता प्रदर्शित करते हुए कहा है कि "बिन्दु प्रत्येक प्राणी के नाक के अग्र भाग पर विद्यमान होता है, तथा समस्त वर्णों के मस्तक पर भी व्यवस्थित रहता है।"

ॐ ह्रीँ, अर्हं आदि मूल मन्त्रों में भी हकार आदि अक्षरों पर जल-बिन्दु सदृश बिन्दु वर्तुलाकार में स्थित होता है। उस बिन्दु का योगी पुरुष ध्यान करते हैं। समस्त प्राणियों को इस बिन्दु का ध्यान क्रमशः मोक्ष-फल प्रदान करने वाला बनता है।[१]

मन्त्रोच्चार के समय अनुस्वार-प्लुत के उच्चारण के पश्चात् जो अनन्तर ध्वनि उत्पन्न होती है वह "बिन्दु" कहलाता है अर्थात् बिन्दु का उच्चारण रणकार स्वरूप है, "म्" आदि प्लुत अक्षरों के उच्चारण के बाद उसका प्रारम्भ होता है।

जिस मन्त्र का आलेखन आभ्यन्तर परिकर (नाद, बिन्दु, कला) सहित किया जाता है तब वह बीजाक्षर उद्दीप्त होता है और इष्ट क्रिया का साधक बनता है। बिन्दु एवं नाद के संयोग के बिना मन्त्र केवल वर्णों का समूह ही बना रहता है।

नमस्कार महामन्त्र, लोगस्स, नमुत्थुणं आदि सूत्रों में व्यवस्थित रूप से बिन्दु है। इसलिए ये सूत्र केवल वर्णात्मक अक्षर समूह-रूप न रहकर परम-शक्ति के वाहक महा-मन्त्र एवं महासूत्र स्वरूप बन गये हैं।

बिन्दु की दृष्टि से नमस्कार महामन्त्र का महत्त्व

"**अरिहाणथुत्तं**" में नमस्कार महामन्त्र के प्रथम पाँच परमेष्ठि पदों के सोलह अक्षर अथवा उनमें से किसी एक अक्षर का भी बिन्दु सहित (अँ, रिँ, हँ, तँ, सिँ, द्धँ, आँ, यँ, रिँ, यँ, उँ, वँ, ज्झाँ, यँ साँ, हूँ) ध्यान करने से साधक के लाखों भव अर्थात् जन्म-मरण टल जाते हैं, यह बात कही गई

---

१. **सर्वेषामपि सत्त्वानां नासाग्रोपरिसंस्थितम्।**
बिन्दुकं सर्ववर्णानां शिरसि सुव्यवस्थितम्॥
हकारोपरि यो बिन्दुर्वर्तुलो जलबिन्दुवत्।
योगिभिश्चिंतितस्तस्थौ मोक्षदः सर्वदेहिनाम्॥
– धर्मोपदेशमाला-अर्हंअक्षर-तत्वस्तव, श्लोक १८-१९

है जो (भाव से) बिन्दु-ध्यान के महत्त्व को समझने में सहायक होती हैं।[१]

मन्त्राक्षरों पर न्यास करने में आने वाले कला, बिन्दु एवं नाद में से बिन्दु विशेष का ध्यान करने से साधक के चित्त में ऐसी विशेष प्रकार की निश्चलता आती है जिससे आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में घनीभूत बने कर्म क्षय होने लगते हैं, द्रवित होकर इस प्रकार झड़ने लगते हैं मानों अग्नि का ताप लगते ही जमा हुआ घी तुरन्त पिघलने लगता है।

इस विधान से फलित होता है कि बिन्दु रहित मन्त्राक्षरों की अपेक्षा बिन्दु सहित मन्त्राक्षरों का ध्यान साधक को अपूर्व विशुद्धता के अनुभव के साथ विशिष्ट फलदायी सिद्ध होता है।

योगी पुरुष जब बिन्दुपर्यंत ऊँकार का ध्यान करते हैं, तब वह ध्यान उन्हें इच्छित फल एवं मोक्ष प्रदान करता है।

बिन्दु अर्द्ध मात्रा है। मात्रा में से अमात्रा में, अव्यक्त में से व्यक्त में ले जाने वाला "बिन्दु" एक महान् सेतु का कार्य करता है।

ऊँकार में साढ़े तीन मात्राएँ हैं, जिसमें अ, उ, और म् के रूप में तीन मात्राएँ हैं, जिससे ऊँकार का व्यक्त स्वरूप ग्राह्य बनता है, परन्तु उसका परम अव्यक्त स्वरूप तो आत्मा है, जो मात्रातीत है। उन दोनों के मध्य में अर्द्ध मात्रा "बिन्दु" है। इसके माध्यम (आलम्बन) से व्यक्त में से अव्यक्त में प्रवेश किया जाता है जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एकरूप हो जाते हैं।

ऊँकार रूप परमात्मा के व्यक्त एवं अव्यक्त स्वरूप का संयोग कराने वाली होने से अर्द्ध मात्रा को "सेतु" कहते हैं जिसका प्रारम्भ बिन्दु से होता है और अन्त नाद-अनाहत के अन्त में होता है।

इस प्रकार बिन्दु एवं नाद-रूप अर्द्ध मात्रा में बिन्दु-नवक का भी अन्तर्भाव है जिसका विभागीकरण

---

१. **विज्जुव्व पज्जलंति सव्वेसु वि अक्खरेसु मत्ताओ।**
पंचनमुक्कारपए इक्किक्के उवरिमा जाव॥
ससिधवल सलिलनिम्मल आयारसहं व वण्णियं बिन्दु।
जोयणसयप्पमाणं जालासयसहस्स दिप्पंतं॥

अर्थः पंच नमस्कार पद के समस्त अक्षरों में (अँ, रिं, हँ, तँ, सिँ, द्धिँ, आँ, यँ, रिँ, उँ, वँ, ज्झाँ, यँ, साँ, हूँ—इन सोलह अक्षरों में) भी प्रत्येक पर अक्षर पर स्थित मात्राएँ विद्युत-तुल्य जाज्वल्यमान है और प्रत्येक अक्षर पर चन्द्रमा के समान उज्जवल, जल के समान निर्मल, हजारों आकार वाले वर्णयुक्त, सैंकड़ों योजन प्रमाण, लाखों ज्वालाओं से प्रकाशित बिन्दु है।

सोलससु अक्खरेसु इक्किक्कं अक्खरं जगुज्जोयं।
भवसय सहस्समहणो जम्मि ठिओ पंच-नवकारो॥

अर्थः सोलह अक्षरों में प्रत्येक अक्षर जगत् को प्रकाश करने वाला है और जिन अक्षरों में ये पंच नमस्कार स्थित हैं वे लाखों भवों (जन्म-मृत्यु) को नाश करते हैं।

–"*अरिहाणंथुत्तं*" गाथा-२५ से २७, *नमस्कार स्वाध्याय*, प्राकृत विभाग अन्तर्गत (पृष्ठ २०४)

निम्नानुसार दृष्टिगोचर होता है—

बिन्दु में — बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, निरोधिका।

नाद में — नाद, नादांत, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना।

कुछ व्यक्तियों के मत से इन बिन्दु आदि नौ अंशों का समावेश बिन्दु में होता है जिसे "बिन्दु-नवक" कहते हैं।

अत: बिन्दुपर्यन्त ऊँकार का ध्यान करने का जो विधान है, वह "बिन्दु-नवक" में ध्वनि के रूप में करना पड़ता है और अन्त में वह "उन्मना" अवस्था तक करने से मात्रातीत आत्मा-तत्त्व का साक्षात्कार कराता है।

बिन्दु आदि नौ अंश भी क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतल काल के द्वारा उच्चारित विशेष ध्वनियां (वर्ण) हैं।

बिन्दु-नवक के स्थान

बिन्दु ज्योति स्वरूप है। बिन्दु से समना तक का काल अर्द्ध मात्रा का है, अत: इसे अर्द्ध-मात्र-अवस्था कहते हैं। समना में मात्रा का अत्यन्त सूक्ष्म अंश शेष रहता है, उसका लय होते ही मन का सम्बन्ध छूट जाता है। तत्पश्चात् उन्मना अवस्था आती है।

बिन्दु-ग्रन्थि का स्थान भ्रूमध्य है।

भ्रूमध्य से ब्रह्मरन्ध्र ग्यारह अंगुल दूर है जिसमें अर्द्धचन्द्र आदि आठों ग्रन्थियाँ विद्यमान हैं। ललाट के अग्र भाग पर अर्द्धचन्द्र ग्रन्थि है। मध्य भाग में निरोधिका है और अन्तिम भाग में नाद-ग्रन्थि है। इनके पश्चात् क्रमशः शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना ग्रन्थियाँ हैं।

सुषुम्ना का अन्त ब्रह्मरन्ध्र में होता है। मूलाधार चक्रस्थान के मध्य भाग से सुषुम्ना प्रारम्भ होती है जहाँ से वह नाड़ी नाभिकन्द, हृदय, घंटिका एवं भ्रूमध्य (बिन्दु-ग्रन्थि) में होकर ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है।

मन्त्रराज "अर्हं" के बिन्दु अंश के अनुस्वरात्मक उच्चारण के द्वारा सूक्ष्म ध्वनिरूप नाद क्रमशः अर्द्धचन्द्र आदि ग्रन्थियों को भेदता है। अन्तिम उन्मना ग्रन्थि के भेदन से परम तत्त्व की प्राप्ति होती है।

"अर्हं" के अ, ह, म्, कला और बिन्दु—ये पाँच अंश सुसूक्ष्म ध्वनि के द्वारा मध्य मार्ग सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर नाभि आदि ग्रन्थियों का क्रमशः भेदन करते हैं उस प्रकार चिन्तन करने को "**योगशास्त्र**" में कहा गया है।[१]

---

१. **ग्रन्थीन् विदारयन् नाभिकन्द-हृद्-घण्टिकादिकान्।**
सुसूक्ष्म-ध्वनिना मध्यमार्गयायि स्मरेत्ततः॥
– योगशास्त्र, प्रकाश – श्लोक १०

इस प्रकार अर्द्धमात्रा रूप ''बिन्दु'' सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम ध्वनि अथवा मन का व्यापार होने से मलिन वासनाओं का क्षय होने पर उनके प्रभाव से ''ज्ञान-ज्योति'' आत्म-शुद्धि की विशेष वृद्धि होती है।

बिन्दु-ध्यान में भी आत्म-परिणाम की विशुद्धि होने से कर्मों का अधिक मात्रा में नाश होता है। इस प्रकार दोनों का कार्य समान प्रतीत होता है अर्थात् अर्द्धमात्रा अथवा बिन्दु, अमात्र आत्मा के साक्षात्कार का श्रेष्ठ उपाय है।

जब बिन्दु का ध्यान पराकाष्ठा पर पहुँचता है तब ''परम-बिन्दु'' ध्यान प्रारम्भ होता है।

जिनागमों में वर्णित ११ गुण-श्रेणियों में से ''परम-बिन्दु'' ध्यान में नौ प्रकार की गुण-श्रेणियों को ग्रहण किया है। उनका स्वरूप भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

१०. परम-बिन्दु ध्यान

मूलपाठ — परम बिन्दु : सम्यक्त्व-देशविरति-सर्वविरति-अनंतानुबंधिविसंयोजन-सप्तकक्षय-उपशामकावस्था-उपशममोहावस्था-मोहक्षपकावस्था-क्षीणमोहावस्था-भाविगुणश्रेणयः, उपरितने तु द्वे गुणश्रेणी केवलिन एव भवतः, इदं तु छद्मस्थस्यैव निरुप्यते। गुणश्रेणिर्नाम बहूपरितनकालवेद्यस्य दलिकस्याधः स्वल्पकालेनैव वेदनम्। उक्तं च—''उवरिमठिईदलियं हेट्ठिमठाणम्मि कुणइ गुणसेढी''॥ १०॥

अर्थ — सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति, अनन्तानुबंधी (क्रोध, मान, माया, लोभ) की विसंयोजना, दर्शन-सप्तक का क्षय, उपशामक अवस्था, उपशान्तमोह अवस्था, मोहक्षपक अवस्था तथा क्षीणमोह अवस्था प्राप्त होते समय जो गुणश्रेणियाँ प्राप्त होती हैं, उन्हें 'परम बिन्दु' कहा जाता है। उसके बाद की दो गुण श्रेणियाँ केवली भगवानों को ही होती हैं और यहाँ तो छद्मस्थ के ध्यान का ही निरूपण किया हुआ है, अतः उन दो गुणश्रेणियों को ''परम-बिन्दु'' में नहीं गिना गया है।

कर्म के जिन दलिकों का बहुत दीर्घ काल में वेदन होना हो, उन्हें नीचे की स्थिति में ड़ालकर अल्प काल में ही जो वेदन किया जाए, उसे ''गुणश्रेणी'' कहते हैं।

कहा है कि ऊपर की स्थिति के कर्म-दलिक को निम्न स्थान में डाला जाये उसे ''गुणश्रेणी'' कहते हैं।

विवेचन — आगम शास्त्रों में तथा कर्म-साहित्य में जीव की आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं का निर्देश ''चौदह गुणस्थानकों'' के रूप में और ''ग्यारह गुण श्रेणियों'' के रूप में किया गया है।

''गुण श्रेणी'' मोक्ष-साधना का सोपान है। केवल एक बार उस पर आरुढ़ हो जाने से जीव का मोक्ष निश्चित है।

गुणस्थानक एवं गुणश्रेणी का स्वरूप

गुणस्थानक — आत्मा की ज्ञान, दर्शन, चरित्र तथा वीर्य आदि शक्तियों का स्थान अर्थात् उन शक्तियों की शुद्धता की तरतम भावयुक्त अवस्थाएँ।

ज्ञान आदि आत्मा के सहज गुण हैं। संसारी अवस्था में ये विविध आवरणों से आच्छादित होते हैं। ज्यों-ज्यों ये आवरण घटते जाते हैं, नष्ट होते जाते हैं, त्यों-त्यों गुणों की विशेष शुद्धि होती जाती है।

आत्म-गुणों की शुद्धता के उत्कर्ष एवं अपकर्ष के असंख्य प्रकार हो सकते हैं, परन्तु संक्षेप में उन्हें चौदह विभागों में विभाजित करके आत्मिक-उत्थान का विकास-क्रम बताया गया है, जिसका विशेष वर्णन "**कर्मग्रन्थ**", "**गुणस्थान क्रमारोह**" आदि ग्रन्थों में किया गया है।

गुणश्रेणी — कर्मावृत्त आत्मिक-गुणों का उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुद्धीकरण (असंख्यात गुण निर्जरा) का नाम गुणश्रेणी है, जो आत्मा के ही परिणाम (ज्ञान-क्रियात्मक-अध्यवसाय) विशेष से होती है। उदय क्षण से प्रारम्भ करके प्रति समय असंख्य-गुण अधिकाधिक कर्म-दलिकों की रचना करना "गुणश्रेणी" है। सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति आदि गुण वाले जीव क्रमशः असंख्यगुण-असंख्यगुण निर्जरा करते हैं।[१]

कर्म-दलों का वेदन किये बिना उनकी निर्जरा नहीं हो सकती। यद्यपि स्थिति एवं रस का घात, वेदन के बिना भी शुभ परिणाम आदि के द्वारा हो सकता है तथापि दलिकों की निर्जरा वेदन के बिना सम्भव नहीं है।

यों तो जीव प्रति पल कर्म-दलों का अनुभव करता है। अतः भोग-जनित निर्जरा जिसे सोपक्रमिक अथवा सविपाक निर्जरा भी कहते हैं वह प्रति समय होती ही रहती है, परन्तु इस प्रकार की निर्जरा में एक तो परिमित कर्म-दलों की निर्जरा होती है और दूसरी बात यह है कि भोग-जनित निर्जरा पुनः नूतन कर्मबन्ध का भी कारण बन जाती है। अतः उससे कोई जीव कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता।

कर्म-मुक्ति के लिए तो अल्प समय में ढ़ेर सारे कर्म-परमाणुओं का क्षपण आवश्यक है और वह तभी सम्भव हो सकता है जब उत्तरोत्तर कर्म-निर्जरा की मात्रा में वृद्धि होती रहे।

इस प्रकार की उत्तरोत्तर वर्धमान कर्म-निर्जरा को "गुण श्रेणी" कहते हैं और यह तभी होती

---

१. **गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसंखगुणणाए।**
एयगुणा पुण कमसो, असंखगुण निज्जरा जीवा॥
— *पंचमकर्मग्रन्थ*, गाथा-८३

है जब आत्मा के भाव उत्तरोत्तर अधिकाधिक विशुद्ध होते जाएं और जीव उत्तरोत्तर विशुद्ध स्थानों पर आरोहण करता जाए। ये विशुद्ध स्थान विपुल निर्जरा अथवा गुणश्रेणी-रचना के कारण होने से उन्हें भी ''गुणश्रेणी'' कहा जाता है।

इस प्रकार की गुणश्रेणी के ग्यारह प्रकार हैं जिनमें से प्रस्तुत विषय में नौ गुणश्रेणी ही उपयोगी होने के कारण उनके संक्षिप्त स्वरूप का विचार किया जाएगा।

जीव प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए अपूर्वकरण आदि करते समय प्रति समय असंख्यात गुनी-असंख्यात गुनी कर्म-निर्जरा करता है और सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल तक यही क्रम चलता रहता है।

यह ''सम्यक्त्व'' नामक प्रथम गुण-श्रेणी है। आगे की अन्य गुणश्रेणियों की अपेक्षा से इस गुणश्रेणी में मन्द-विशुद्धि होती है। अतः इस गुणश्रेणी में अल्प-कर्म-दलों की रचना होती है और उन्हें वेदने का काल अधिक होता है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् जीव जब देशतः विरति का पालन करता है तब ''देश विरति'' नामक दूसरी गुण श्रेणी होती है। इसमें प्रथम गुणश्रेणी की अपेक्षा कर्म-दलों की रचना असंख्यात गुनी अधिक होती है और उसका वेदन-काल उसकी अपेक्षा संख्यातगुण हीन होता है।

सम्पूर्ण सर्वविरति का पालन करते समय तीसरी गुणश्रेणी होती है।

जीव जब अनन्तानुबंधी कषायों की विसंयोजना करता है अर्थात् अनन्तानुबंधी कषायों के समस्त कर्म-दलों को अन्य कषायों के रूप में परिणत करता है तब चौथी गुणश्रेणी होती है।

अनन्तानुबंधी चतुष्क एवं दर्शन-मोहनीय की तीनों प्रकृतियों का क्षय करते समय पाँचवी गुणश्रेणी होती है।

आठवें, नवें और दसवें गुणस्थानक में चारित्र-मोहनीय का उपशम करते समय छठी गुणश्रेणी होती है।

उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानक में सातवीं गुणश्रेणी होती है।

आठवीं गुणश्रेणी क्षपकश्रेणी में चारित्र-मोहनीय का क्षय करते समय होती है और नौवीं गुणश्रेणी क्षीण-मोह नामक बारहवें गुणस्थानक में होती है।

इन नौ गुणश्रेणियों में उत्तरोत्तर असंख्यात गुना अधिक कर्म-दलों की निर्जरा होती है, परन्तु उसमें समय उत्तरोत्तर संख्यात गुण-संख्यातगुणहीन लगता है अर्थात् अल्पकाल में अधिकाधिक कर्म-दलों का क्षय होता है। अतः इन नौ स्थानों को ''गुणश्रेणी'' कहा जाता है।

गुणस्थानक साध्य है, गुणश्रेणी साधन है। कर्म-मालिन्य के अपगम के बिना किसी भी गुण की, गुणस्थानक की प्राप्ति नहीं होती।

अपुनर्बन्धक अवस्था, मन्द मिथ्यात्व भी गुणश्रेणी के द्वारा होती कर्म-निर्जरा द्वारा प्राप्त होता है।

मुख्यतया गुणश्रेणियों के ग्यारह प्रकार हैं जिनमें से छद्मावस्था में सम्यक्त्व आदि नौ गुणश्रेणियाँ होती हैं। प्रथम गुणश्रेणी सम्यक्त्व-प्राप्ति के समय होती है और उससे पूर्व मिथ्यात्व अवस्था में भी अवान्तर गुणश्रेणियाँ होती हैं।

"**अध्यात्मसार**" में प्रथम गुणश्रेणी में सात प्रकार की अवान्तर गुणश्रेणियों (आध्यात्मिक-क्रिया के रूप में) का इस प्रकार उल्लेख क्रमिक रूप से किया गया है।

१. **धर्म सम्बन्धी जिज्ञासा :** धर्म क्या है? ऐसी संज्ञा जानने की केवल इच्छा उत्पन्न हो;

२. उसका स्वरूप पूछने का मन हो;

३. पूछने के लिए सद्गुरु-महात्मा के पास जाने की इच्छा हो;

४. औचित्य, विनय एवं विधि के आचरणपूर्वक धर्म का स्वरूप पूछना;

५. धर्म का माहात्म्य जानने को मिलने पर "सम्यग्दर्शन" प्राप्त करने की इच्छा हो;

६. सम्यग्दर्शन के प्रकटीकरण का अपूर्व क्षण;

७. और उसकी प्राप्ति होने के पश्चात् तद् अवस्था में भी होता उत्तरोत्तर विकास।

इन सातों कक्षाओं से गुजरते समय क्रमशः असंख्यात गुनी निर्जरा होती है, जिसे आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चरित्र आदि सद्गुणों का भी उत्तरोत्तर अधिक उत्कर्ष होता रहता है, उनकी अधिक वृद्धि होती रहती है।

द्वितीय गुण श्रेणी में अवान्तर तीन गुणश्रेणियाँ होती हैं—

१. देशविरति-धर्म-प्राप्त करने की इच्छा,

२. देशविरति-धर्म की प्राप्ति,

३. देशविरति-धर्म-प्राप्ति के बाद की अवस्था।

इसी प्रकार से **तीसरी गुणश्रेणी** में भी अवान्तर तीन गुणश्रेणियाँ होती हैं—

१. सर्वविरति धर्म प्राप्त करने की इच्छा,

२. उसकी प्राप्ति, और

३. उक्त धर्म प्राप्त करने के बाद की अवस्था।

चौथी गुणश्रेणी में अवान्तर अवस्थाएँ—

१. अनन्तानुबंधी क्रोध मान, माया और लोभ की विसंयोजना (क्षय) करने की इच्छा,

२. उसका क्षय,

३. क्षय के पश्चात् की अवस्था।

पाँचवीं गुणश्रेणी में अवान्तर अवस्थाएँ—

१. दर्शन मोह-दर्शन त्रिक का क्षय करने की इच्छा,

२. उसका क्षय,

३. क्षय के पश्चात् की अवस्था।

छठी गुणश्रेणी में शेष मोहनीय-कर्म की २१ प्रकृतियों का उपशम प्रारंभ होता है। जिसे ''मोह-उपशामक'' अवस्था कहते हैं।

सातवीं गुणश्रेणी में उपरोक्त मोहनीय-कर्म की २१ प्रकृतियाँ उपशान्त होती हैं, जिसे उपशान्त मोह अवस्था कहते हैं।

आठवीं गुणश्रेणी में शेष मोहनीय-कर्म की २१ प्रकृतियों का क्षय प्रारम्भ होता है, जिसे ''मोह-क्षपक'' अवस्था कहते हैं।

नवीं गुणश्रेणी में इन्हीं शेष मोहनीय-कर्म की प्रकृतियों का अर्थात् मोह का सर्वथा क्षय होता है, जिसे ''क्षीण-मोह'' अवस्था कहते हैं।

इस प्रकार छद्मस्थ अवस्था में अर्थात् केवलज्ञान-प्राप्ति से पूर्व प्रत्येक आत्मा को उपरोक्त गुणश्रेणियाँ निश्चल-ध्यान के ऊँचे-ऊँचे चरण अवय करने पड़ते हैं और उनमें प्रथम चरण में आने के लिए पूर्वोक्त सात अवान्तर गुणश्रेणियाँ-ध्यान के चरण भी अवश्य सिद्ध करने पड़ते हैं।

ध्यान की निश्चलता लाने के लिए अथवा निश्चल ध्यान की सिद्धि प्राप्त करने के लिए पूर्वोक्त ध्यान, परम-ध्यान, शून्य, परम-शून्य आदि ध्यानों का सतत् अभ्यास करना आवश्यक है।

गुणश्रेणी में कर्म-क्षय को प्रधानता दी गई है। अतः जो कर्म-दलिक (स्कंध) दीर्घ काल के पश्चात् उदय में आने वाले होते हैं वे नीचे की भोगी जाती हुई चालू स्थिति में प्रक्षेप करके अल्पकाल में भोग लिए जाए उसे ''गुणश्रेणी'' कहते हैं।

गुणश्रेणी विशुद्ध एवं प्रबल ध्यान की पवित्र प्रक्रिया है। ध्यान की निश्चलता एवं विशुद्धि के बिना अल्प काल में अधिक कर्मों का क्षय नहीं हो सकता। उससे भी छठी एवं सातवीं गुणश्रेणी उपशम श्रेणी वाले पुण्यात्मा को आठवीं एवं नवीं गुणश्रेणी क्षपक-श्रेणीगत योगी महात्माओं को मोहनीय-कर्म का क्षय करते समय होती है। छठी से नवीं तक की चार गुणश्रेणियाँ अत्यन्त निश्चल-ध्यानस्वरूप हैं और कला, बिन्दु रहित आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार कराने वाली होने के कारण उन्हें ''परम-बिन्दु'' कहते हैं।

११-१२. नाद-परम-नाद-ध्यान

मूलपाठ—नाद : द्रव्यतो बुभुक्षातुराणामङ्गुलीस्थगितकर्णानां सुसूत्कारः ।

भावत : स्वशरीरोत्थ एव तुर्यनिर्घोष इव स्वयं श्रूयते ॥११॥

परमनाद : पृथग् वाद्यमानवादित्रशब्दा इव विभिन्ना व्यक्ताः श्रूयन्ते ॥१२॥

अर्थ—नाद : भूख से पीड़ित मनुष्यों को कान में उंगली डालने से जो सिस्कार सुनाई देती है, वह द्रव्य से नाद है।

अपने शरीर में ही उत्पन्न जो निर्घोष (नाद) वाद्य-यन्त्र की ध्वनि की तरह स्वयं सुनाई देता है वह भाव से नाद है।

परमनाद : भिन्न-भिन्न बजते वाद्य-यन्त्रों की तरह विभिन्न एवं व्यक्त शब्द (ध्वनियाँ) सुनाई दें, वो ''परम-नाद'' कहलाती हैं।

विवेचन—मन्त्र-साधना में अथवा पद्मस्थ-ध्यान की साधना में नादानुसंधान का स्थान सर्वोच्च है। इसका कारण यह है कि नादानुसन्धान के अभ्यास से निर्विकल्प दशा की प्राप्ति सरलता से होती है।

आत्मा की आमर्शन (प्राण) शक्ति का मूल भी नाद है। इसे ही ''परा-वाक्'' भी कहा जाता है। इसी में से स्वरों एवं व्यंजनों की उत्पत्ति होती है।

नाद एवं प्राण का सम्बन्ध

प्राण एवं मन की लीनता के बिना समाधि सिद्ध नहीं होती। प्राण लीन होने से मन भी अवश्य लीन होता है।

कहा भी है कि इन्द्रियों का स्वामी मन है मन का स्वामी पवन है, पवन का स्वामी लय है और लय नाद सापेक्ष है।[१]

प्राण उच्चारणात्मक है अर्थात् उच्चारण उसका स्वाभाविक धर्म है।

प्राणवृत्ति (वीर्य शक्ति) के दो भेद हैं—१. सामान्य अर्थात् स्पन्दनात्मक प्राणवृत्ति और २. विशिष्ट प्राणवृत्ति।

विशिष्ट प्राणवृत्ति पाँच प्रकार की होती हैं—१. प्राण, २. अपान, ३. उदान, ४. व्यान और ५. समान।

सामान्य स्पन्दनात्मक प्राणवृत्ति (वीर्य-शक्ति) से ही विशेष प्राणवृत्ति उत्पन्न होती है।

---

१. **इन्द्रियाणां मनो नाथो, मनोनाथस्तु मारुतः।**
मारुतस्य लयो नाथः, स लयो नादमाश्रितः॥
—*योगतारावलि*, श्लोक २९

इस प्राणात्मक उच्चारण से एक अव्यक्त-ध्वनि निरन्तर स्फुरित होती है, उसे ही नाद कहते हैं। इस प्रकार प्राण, और नाद का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

यह नाद प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्वाभाविक रीति से निरन्तर चलता रहता है जिसे कोई रोक नहीं सकता।

वाणी एवं मन के चिन्तन-व्यापार में भी प्राण (वीर्य) शक्ति का सहयोग अवश्य होता है।

यह कहा भी गया है कि दृश्य एवं अदृश्य पुद्‌गलों की वर्गणाओं से यह संसार काजल से परिपूर्ण डिबिया की तरह पूर्णतः भरा हुआ है। ये पुद्‌गल वर्गणाएँ एक, दो, तीन से प्रारम्भ होकर संख्यात, असंख्यात, अनन्त एवं अनन्तानन्त प्रदेशों वाली हैं। उनमें अनन्तानन्त प्रदेशों वाली कतिपय वर्गणाएँ वर्णपरिणाम के योग्य होती हैं वे भाषा-वर्गणाएँ कहलाती हैं। इन वर्गणाओं में से वर्ण-परिणाम के योग्य अनन्तानन्त प्रदेशों वाले पुद्‌गलों को यह आत्मा "योग" नामक वीर्य के द्वारा ग्रहण करता है।[1]

यह योगवीर्य आत्मा का परिणाम है। अनादि कर्म-सन्तान-जनित भव-परम्परा में इस आत्मा को वीर्यान्तराय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से प्राप्त लब्धि इस योगवीर्य का मूल कारण है।

यह योगवीर्य रुप आत्म-परिणाम मन, वचन, एवं काया के सम्बन्ध से प्रकट होता है। जिसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के कारण विचित्रता आती है। उक्त योगवीर्य पुद्‌गलों के परिणमन, आलम्बन और ग्रहण आदि का साधक है।

ऐसे योगवीर्य के द्वारा लोक में से वर्ण-परिणाम के योग्य अनन्त प्रदेशात्मक पुद्‌गलों को आत्मा ग्रहण करती है। तत्पश्चात् वह उन्हीं स्थानों में उन्हीं वर्णों के लढप में उन्हें परिणत करने के बाद उनका आलम्बन लेती है। तत्पश्चात् उनका विसर्जन करती है। इसे ही वाणी (शब्द) कहा जाता है।

वाणी का सृष्टि-क्रम एवं नाद

चारों प्रकार की वाणी का मूल भी प्राण-वृत्ति रुप नाद है।

वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा—ये वाणी के चार प्रकार हैं। वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परावाणी की उत्पत्ति उत्क्रम से होती है अर्थात् परा में से पश्यन्ती, पश्यन्ती में से मध्यमा और मध्यमा में से वैखरी में जाते हुए अष्ट वर्ग एवं उसमें से समस्त मातृकाएँ उत्पन्न होती हैं। वाणी का यह सृजन-क्रम है।

समस्त वर्ण अविभक्त रूप में नाद में विद्यमान होते हैं। इसीलिए नाद को वर्णोत्पत्ति का मूल कारण कहा गया है और कारण में कार्य का उपचार करके इस नाद को ही वर्ण भी कहा जाता है।

---

१. श्री सिद्धहेमचन्द्र, *शब्दानुशासन*, पृष्ठ २४

साधना-क्रम तथा नाद

साधना-क्रम में शब्द की संहारात्मक गति है अर्थात् वैखरी के परा की ओर गति है। वैखरी में से मध्यमा में, मध्यमा में से पश्यन्ती में और पश्यन्ती में से परा में पहुँचना पड़ता है। वैखरी से परा की ओर गति को प्रत्याहार भी कहा जाता है।

मुँह से उच्चारण और कानों से श्रवण हो सके, वह शब्द की "वैखरी" अवस्था है। शब्द-जाप वैखरी के द्वारा होता है। मंत्र साधना का प्रारम्भ वैखरी से ही होता है। उसके दीर्घकालिक अभ्यास से जाप की ऐसी अवस्था प्राप्त होती है कि उच्चारण के बिना ही स्वयं मन्त्र का जाप हृदय में चलता रहता है। उस समय साधक स्वयं मन्त्र की ध्वनि श्रवण कर सकता है। इसे मन्त्र-चैतन्य का पूर्वाभ्यास कहा जा सकता है।

सामान्यतया जीवों के प्राण वक्र-गतियुक्त होते हैं अर्थात् वे इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों में बहते होते हैं। उस समय प्राण एवं अपान वायु की गति विपरीत होती है परन्तु साधना के द्वारा जब प्राण एवं अपान वायु का साम्य प्राप्त होता है तब सुप्त-कुण्डलिनी जागृत होने से प्राण एवं मन दोनों निर्मल बनते हैं। मन एवं वायु के ऊर्ध्वमुखी गमन से प्राण-शक्ति (कुण्डलिनी) अनाहत नाद के रूप में ऊर्ध्व गति करती है।

नाद का अधिष्ठान सुषुम्ना है। नाद रूप को प्राप्त कुण्डलिनी-प्राणशक्ति सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर नाभि आदि ग्रन्थियों को भेदकर ऊपर जाती है और अन्त में ब्रह्मरन्ध्र में लीन हो जाती है। इस नाद को अव्यक्त-सुसूक्ष्म ध्वनि अथवा "अक्षर" कहा जाता है।

नाद सूक्ष्म (आभ्यन्तर) एवं अव्यक्त ध्वनि होने से बुद्धिमान पुरूष ही उसे जान सकते हैं। वैखरी-अवस्था नाद की स्थूल अवस्था है।

वैखरी को व्यक्तवाणी, मध्यमा को व्यक्ताव्यक्तवाणी, पश्यन्ती को अव्यक्तवाणी और परा को परम अव्यक्त वाणी कहा जाता है।

वैखरी में मन्त्रात्मक शब्द और उसके अर्थ के बीच परस्पर भेद रहता है। मध्यमा में उन दोनों के बीच भेद तथा अभेद दोनों रहते हैं परन्तु पश्यन्ती में शब्द तथा अर्थ के बीच भेद तनिक भी नहीं रहता, अर्थात् इस अवस्था में मन्त्रात्मक शब्द और उसका अर्थ दोनों अभिन्न हो जाते हैं। इसे ही मन्त्र साक्षात्कार कहा जाता है। तत्पश्चात् समस्त विकल्पों का उपशम हो जाता है। फिर परा-वाणी की प्राप्ति होती है, जिसमें आत्मा की समस्त शक्तियों का आविर्भाव होने के बाद आत्मा परमात्म-भाव प्राप्त करता है।

चित्त की विक्षिप्त, क्षिप्त एवं मूढ़ अवस्था में नाद नहीं सुनाई देता, वह केवल एकाग्र अवस्था में ही सुनाई देता है और जब नाद-श्रवण स्थगित हो जाए, तब उसे चित्त की निरुद्ध अवस्था माननी चाहिए।

नाद द्वारा मन सरलता से लय हो जाता है। इसलिए मनोलय के समस्त साधनों में नादानुसन्धान सर्वोत्तम साधन है।

इस ''अनाहत-नाद'' की स्पष्ट अभिव्यक्ति इस प्रकार मन्त्र अथवा ध्यान-साधना आदि के द्वारा क्रमानुसार होती है। उससे पूर्व ध्यानाभ्यास के काल में भी ज्यों-ज्यों इड़ा एवं पिंगला की गति मन्द होती जाती है त्यों-त्यों देह में विविध प्रकार की मधुर ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। ध्यान-जनित होने के कारण उसे भी ''अनाहत-नाद'' कह सकते हैं।

अनाहत क्या है?

''अनाहत-नाद'' मन्त्र-जाप अथवा प्रशस्त-ध्यान के सतत् अभ्यास से प्रकट होने वाली एक महान् शक्ति है जो आत्म-साक्षात्कार की द्योतक है।

''अनाहत-नाद'' के प्रारम्भ से साधक को आत्म-दर्शन होने की पूर्ण श्रद्धा उत्पन्न होती है जिसका प्रारम्भ सविकल्प ध्यान के सतत् अभ्यास से होता है और उस समय ध्याता, ध्येय एवं ध्यान की एकता सिद्ध हो जाती है। अनाहत की मधुर ध्वनि के श्रवण से साधक की आत्मा अनुपम आनन्द का अनुभव करती है।[१]

परमानन्द के स्थान, स्वरूप, अत्यन्त सूक्ष्म, स्वानुभवगम्य और अनुपम ''अनाहत-नाद'' का ध्यान सदा ब्रह्मरन्ध्र के नीचे करना चाहिए।

अविच्छिन्न तेल की धारा के समान, विशाल घण्टे के घोष के समान, ''प्रणवनाद'' (अनाहत-नाद) के लय को जो जानता है, वह योग का सच्चा ज्ञाता है ऐसा शास्त्र कहते हैं।

''अनाहत-नाद'' को घण्ट-नाद की उपमा देने और उसके साथ तुलना करने का कारण यही है कि घण्ट-नाद धीरे-धीरे शान्त होकर अन्त में अत्यन्त मधुर हो जाता है। ''अनाहत-नाद'' भी धीरे-धीरे शान्त होकर अन्त में अत्यन्त मधुर बनकर आत्मा को अमृत-रस का आस्वाद कराता है।[२]

यन्त्र की दृष्टि से अनाहत

यन्त्र की दृष्टि से अनाहत का विभिन्न आकारों में आलेखन दृष्टिगोचर होता है। ऊँ घटित, ह्रीँ

---

१. परमानन्दास्पदं सूक्ष्मं लक्ष्यं स्वानुभवात् परम्।
अधस्तात् द्वादशांतस्य ध्यायेन्नादमनाहतम्॥
—*योगप्रदीप,* श्लोक ११५

२. घंटनादो यथा प्रांते प्रशाम्यन्मधुरो भवेत्।
अनाहतोऽपि नादोऽथ तथा शांतो विभाव्यताम्॥
—*योगप्रदीप,* श्लोक ११७

घटित, शुद्ध गोलाकार रेखाद्वय, लम्ब गोलाकार रेखाद्वय, चतुष्कोणाकार रेखाद्वय, अनेक रेखारूप और अर्द्ध-चन्द्राकार आदि आकारों के रूप में अनाहत विभिन्न यन्त्रों में आलेखित हैं।

महाप्रभावी सिद्धचक्र यन्त्र में तीन स्थानों पर अनाहत का इस प्रकार आलेखन किया गया है।

१. प्रथम वलय की कर्णिका के केन्द्र में स्थित ''अर्हं'' को चारों और ''ॐ ह्रीँ'' सहित वर्तुलाकार में अनाहत का वेष्टन है।
२. द्वितीय वलय में स्वरादि आठ वर्ग अनाहत से वेष्टित हैं।
३. तृतीय वलय में ''ॐ'' सहित आठ अनाहतों की स्वतन्त्र स्थापना कर उन्हें आराध्य देव-स्वरूप मानकर उनकी पूजा करने का विधान है।

इस प्रकार यन्त्र के केन्द्र में स्थित अर्हं एवं स्वरादि वर्ण-मातृकाओं के ध्यान से ''अनाहत नाद'' प्रकट होता है यह बात कही गई है।

अनाहत का उद्‌गम

शब्द-ध्वनि रहित, विकल्प-तरंग विहीन और समभाव में स्थिर बना हुआ चित्त जब सहज अवस्था में आता है तब ''अनाहत-नाद'' का प्रारम्भ होता है। पिण्डस्थ, पदस्थ अथवा रूपस्थ ध्यान में अक्षर अथवा आकृति का आलम्बन लेना पड़ता है। अत: उसे आलम्बन-ध्यान कहा जाता है। आलम्बन ध्यान में सविकल्प-दशा होती है जो अनेक प्रकार की हो सकती है।

''**योगशास्त्र**'' में निर्दिष्ट आलम्बन-ध्यान के प्रकारों में से किसी भी एक प्रकार का निरन्तर अभ्यास किया जाए तो सालम्बन-ध्यान की परिपक्व अवस्था में उसके फल के रूप में ''अनाहत-नाद'' प्रारम्भ होता है। अक्षर में से ''अनाहत नाद'' के रूप में अनरक्षता प्रकट होती है।

प्राथमिक अवस्था में स्थूल-आलम्बन के द्वारा ध्यानाभ्यास का प्रारम्भ करना चाहिए। यह सिद्ध होने पर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर आलम्बन लेना चाहिए, उसके सतत् अभ्यास से ''अनाहत-नाद'' का आविर्भाव होता है और ''अनाहत-नाद'' सिद्ध होने पर द्वादशान्त ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश सुलभ हो जाता है।

''अनाहत-नाद'' से बाह्य ग्रन्थियों का भेद

''अर्हं'' एवं स्वरादि मातृकाओं के ध्यान से ''अनाहत-नाद'' प्रकट होता है और वह नाभि, हृदय, कण्ठ आदि स्थानगत ग्रन्थियों को भेदता हुआ उन स्थानों के मध्य में से गुजर कर ऊर्ध्वगामी बनता है।

''अर्हं'' आदि को अनाहत से वेष्टित करने का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि ''अर्हं'' आदि का ध्यान, जब तक ''अनाहत-नाद'' प्रकट न हो, तब तक, नित्य, नियमित धैर्यपूर्वक करते रहना चाहिए, परन्तु जब ''अनाहत-नाद'' प्रारम्भ हो चुका हो, तब ''अर्हं'' आदि अक्षरों के ध्यान की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि अक्षरध्यान की अपेक्षा ''अनाहत-नाद'' की शक्ति अनेक गुणा अधिक है।

''अनाहत-नाद'' से आन्तर (कार्मण) ग्रन्थियों का भेद

ब्रह्मरन्ध्र में आत्मा का उपयोग स्थिर होने से, आत्म-साक्षात्कार में प्रतिबन्धक कर्म रूपी द्वार खुल जाता है और उस समय अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है फलतः जन्म, जरा एवं मृत्यु का भय नष्ट हो जाता है, सम्पूर्ण देह में आनन्दमय स्वरूप में व्याप्त आत्मा प्रत्यक्ष हो जाती है और सच्चिदानन्द मूर्ति के दर्शन कर चेतना, आत्मा में विलीन हो जाती है।

तेल की धारा के समान अविच्छिन्न गति से चलने वाले ''अनाहत-नाद'' के प्रवाह के द्वारा अनेक कर्म वर्गणाओं का तथा तज्जनित राग-द्वेष आदि ग्रन्थियों का भेद हो जाने से सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

''अनाहत-शब्द'' के प्रकार और उनका फल

पूर्वोल्लिखित ''बिन्दु-नवक'' के नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना—ये छः नाद के प्रकार हैं और ये ''अनाहत-नाद'' की क्रमशः होने वाली सूक्ष्मता एवं मधुरता के सूचक हैं।

''अनाहत-शब्द'' के अनुभव को ''अमृतोपमप्रत्ययः'' अर्थात् अमृत तुल्य आत्मानन्द का शीघ्र अनुभव कराने वाला कहा गया है।

''अनाहत-शब्द'' के निम्नानुसार दस प्रकार हैं—

१. चिणी-शब्द, २. चिंचिणी-शब्द, ३. चिरि-शब्द, ४. शंख-ध्वनि, ५. तंत्री-निर्घोष, ६. वंश-रव, ७. कांस्य-ध्वनि, ८. मेघ-ध्वनि, ९. वाद्य-निर्घोष और १०. दुंदुभि-स्वन।

इन समस्त प्रकारों, उनके भिन्न-भिन्न स्थानों और उनके फलों आदि का विस्तृत वर्णन भिन्न-भिन्न मन्त्र-शास्त्रों में उपलब्ध है।

इन दसों प्रकारों में नौ नादों का क्रमशः परित्याग करके, दसवें दुंदुभि-स्वन अर्थात् दुंदुभि-ध्वनि तुल्य नाद का ध्यान करने से आत्म-साक्षात्कार होता है और नाद की ध्वनि स्थगित होने पर सहज-समाधि-दशा प्राप्त होती है जो मोक्षदायक सिद्ध होती है।

यह नाद एवं सूक्ष्म अव्यक्त-ध्वनि स्वरूप होने से ध्यान-गम्य है।

सामान्य जीव, जिनकी इन्द्रियाँ एवं मन बहिर्मुखी होते हैं, उन्हें यह नाद नहीं सुनाई देता, परन्तु किसी उत्तम पुरुष को गुरु-कृपा से ध्यानाभ्यास अथवा मन्त्र-साधना के प्रभाव से प्राण एवं मन की निर्मलता तथा स्थिरता होने से ''अनाहत-नाद'' रूप सूक्ष्म-ध्वनि का श्रवण होता है और फिर उक्त ध्वनि का ध्यान करते-करते चित्त अत्यन्त शान्त एवं निर्मल हो जाता है।

मन की परम स्थिरता निश्चलता होने के बाद यह नाद नहीं सुनाई देता, परन्तु ''अनाहत-समता'' एवं ''समाधि'' प्रकट होती है, अगम अगोचर आत्म-तत्त्व का अनुभव होता है।

१३-१४. तारा एवं परम-तारा ध्यान

मूलपाठ—तारा : द्रव्यतो विवाहादौ वधू-वरयोस्तारामेलकः,
भावतः कायोत्सर्ग-व्यवस्थितस्य निश्चला दृष्टिः ॥ ३ ॥

परम-तारा : द्वादश्यां प्रतिमायामिवानिमेषा शुष्क पुद्गलन्यस्ता दृष्टिः ॥१४॥

अर्थ—तारा : विवाह आदि के प्रसंगों में वधू एवं वर का जो परस्पर तारामैत्रक (आँखों की पुतलियों का मिलन) होता है वह द्रव्य से तारा है। कायोत्सर्ग में स्थित साधक की जो निश्चल-दृष्टि है सो भाव से तारा है।

परमतारा : बारहवीं[1] प्रतिमा की तरह शुष्क पुद्गल पर जो निर्निमेष दृष्टि स्थापित की जाती है वह परम-तारा है।

विवेचन—बिन्दु एवं नाद-ध्यान के पश्चात् "तारा" का निर्देश सूचित करता है कि बिन्दु एवं नाद-ध्यान के बल से दृष्टि अत्यन्त स्थिर होती है, निश्चल बनती है।

विवाह आदि अवसरों पर वर-वधू की आँखों का परस्पर मिलन द्रव्य-तारा है।

कायोत्सर्ग-मुद्रा में स्थिर साधक की दृष्टि, नेत्रों की पुतलियों, प्रभु-प्रतिमा, स्थानाचार्य अथवा नाक के अग्रभाग पर सुस्थिर होती है, उसे "तारा-ध्यान" कहते हैं।

"षड्-आवश्यक" में कायोत्सर्ग पाँचवाँ आवश्यक है और यह साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ के लिए नित्य, नियमित अवश्य करने योग्य होने से "आवश्यक" कहलाता है।

"कायोत्सर्ग" में काया को सर्वथा शिथिल एवं स्थिर रखकर, वाणी का व्यापार रोककर साँस की गति के साथ चित्त को शान्त होने दिया जाता है।

काया, वाणी एवं मन की स्थिरतापूर्वक इस "कायोत्सर्ग" में जैन दर्शन द्वारा मान्य कायिक, वाचिक और मानसिक—तीनों प्रकार के ध्यान अन्तर्भूत हैं।

"कायोत्सर्ग" के प्रतिज्ञा-सूत्ररूप "अन्नत्थ सूत्र" में प्रयुक्त "ठाणेणं, मोणेणं झाणेणं"—ये तीनों पद कायिक, वाचिक और मानसिक ध्यान के सूचक हैं अर्थात् कायोत्सर्ग में काया को जिन-मुद्रा में स्थिर रखने से कायिक-ध्यान, वाणी के व्यापार का निरोध होने से वाचिक-ध्यान और मन को शुभ ध्यान में एकाग्र करने से मानसिक-ध्यान होता है।[2]

---

१. विशिष्टि प्रकार की उग्र प्रतिज्ञा, व्रत-पालन को "प्रतिमा" कहा जाता है। साधु की ऐसी बारह प्रतिमाएँ हैं, जैसे-१. एक मासिकी, २. द्विमासिकी, ३. त्रिमासिकी, ४. चातुर्मासिकी, ५. पंचमासिकी, ६. षण्मासिकी, ७. सप्तमासिकी, ८. सप्तरात्रिकी, ९. सप्तरात्रिकी, १०. सप्तरात्रिकी, ११. अहोरात्रिकी और १२. एक रात्रिकी—इन समस्त प्रतिमाओं का विशेष स्वरुप "आवश्यक वृत्ति" आदि ग्रन्थों में वर्णित है। उनमें बारहवीं प्रतिमा में अठ्म का तप करके गाँव के बाहर जाकर, निर्निमेष नेत्रों से एक परमाणु पर दृष्टि रखकर "कायोत्सर्ग-ध्यान" में खड़े रहना पड़ता है।

२. **काएविय अज्झणं वायाइ मणस्स चेव जह होइ।**
कायवयमणोजुत्तं तिविहं अज्झप्पमाहसु॥

अधि-आत्मनि वर्तते इति अध्यात्मं ध्यानम्।—*आवश्यक सूत्र निर्युक्ति*

इस प्रकार कायोत्सर्ग-देहाध्यास के विसर्जन के साथ आत्मा और परमात्मा के मध्य के अन्तर को तोड़कर परमात्मा के साथ तन्मय करता है जिससे यह समापत्ति-ध्यान रूप है।

छः प्रकार के आभ्यन्तर-तप में सर्वाधिक श्रेष्ठ एवं अन्तिम ''कायोत्सर्ग-तप'' है। पूर्व वर्णित पाँचों प्रकार के आभ्यन्तर तपों की अपेक्षा ''कायोत्सर्ग-तप'' का सामर्थ्य अधिक है, विशेष है।

''कायोत्सर्ग''के उद्देश्य-निमित्त

जिनागमों में ''कायोत्सर्ग'' करने के लिए भिन्न-भिन्न उद्देश्य बताये गए हैं जिससे कायोत्सर्ग की विराट एवं सूक्ष्म कार्यशक्ति का स्पष्ट स्मरण हो आता है।

१. पाप का क्षय, २. सम्यग् दृष्टि देवताओं का स्मरण, ३. तीनों लोकों में स्थित जिनेश्वर भगवानों की पावनकारिणी प्रतिमाओं के आलम्बन के द्वारा उनका वन्दन, ४. पूजा, ५. सत्कार, ६. सम्मान आदि के द्वारा पुण्य, संवर एवं निर्जरा रूप महान् लाभ प्राप्त करना, ७. बोधिलाभ और ८. निरूपसर्ग मोक्ष-पद की प्राप्ति ये कायोत्सर्ग के उद्देश्य हैं।[१]

चैत्यवन्दन आदि कोई भी धार्मिक-क्रिया करने के पूर्व इरियावही प्रतिक्रमन किया जाता है।

यह कायोत्सर्ग चैत्यवन्दनादि क्रिया करने से पूर्व साधक के मन, वचन और काया की शुद्धि के लिए अर्थात् पाप-कर्मों के नाश के लिए होता है।[२]

और ''वन्दन'' आदि के प्रयोजन से जो कायोत्सर्ग होता है[३] उसमें चित्त-समाधिजनक परमात्म प्रतिमाओं की वन्दनादि स्वरूप द्रव्य-भाव पूजा के द्वारा पुण्यानुबंधी पुण्य, संचर निर्जरा का जो महान् लाभ होता है उसे साधक अभ्यन्तर-तपरूप इस कायोत्सर्ग के द्वारा प्राप्त करता है अर्थात् कायोत्सर्ग से भी इन वन्दना आदि छः पुण्य-प्रवृत्तियों का अपार फल प्राप्त होता है।

इसी प्रकार के कायोत्सर्ग-ध्यान के प्रभाव से सम्यग् दृष्टि देव एवं अधिष्ठायक देव जागृत होते हैं और शासन-प्रभावना आदि के कार्यों में उनकी सहायता प्राप्त की जा सकती है।

इस जन्म में की गई जैन धर्म की आराधना, अन्य जन्मों में भी जब तक मोक्ष की प्राप्ति न हो तब तक प्राप्त होती रहे और उस आराधना के द्वारा क्रमशः समस्त प्रकार के उपसर्गों, एवं उपद्रवों

---

१. **पावखवणत्थ-इरियाइ, वंदण वत्तियाइ छ निमित्ता।**
पवयण सुर-सरणत्थं, उस्सग्गो इय ''निमित्तट्ठ''।।
–*चैत्यवन्दन-भाष्य*, गाथा ५३

२. **पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।**
–*प्रतिक्रमण सूत्र*

३. **अरिहतं-चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं, वंदण-वत्तियाए।**
–*प्रतिक्रमण सूत्र*

से रहित मोक्ष-पद प्राप्त हो उसके लिए भी कायोत्सर्ग-ध्यान करने का शास्त्रीय विधान उसके अनुपम सामर्थ्य का द्योतक है।

इस प्रकार प्रत्येक कायोत्सर्ग किसी निश्चित संकल्पपूर्वक होता है "अरिहन्त चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं" और "सुअदेवयाए करेमि काउस्सग्गं" से लगाकर "कुसुमिण दुसुमिण उड्डावणार्थं" और "दुक्खक्खओ कम्मक्खओ निमित्तं" तथा "पावाणं कम्भाणं निग्घाय-णट्ठाए" क्षुद्रायेद्रव-उड्डावणार्थं आदि संकल्पपूर्वक कायोत्सर्ग-ध्यान किया जाता है। कायोत्सर्ग के द्वारा संकल्प कार्यशील बनता है।

संकट में फँसी हुई द्रौपदीजी काउस्सग करती है और ऊपर होकर गुजरने वाला इन्द्र का विमान आकाश में अविलम्ब रुक जाता है।

सुदर्शन सेठ को सूली पर चढ़ाने के लिए ले जाते देखकर महासती मनोरमा ने कायोत्सर्ग किया, शासनदेवी उपस्थित हुई और सूली को सिंहासन में परिवर्तन कर दिया।

ऐसे-ऐसे अनेक प्रसंगों का हमारे कथा-साहित्य में वर्णन है जो कायोत्सर्ग के द्वारा संकल्प-शक्ति प्राप्त होने वाले समर्थन को ध्वनित करते हैं।

धार्मिक प्रवृत्तियों में प्राथमिक कर्त्तव्य स्वरूप प्रभुदर्शन, पूजन और चैत्यवन्दन आदि अनुष्ठान करने में शास्त्रीय विधि का पालन अत्यन्त आवश्यक है।

अविधि से तो सुई में डोरा तक नहीं पिरोया जा सकता तो फिर अविधि से मन का परमात्मा में न पिरोया जाना स्वाभाविक ही है।

अतः अनुष्ठानों में वर्णित विधि-निषेधों के पालन से साधकों के मन, वचन और देह निर्मल तथा निश्चल बनते हैं और ज्ञान आदि रत्नत्रयी की आराधना से सम्बन्धित विविध योग-प्रक्रियाओं का उत्तम अभ्यास होने पर, उक्त आराधना के प्रभाव से अपूर्व आत्मिक आनन्दानुभूति की जा सकती है।

श्री जिन-प्रणीत प्रत्येक अनुष्ठान प्रणिधानपूर्वक करने से उसकी सिद्धि होती है। मन, वचन और देह की एकाग्रता प्रणिधान है।

काया की चंचलता पर नियंत्रण करने के लिए इन्द्रियों के व्यापार को नियंत्रित करना आवश्यक है।

नियंत्रित करने से तात्पर्य है स्ववश में करना।

मन की तरह नेत्र भी अत्यंत चपल इन्द्रिय है। अतः मन को स्थिर करने के लिए दृष्टि की स्थिरता आवश्यक है। दृष्टि को निर्निमेष (अपलक) करना भी शुद्धिकरण की एक क्रिया है, जिसे हठयोग की परिभाषा में "त्राटक" कहते हैं। ज्यों-ज्यों दृष्टि की निर्निमेषता (एकाग्रता) में वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों मन के विक्षेप नष्ट होते जाते हैं संकल्प-शक्ति विकसित होती जाती है और चिन्तन

एवं ध्यान की भूमिका में स्थिरता आती है तथा प्रगति होती जाती है।

"चैत्यवन्दन" की विधि में वीतराग परमात्मा के दर्शन, वन्दन, पूजन, कीर्तन आदि करते समय साधक को अपनी दृष्टि भगवान के सम्मुख स्थिर रखनी चाहिए। भगवान की मुख-मुद्रा के सम्मुख दिशा के अतिरिक्त अन्य किसी दिशा की ओर नहीं देखना चाहिए यह दस त्रिकों में से "त्रिदिशि निरीक्षण त्याग" नामक एक त्रिक है।[१]

जिनेश्वर भगवान के मुख-कमल पर दृष्टि को स्थिर रखने से मन प्रभु के उपयोग में, ध्यान में सरलता-पूर्वक एकाग्र हो सकता है अन्य सब विकल्पों का परित्याग करके मन को भगवान के दर्शन में ही जोड़ देने से अपूर्व मानसिक शान्ति एवं प्रसन्नता की तत्काल अनुभूति होती है।

चैत्यवन्दन आदि धार्मिक अनुष्ठानों में दृष्टि की स्थिरता-निर्निमेषता का अभ्यास साधक को कायोत्सर्ग में निर्निमेष दृष्टि-रूप "तारा ध्यान" सिद्ध करने में सहायक होता है।

अप्रमत्त अवस्था में ध्यान

निश्चल एवं दृढ़ पर्यंकासन करके, नाक के अग्र भाग पर (बिन्दु-ग्रन्थि पर) नेत्रों को स्थापित करके, तनिक खुले अर्द्ध नेत्रों वाले, कल्पना-जाल रहित मन वाले और संसार-परिभ्रमण को टालने के लिए अत्यन्त उत्सुक बने हुए मुनि निश्चल ध्यान करना प्रारम्भ करते हैं।[२]

उपरोक्त ध्यान-प्रक्रिया में भी अर्द्ध उन्मीलित नेत्रों को नाक के अग्र-स्थान पर स्थापित करने का निर्देश है जिससे सिद्ध होता है कि दृष्टि की स्थिरता कायोत्सर्ग-ध्यान में अत्यन्त आवश्यक है। कायोत्सर्ग-स्थित साधक की दृष्टि स्थिर हो जाने से वह "लय-ध्यान" में प्रविष्ट होता है। अतः "ताराध्यान" "लय-ध्यान" के सेतु का कार्य करता है।

"ताराध्यान" कायोत्सर्ग-मुद्रा में होता है अतः तत्वतः यह कायोत्सर्ग-स्वरूप है।

कायोत्सर्ग में लय-योग सिद्ध करने की गूढ़-शक्ति निहित है, यह तो निर्विवाद सिद्धान्त है क्योंकि श्री तीर्थंकर, गणधर भगवान आदि उत्तम पुरुष कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ रहकर केवलज्ञान और

---

१. **उड्ढाहोतिरिआणं ति-दिसाण निरिक्खणं चइज्जहवा।**
पच्छिम-दाहिण-वामाण जिण मुहन्नत्थदिट्ठिजुओ॥
–*चैत्यवन्दन भाष्य*, गाथा १३

२. **निष्प्रकम्पं विधायाथ दृढं पर्यकमासनम्।**
नासाग्रदत्त-सन्नेत्रः किंचिदुन्मीलिते क्षणः॥
विकल्पवागुराजालाद्दुरोत्सारितमानसः।
संसारोच्छेदनोत्साहो योगीन्द्रो ध्यातुमर्हति॥
–*गुणस्थानक्रमारोह*, श्लोक ५२, ५३

मुक्ति-सुख प्राप्त करते हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में ''तारा'' ध्यान के पश्चात् ''लय'' का निर्देश हुआ जो कायोत्सर्ग के प्रभाव से उत्पन्न होने वाले ''लय'' का सूचक है।

अन्य योग-दर्शनों में प्रसिद्ध 'शांभवी-मुद्रा' का समावेश भी 'तारा ध्यान' में हुआ है। मूलाधार आदि किसी भी चक्र में अन्त:करण की वृत्ति को स्थापित कर देह के बाह्य प्रदेश में जो नासाग्र आदि है उनमें से किसी स्थान पर चक्षुओं का निमेष-रहित न्यास करके स्थिर होना 'शांभवी-मुद्रा' कहलाता है।[१]

तारा (कायोत्सर्ग)-ध्यान में भी आन्तर्दृष्टि वर्ण, अर्थ और आलम्बन योग में स्थिर होती है और बाह्य-दृष्टि नासिका के अग्रभाग में स्थिर होती है जो ''स्थानयोग'' कहा जाता है।

स्थान आदि चारों योगों के सतत् अभ्यास से ''अनालम्बन योग'' प्रकट होता है जो ''लय'' स्वरूप है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग में स्थान आदि पाँचों योगों का प्रयोग होता है जिसका उल्लेख ''**श्री आवश्यक निर्युक्ति**'' के कायोत्सर्ग-अध्ययन में उपलब्ध है।[२]

''परम तारा'' ध्यान में अनिमेष दृष्टि से ध्यान करने का विधान है। उल्लेखनीय है कि बारहवीं प्रतिमा में मुनि अठ्ठम का तप करके, गाँव के बाहर एकान्त में किसी शुष्क पुद्गल पर अनिमेष-दृष्टि स्थापित करके रात भर कायोत्सर्ग-ध्यान में खड़े रहते हैं।

''परम तारा'' ध्यान में भी कायोत्सर्ग की ही प्रधानता है।

मुनि की बारहवीं प्रतिमा तुल्य अनिमेष दृष्टि को ''परम तारा'' ध्यान कहा गया है। शेष प्रतिमाओं में भी विशिष्ट तप करके (क्रमश: एक माह से सत्रह माह तक) कायोत्यर्ग का अभ्यास करने का विधान है।

---

१. **अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।**
एषा सा शाम्भवी-मुद्रा वेदशास्त्रेषुगोपिता॥

–*हठयोग प्रदीपिका*, उपदेश ४, श्लोक ३६

अर्थ : यह ''शांभवी-मुद्रा'' अन्तर्लक्ष्यवाली, बहिर्दृष्टि वाली और निमेष-उन्मेष से रहित है अर्थात् ''शांभवी-मुद्रा'' में बहिर्दृष्टि होते हुए भी अन्तर्लक्ष्य होता है और दृष्टि में निमेष-उन्मेष नहीं होते। यह (मुद्रा) वेद आदि शास्त्रों में छिपी हुई है।

२. **संवरियासवदारा, अव्वाबाहे अकंटए देसे।**
काऊण थिरंठाणं, ठिओ निसन्नो निवन्नो वा॥
चेयणमचेयणं वा वत्थुं अवलंबिऊं घणं मणसा।
झायइ सुअमत्थं वा दवियं तप्पजएवाही॥

–''*आवश्यक सूत्र निर्युक्ति*'' अन्तर्गत कायोत्सर्ग-अध्ययन, गाथा १४६५-१४६६

बारसहिं भिक्खु पडिमाहिं-''आवश्यक सूत्र'' श्रमणसूत्र वृत्ति।

ज्यों-ज्यों कायोत्सर्ग के अभ्यास में वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों आन्तरिक एवं बाह्य दृष्टि की निश्चलता (निर्निमेषता) बढ़ती जाती है और बारहवीं प्रतिमा तक पहुँचने तक एक रात्रि अर्थात् बारह घण्टों तक केवल एक शुष्क पुद्गल पर निर्निमेष दृष्टि से कायोत्सर्ग करने की क्षमता प्राप्त होती है।

इस प्रकार तारा, परम-तारा-ध्यान कायोत्सर्ग में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई निश्चलता और अनिमेष दृष्टि का तारतम्य बताते हैं।

"कायोत्सर्ग" सूत्र एवं "चैत्यस्तव" में कायोत्सर्ग के स्वरूप, निमित्तों और हेतुओं आदि का उल्लेख हुआ है, जिसमें उत्तरोत्तर बढ़ती हुई श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा और अनुप्रेक्षापूर्वक कायोत्सर्ग करने का विधान है।

श्रद्धा आदि पाँचों की वृद्धि से कायोत्सर्ग में निश्चल दृष्टि एवं निर्निमेष-दृष्टि का विकास होता है। बाह्य दृष्टि की निश्चलता आदि आन्तरिक दृष्टि की निश्चलता की द्योतक है।

१५-१६. लय-परमलय ध्यान

मूलपाठ—लय : वज्रलेपादिद्रव्येण संश्लेषो द्रव्यतः।
भावतोऽर्हदादिचतुःशरणरूपश्चेतसो निवेशः ॥१५॥
परमलय : आत्मन्येवात्मानं लीनं पश्यतीत्येवंरूपः ॥१६॥

अर्थ— लय : वज्रलेप आदि द्रव्यों से वस्तुओं का जो परस्पर प्रगाढ़ संयोग होता है, वह द्रव्य से लय है।

अरिहन्त, सिद्ध, साधु तथा केवली-प्ररूपित धर्म—इन चारों की शरण अंगीकार करने के रूप में जो चित्त का निवेश है, वह भाव से लय है।

परम लय : आत्मा में ही आत्मा को लीन हुआ देखना "परम लय" है।

विवेचन—कायोत्सर्ग में स्थित साधक की बाह्य-दृष्टि की निश्चलता एवं निर्निमेषता का तारतम्य "तारा एवं परम-तारा" ध्यान के द्वारा बताया गया है। उस समय साधक की अन्तर्दृष्टि अरिहन्त आदि किस ध्येय के चिन्तन में लीन होती है—उस अन्तर्लक्ष्य का स्वरूप प्रस्तुत "लय एवं परम-लय" ध्यान के द्वारा बताया जाता है।

"लय" ध्यान में मुख्यतः ध्येय के रूप में अरिहन्त, सिद्ध-साधु और सर्वज्ञ-प्रणीत धर्म की सम्पूर्ण शरणागति का भाव होता है अर्थात् ध्याता का चित्त अरिहन्त आदि के स्मरण में अथवा गुण चिन्तन में लीन होता है।

"**चउशरण पयन्ना**" तथा "**पंचसूत्र**" में अरिहन्तादि चारों की शरण परम भक्तिपूर्ण हृदय से, उल्लसित रोमांचित देह से, विकसित नेत्रों से, मस्तक पर अंजलि जोड़कर स्वीकार करने को कहा गया है।

अरिहन्त भगवान, सिद्ध भगवान, साधु महात्मा और केवली कथित सुखदायक धर्म—ये चारों चार प्रकार की गतियों के कष्ट-निवारक हैं। धन्य पुरुष ही उनकी शरण अंगीकार करके निर्भय बनते हैं।[१]

चतु:शरण-गमन में पाँच परमेष्ठियों और शाश्वत नौ पदों की उपासना का अन्तर्भाव हुआ है।

प्रथम और द्वितीय शरण में अरिहन्त तथा सिद्ध दो परमेष्ठि भगवानों की भक्ति होती है।

तृतीय शरण में आचार्य, उपाध्याय और साधु-पद की उपासना निहित है।

चतुर्थशरण-केवली कथित धर्म में सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप-पद की उपासना निहित है।

बिना शर्त का समर्पण शरणागति है। विशिष्ट-गुणवान महापुरुषों की शरण में जाने से हमारी रक्षा होती है।

१. अरिहन्त परमात्मा, २. सिद्ध भगवान, ३. साधु-महात्मा और ४. केवली-कथित धर्म सर्वोत्तम हैं, सर्व विघ्न-विदारक हैं, सर्वसिद्धिदायक हैं, कल्पनातीत सुख के प्रदाता हैं, परम मंगल स्वरूप हैं और सम्पूर्ण जीव-लोक के योग और क्षेम के कर्त्ता हैं।

अत: इन चारों की शरण में आए हुए व्यक्यिों की सब प्रकार से रक्षा होती है।

जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा की शरण में आए हुए का अधीनस्थ मांडलिक राजा कुछ नहीं बिगाड़ सकते, उसी प्रकार चारों की शरण में रहने वालों को चक्रवर्ती अथवा देवेन्द्र भी कुछ नहीं कर सकते। इतना ही नहीं बल्कि वे उनका सम्मान करते हैं।

पूज्य हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने अपने "**योगशतक**" ग्रन्थ में कहा है कि "अरिहन्त" आदि चारों गुणाधिक होने से उनका स्मरण, शरण एवं ध्यान आदि करने वाले साधक की अवश्य ही रक्षा होती है।

इन चारों तत्त्वों का ऐसा विशिष्ट स्वभाव है कि जो कोई साधक उनका स्तवन, कीर्तन, शरण और ध्यान करता है, उसके क्लिष्ट कर्म तथा समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं और वह परम शान्ति प्राप्त करता है।[२]

"**पंचसूत्र**" में चतु:शरण आदि को पाप के प्रतिघात और गुणों के बीजाधान का प्रधान कारण माना है। उसका कारण यह है कि शरणागत भाव परम भक्तियोग है और भक्तियोग समस्त योगों का परम बीज है, सहजसमाधिरूप लय अवस्था का प्रधान साधन है।

"**शक्रस्तव**" में सिद्धसेन सूरीश्वरजी महाराज ने अनन्य शरण्य श्री अरिहन्त परमात्मा के प्रति शरणागत-भाव को व्यक्त करते हुए कहा है कि—"हे प्रभु! आप ही समस्त लोकों में उत्तम हैं। इस विश्व में आपकी बराबरी कर सके ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है। अत: आप अद्वितीय हैं, निरूपम हैं आप ही शाश्वत मंगल

---

१. **अह सो जिणभत्तिभरुच्छंत रोमांच कंचुअ-करालो।**
पहरिस पणउम्मीसं सीसंमि कयंजलि भणइ॥
अरिहंत सिद्ध साहु केवली-कहिओ सुहावहो धम्मो।
ए ए चउरो चउगइ-हरणा सरणं लहइ धन्नो॥

—*चउसरणपयन्ना*, गाथा ११

२. **न ही अतश्चतुष्टयादन्यच्छरण्यमस्ति, गुणाधिकस्य शरणत्वात्, गुणाधिकत्वेनैव ततो रक्षोपपत्तेः, रक्षा चेह तत्तत्स्वभावतया एवाभिध्यानतः क्लिष्टकर्मविगमेन शान्तिरिति।** —*योगशतक स्वोपज्ञवृति*, गाथा ५०

स्वरूप हैं, सिद्ध, साधु और सद्धर्ममय आप ही हैं। अतः मैं आपकी ही शरण स्वीकार करता हूँ।"[१]

जो सचमुच शरण्य है 'सरणंदयाणं' है उनकी जो त्रिविध रूप से अन्तःकरणपूर्वक शरण अंगीकार करते हैं उन्हें वे शरण्य परमात्मा पूर्णतः निर्भय एवं निश्चिन्त अर्थात् स्व-तुल्य बना देते हैं।

साधक-चित्त का परमात्मा में लय होना ही सर्वोत्कृष्ट शरण-भाव है शरणागति है।

विश्व के समस्त जीवों के दुःख का निवारण और सुख का कारण स्वभावतः अभयकर अरिहन्त परमात्मा की शरण है।[२]

शरण्य के प्रति शरणागति का भाव जब क्रमशः पराकाष्ठा पर पहुँचता है, तब तक साधक का चित्त शरण्य अरिहन्त आदि में लीन हो जाता है और शरण्य में शरणागत की लीनता ही लय ध्यान है।

कायोत्सर्ग में भी उपरोक्त तत्त्व-पद ही ध्येयरूप होते हैं। प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाओं में कायोत्सर्ग करते समय "लोगस्स और नवकार मन्त्र" गिनने का विधान है।

"लोगस्स" सूत्र में अरिहन्त एवं सिद्ध परमात्मा के नाम का स्मरण होता है और "नवकार मन्त्र" में पंच परमेष्ठि भगवन्तों का स्मरण होता है।

"लोगस्स" सूत्र "उद्योतकर" और "नामस्तव"—इन दो नामों से पहचाना जाता है। इसके अवलम्बन से लय उत्पन्न होती है।

परमात्मा का नाम-स्मरण शरणगमन स्वरूप ही है। कायोत्सर्ग में "लोगस्स" सूत्र अथवा "नवकार मन्त्र" के स्मरण एवं ध्यान के द्वारा परमात्मा की सम्पूर्ण शुद्धता का ही स्मरण एवं ध्यान होता है तथा जिनमें सम्पूर्ण शुद्धता प्रकट हो चुकी है, उनके स्मरण तथा ध्यान के द्वारा ध्याता को अपनी आत्मा की सम्पूर्ण शुद्धता का स्मरण एवं ध्यान होता है।

आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा में-आत्म-स्वभाव में लीन होती है उसे "परम-लय" कहते हैं परन्तु इस चरण की प्राप्ति चतुःशरण-गमन के प्रकृष्ट परिणाम से ही होती है।

अरिहन्त आदि के स्मरण-शरण से उनमें निहित शुद्ध धर्म का आदर होता है, जिससे शरणागत साधक में वैसा ही शुद्ध धर्म प्रकट होता है परन्तु अरिहन्त आदि के आलम्बन के बिना कोई भी आत्मा अपने शुद्ध धर्म को शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता।

परमात्म-स्वरूप का चिन्तन

कहा भी है कि—"परमात्मा के स्वरूप को पहचाने बिना आत्म-तत्त्व में स्थिति नहीं हो पाती

---

१. **लोकोत्तमो निष्प्रतिमस्त्वमेव, त्वं शाश्वतं मंगलमप्यधीश।**
त्वामेकमर्हन्! शरणं प्रपद्ये, सिद्धर्षिसद्धर्ममयस्त्वमेव॥
—*शक्रस्तव*, श्लोक १

२. **पुरिसा! जइ दुक्ख-वारणं जइ य विमग्गह सुक्ख-कारणं।**
अजिअं संतिं च भावओ अभयकरे सरणं पवज्जहा॥
—*अजितशान्ति-स्तव*, गाथा ६

और परमात्म-स्वरूप को पहचान कर मुनिगण उसके ही विराट वैभव को प्राप्त करते हैं।"[१] अतः मुमुक्षु साधकों को परमात्मा का स्वरूप ही सर्वप्रथम जानना चाहिए और अन्य की शरण (आलम्बन) त्याग कर उनमें ही अन्तरात्मा को स्थापित करके उन्हीं का ध्यान करते रहना चाहिए।

जो वाणी को अगोचर है अव्यक्त, अनन्त, अजर, जन्म-मृत्यु के परिभ्रमण से रहित, शब्दातीत एवं निर्विकल्प है उस परमात्मा का ही चिन्तन करना चाहिए। जिनके केवल ज्ञान के अनन्तवें भाग मात्र में भी अनन्त द्रव्य-पर्याय से परिपूर्ण समग्र लोक और अलोक अवस्थित है, प्रतिबिम्बित है वह परमात्मा ही तीनों लोकों के गुरु हैं।[२]

जो सुरों, असुरों तथा मनुष्यों के अधिपतियों के द्वारा पूजित हैं, जो सम्पूर्ण विश्व के हितकारक हैं और जो समस्त दोषों से पूर्णतः मुक्त हैं, वह देवाधिदेव परमात्मा के रूप में प्रसिद्ध हैं।

वह देवाधिदेव परमात्मा निराकार, निराभास (मुँह से जिनका वर्णन नहीं किया जा सके) निष्प्रपंच, निरंजन (कर्म रूपी अंजन से रहित) सदा आनन्दमय, सिद्ध, बुद्ध एवं निरामय (कर्म रूप विकार से रहित) हैं।

वह परमात्मा अनन्त, केवल, नित्य, व्योमस्वरूप (आकाश की तरह ज्ञान से विभु) सनातन (अनादि, अनन्त, परब्रह्म स्वरूप) विश्वात्मा स्वरूप, विश्व-व्यापी और पुरातन हैं।

वह समस्त कर्मों एवं कलाओं से अतीत, कलावान फिर भी कला विहीन, परम ज्योति, परम ब्रह्म और पर से भी पर हैं। जो शान्त, सर्वज्ञ एवं सुखदायी हैं जो जगत् के नाथ हैं, क्रियातीत एवं गुणातीत (सत्त्व, रजस एवं तमस इन तीन गुणों से पूर्णतः मुक्त है) और जगत् के समस्त तेजों में विलक्षण तेज वाले हैं तथा लोक के गुरु हैं।[३]

इस प्रकार परमात्मा के गुणों की स्तवना करने से प्रसन्न हुए साधक का चित्त परमात्म-चिन्तन में स्थिर हो जाता है और परमात्म-स्वरूप में स्थिर चित्त तन्मयता प्राप्त करता है।

तीर्थंकर भगवान की शान्त रसपूर्ण प्रतिमा का निर्निमेष दृष्टि से ध्यान करने वाला साधक रूपस्थ ध्यान के अभ्यास के बल से उनके ध्यान में तन्मय बने अपने आत्मा को भी सर्वज्ञ के रूप में देखता

---

१. **यत्स्वरूपापरिज्ञानात्-नात्मतत्त्वेस्थितिर्भवेत्।**
यज्ज्ञात्वा मुनिभिः साक्षात् प्राप्तं तस्यैव वैभवम्॥
–*ज्ञानार्णव*, अ० ३१ श्लोक ३१

२. **अवाग्गोचरमव्यक्तमनंतं शब्दवर्जितम्।**
अजं जन्मभ्रमातीतं निर्विकल्पं विचिन्तयेत्॥
यद बोधानंतभागेऽपि द्रव्य-पर्यायसंभृतम्।
लोकालोकं स्थितिं धत्ते स स्याल्लोकत्रयीगुरुः॥
–*ज्ञानार्णव*, अ० ३१, श्लोक ३३-३४

३. *योगप्रदीप*, श्लोक २५, २७, २८, २९, ३४, ३९

है, तत्पश्चात् अमूर्त्त, चिदानन्द स्वरूप, निरंजन परमात्मा का ध्यान करता है। इस प्रकार निरन्तर ध्यानाभ्यास करने वाला योगी सिद्ध स्वरूप के आलम्बन से ग्राह्य-ग्राहक भाव से रहित होकर आत्म-स्वरूप में तन्मय बन जाता है।

सिद्ध परमात्मा की अनन्य शरण अंगीकार करके साधक उनके स्वरूप में ऐसी अपूर्व लीनता प्राप्त करता है कि जिससे ध्यान और ध्याता भाव का विलय हो जाता है और साधक ध्येय के साथ एकत्व प्राप्त करता है अर्थात् जब आत्मा भेद का छेदन कर, अभेद रूप से परमात्म-ध्यान में लीन हो जाता है, उस स्थिति को समरसी-भाव अथवा एकीकरण कहते हैं अर्थात् यही "लय-ध्यान" है।

लक्ष्य के सम्बन्ध से अलक्ष्य का, स्थूल से सूक्ष्म का और आलम्बन से निरालम्बन का चिन्तन करने वाले तत्वज्ञ योगी पुरुषों को आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार शीघ्र हो जाता है अर्थात् वे स्वयं को आत्म-स्वभाव में ही लीन देखते हैं। यही "परम लय ध्यान" है। "लय" में संभेद-प्रणिधान परम लय में अभेद प्रणिधान का अन्तर्भाव हुआ है।

यहाँ शरण प्रणिधान स्वरूप है[1] और प्रणिधान वज्रलेप के समान है। जिस प्रकार वज्रलेप के संयोग से भवन, मूर्ति आदि पदार्थों की स्थिति लाखों, करोड़ों वर्षों जितनी दीर्घकालिक एवं टिकाऊ हो जाती है।[2] उस प्रकार से अरिहन्त आदि की अनन्य शरण-रूप चित्त प्रणिधान से ध्याता का आत्मा

---

१. "प्रणिधान" अर्थात् ध्येय के प्रति एकाग्रता अटल श्रद्धा, अत्यन्त प्रेम और विश्वासयुक्त शरण (आश्रय)

२. मन्दिर, भवन आदि को सुदृढ़ बनाने के लिए प्राचीन समय में दीवारों आदि पर जो लेप किया जाता था, वह "बृहत्संहिता" में वज्रलेप के नाम से निम्नानुसार प्रसिद्ध है—

आमं तिन्दुकमामं कपित्थकं पुष्पमपि च शाल्मल्याः।
बीजानि शल्लकीनां धन्वनवल्को वचा चेति॥ १॥
एतैः सलिलद्रोणः क्वाथयितव्योऽष्टभगशेषश्च।
अवतार्योऽस्य च कल्को द्रव्यैरेतैः समनुयोज्यः॥ २॥
श्रीवासक-रस-गुग्गुल-भल्लातक-कुन्दुरुक-सर्जरसैः।
अतसी-बिल्वैश्च युतः कल्कोऽयं वज्रलेपाख्यः॥ ३॥
प्रासाद-हर्म्य-वलभी-लिङ्ग-प्रतिमासु कुड्यकूपेषु।
सन्तप्तो दातव्यो वर्ष सहस्त्रायुतस्थायी॥ ४॥

अर्थ—कच्चे टीबरु, कच्चे कोठे, खटुंबरे, शिमला के पुष्प, सारफल के बीज, धामण वृक्ष की छाल और घोड़ा वज—ये औषधियाँ समान तोल में लेकर फिर उन्हें एक द्रोण अर्थात् २५६ तल = १०२४ तोले जल में डाल कर उबालें। जब जल का आठवाँ भाग शेष रहे तब नीचे उतार कर उसमें सरु वृक्षों का गोंद, हीराबोल, गूगल भिलामा, देवदार का गोंद (कुंदरु) राल अलसी और बिल्वफल इन ओषदियाँ चूर्ण डालें, जिससे व्रजलेप तैयार होता है॥ १,२,३॥

उपरोक्त वज्रलेप देव-मन्दिर, भवन, झरोखा, शिव-लिङ्ग, प्रतिमा, दीवार और कूवट आदि स्थानों पर खूब गर्म-गर्म लगाया जाए तो उस भवन आदि की स्थिति एक करोड़ वर्षों की होती है॥ ४॥

—*वास्तुसार*, परिशिष्ट-ए, पृष्ठ-१४७

भी अरिहन्त भगवान के साथ लय प्राप्त कर दीर्घ काल तक एकता का अनुभव कर सकता है तथा तज्जनित "अभेद-प्रणिधान" के योग से अपने आत्म-स्वभाव में सहज ही तन्मय बन सकता है।

१. संभेद-प्रणिधान अर्थात् "अर्हं" आदि ध्येय के साथ ध्याता का सर्वतः भेद सम्बन्ध होना, अर्थात् "अर्हं" आदि पद में ध्याता अपने आत्मा का न्यास (स्थापन) करके उसका चिन्तन करे।

२. अभेद-प्रणिधान का अर्थ है—परम ज्योति स्वरूप परमात्मा का आत्मा के साथ अभेद रूप में ध्यान करना। स्वयं देवो भूत्वा देव ध्यायेत्—स्वयं देवरूप में भावित होकर देव का, परमात्मा का ध्यान करो।

योग की दृष्टि से लय-परम-लय

योग की दृष्टि से "लय" समापत्ति-समाधि स्वरूप है। "लय" में "तात्स्थ्य" और "परम-लय" में "तदंजनता" समापत्ति का अन्तर्भाव है।

उत्तम मणि की तरह क्षीणवृत्ति वाले साधक को, परमात्मा के गुणों के "संसर्गारोप" से तथा परमात्मा के "अभेदरोप" से निःसंशय "समापत्ति" कही गई है।[1]

यहां "तात्स्थ्य" अर्थात् अन्तरात्मा में परमात्मा के गुणों का "संसर्गारोप" और "तदंजनत्व" अर्थात् अन्तरात्मा में परमात्मा का "अभेदारोप"।

इस ध्यान का फल समाधि है जो अत्यन्त विशुद्ध है। उस समापत्ति से प्रकृष्ट पुण्य प्रकृति स्वरूप तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है और उसके बाद तीर्थंकर के भव में च्यवन, जन्म आदि कल्याणकों के प्रसंग में क्रमशः उस तीर्थंकर नामकर्म की अभिव्यक्ति अर्थात् जिन-नामकर्म का उदय होता है।[2]

जिस प्रकार निर्मल स्फटिक में प्रथम बाह्य-पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है और फिर स्फटिक उस वर्ण आदि वाला बन जाता है उस प्रकार यहाँ निर्मल आत्मा में प्रथम परमात्म स्वरूप, ध्यान के द्वारा उपस्थित होता है और तत्पश्चात् वह आत्मा ही परमात्म-स्वरूप बन जाती है। इसमें प्रथम स्थिति को "तत्स्थता-समापत्ति" और दूसरी स्थिति को "तदंजनता-समापत्ति" कहा जाती है। उक्त समापत्ति वैज्ञानिक सम्बन्ध-विशेष है और वह सम्बन्ध-विशेष, ध्यान के समय भासित होता है।

---

१. **मणेरिवाभिजातस्य क्षीणवृत्तेरसंशयम्।**
तात्स्थ्यात्तदञ्जनत्वाच्च समापत्तिः प्रकीर्तिता॥
—*द्वात्रिंशद्वात्रिंशिका-योगावतार द्वात्रिंशिका*, श्लोक १०

२. **आपत्तिश्च ततः पुण्यतीर्थकृत्कर्मबन्धतः।**
तद्भावाभिमुखत्वेन संपत्तिश्च क्रमात् भवेत्॥
—*ज्ञानसार-ध्यानाष्टक*, श्लोक ४

उस ध्यान का आकार प्रथम ''मयि तद्रूपता'' मुझ में वह परमात्म-स्वरूप है और फिर ''स एव अहम्'' वही मैं हूँ—ऐसा होता है। ''मयि तद्रूपता'' तत्स्थता-समापत्ति है और ''स एव अहम्'' ''तदंजनता-समापत्ति'' है।

आगमिक दृष्टि से लय-परम-लय

आगमों की दृष्टि से ''लय'' में अरिहन्त भगवान के शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय का ध्यान होता है और 'परम-लय' में उनके ध्यानावेश के प्रभाव से स्व-द्रव्य-गुण-पर्याय का ध्यान होता है।

अरिहन्त परमात्मा के शुद्ध स्फटिक तुल्य निर्मल स्वरूप के ध्यान से प्रथम परमात्मा के द्रव्य, गुण, पर्याय का ज्ञान और तत्पश्चात् ध्याता में निश्चय रूप से रहे हुए द्रव्य, गुण, पर्याय के सादृश्य का ज्ञान होता है। फिर परमात्मा एवं ध्याता की आत्मा में अभेद होने की बुद्धि उत्पन्न होती है।

कहा गया है कि जो (आत्मा) अरिहन्त परमात्मा को द्रव्य, गुण, पर्याय से जानता है, वह आत्मा को जानता है और उसका मोह सचमुच नष्ट हो जाता है क्योंकि दोनों आत्माओं में निश्चित रूप से कोई अन्तर नहीं है।[१]

अरिहन्त परमात्मा का स्वरूप अन्तिम ताप लगे स्वर्ण के स्वरूप की तरह सब प्रकार से शुद्ध एवं स्पष्ट होता है जिससे उसका ज्ञान होने पर समस्त आत्माओं का ज्ञान होता है।

द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप

गुण एवं पर्यायों के आधार को ''द्रव्य'' कहते हैं तथा ''द्रव्यों'' के ज्ञान आदि विशेषणों को ''गुण'' कहते हैं और एक समय मात्र काल के प्रमाण से चैतन्य आदि की परिणति के भेदों को ''पर्याय'' कहते हैं।

सर्वतः विशुद्ध अरिहन्त परमात्मा के स्वरूप में लीन बना ध्याता द्रव्य-गुण-पर्यायमय निज आत्मा को अपने मन से निम्नानुसार जान लेता है।

यह चेतन (आत्मा) है—ऐसा अन्वय ''द्रव्य'' है। अन्वय के आश्रित रहा हुआ ''चैतन्य'' ऐसा जो विशेषण सो गुण है और एक समय मात्र की सीमा वाला जिसका काल-परिमाण होने से परस्परपरावृत अन्वय एवं व्यतिरेक ''पर्याय'' है जो चिद्-विवर्त (आत्मा के परिणमन) की ग्रन्थियाँ हैं।

अब इस प्रकार त्रिकालिक आत्मा को भी एक काल में जान लें तो उस ध्याता का जीव चिद्-

---

१. **जो जाणदि अरिहंते दव्वत्त-गुणत्त-पज्जवत्तेहिं।**
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

–*प्रवचनसार*, गाथा ८०

विवर्ती (ज्ञान, आदि गुणों के पर्यायों) को चेतन-तत्त्व में समा करके चैतन्य (विशेषण) को भी आत्मा में अन्तर्निहित करके केवल "आत्मा" (त्रिकालिक पर्याययुक्त) का अनुभव करता है।

इस प्रकार आत्मा को जान लेने से ध्याता निर्विकल्प चिन्मात्र समाधि-भाव प्राप्त करता है और उससे मोह आदि शत्रु नष्ट हो जाने से वह निर्भयता अनुभव करता है।

१७-१८. लव-परम-लव ध्यान

मूलपाठ—लव : द्रव्यतो दात्रादिभिः शस्यादेर्लवनम्।
भावतः कर्मणां शुभध्यानानुष्ठानैर्लवनम्॥ १७॥
परमलव : उपशमश्रेणि-क्षपकश्रेणी ॥ १८॥

अर्थ—हंसिये आदि से घास आदि काटना "द्रव्य से लव" है।

शुभ ध्यान रूप अनुष्ठानों के द्वारा कर्मों का छेदन करना "भाव से लव" है।

परम-लव—उपशम श्रेणी तथा क्षपक श्रेणी "परम-लव" है।

विवेचन— "लवध्यान" कर्मों को काटने की प्रक्रिया है। जिस प्रकार हंसिये के द्वारा घास आदि काटी जाती है उसी प्रकार शुभ ध्यान रूप सदनुष्ठान के द्वारा अशुभ-कर्मों रूपी घास काटी जाती है।

पूर्वोक्त ध्यानों तथा संयम आदि अनुष्ठानों की विशेष शुद्धि हो जाने से अत्यधिक प्रमाण में कर्मों का जो उपशम अथवा क्षय-मूलोच्छेदन होता है उस अवस्था को "लव" तथा "परम-लव" के द्वारा बताया जाता है।

इन ध्यानों में वीर्य-शक्ति की अत्यन्त प्रबलता होती है। उनके तारतम्य के अनुसार उत्तरोत्तर आत्म-शुद्धि में तारतम्य आता है जिसका स्पष्ट विवरण उपशम श्रेणी एवं क्षपकश्रेणी के द्वारा "**कर्म-प्रकृति**" आदि ग्रन्थों में दिया गया है जिसका संक्षिप्त सार निम्नलिखित है—

कर्म के मुख्य आठ प्रकार हैं जिनमें मोहनीय कर्म मुख्य है। इसका बल प्रभाव कम किये बिना आत्मा का यथार्थ विकास नहीं हो सकता।

मोहनीय कर्म के २८ उपभेद हैं जिनकी विशेष जानकारी "**कर्म-ग्रन्थ**" आदि ग्रन्थों के द्वारा समझ लें। यहाँ तो कर्मों का क्षय और उपशम (अर्थात् उदय में आये हुए कर्म-दलों का क्षय और सत्ता में विद्यमान कर्म-दलों का उपशम) किस क्रम से होता है यह बताकर आत्म-विशुद्धि के तारतम्य का ख्याल देना है जिससे "लव" एवं "परम-लव" ध्यानों का कार्य—जो कर्म का लव-विच्छेद है उसका बोध हो सके।

ज्ञानावरणीय आदि मुख्य आठ प्रकार के कर्मों में से केवल मोहनीय कर्म का ही उपशम होता है।

मोहनीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ (उपभेद) २८ प्रकार की होने से उनके उपशम को (एक के बाद एक क्रमानुसार होते उपशम को) "उपशम श्रेणी" कहा जाता है।

उपशम श्रेणी

जिसके द्वारा आत्मा मोहनीय कर्म को सर्वथा शान्त करे ऐसी उत्तरोत्तर बढ़ने वाली विशुद्ध परिणाम की धारा को उपशम-श्रेणी कहते हैं।

इस उपशम-श्रेणी का प्रारम्भिक अप्रमत्त मुनि ही होता है।

श्रेणी के दो अंश हैं—(१) उपशम-भाव का सम्यकत्व और (२) उपशम-भाव का चारित्र।

चारित्रमोहनीय की उपशमना करने से पूर्व उपशम-भाव का सम्यक्त्व सातवें गुणस्थानक पर ही प्राप्त होता है क्योंकि दर्शन-मोहनीय की सातों प्रकृतियों का सातवें गुणस्थानक में ही उपशमन करता है अत: उपशम-श्रेणी का प्रस्थापक अप्रमत्त मुनि है।

कतिपय अन्य आचार्यों का कथन है कि अविरत सम्यग्दृष्टि देशविरति, प्रमत्त अथवा अप्रमत्त गुणस्थानक में प्रवर्तमान कोई भी जीव अनन्तानुबंधी कषायों का उपशमन करता है। इस अभिप्राय से चौथे गुण-स्थानक से उपशम-श्रेणी का प्रारम्भ कहा जा सकता है।

उनमें प्रथम अनन्तानुबंधी का उपशमन करता है। तत्पश्चात् अन्तमुर्हूर्त रहकर दर्शन-त्रिक का उपशमन करता है दर्शन-त्रिक के उपशमन के बाद प्रमत्त, अप्रमत्त गुणस्थानक में सैंकडों बार परिवर्तन करके अपूर्वकरण नामक (आठवें) गुणस्थानक में जाता है। वहाँ अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त स्थितिघात आदि (स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुण-संक्रम और अपूर्व स्थिति बंध—इस प्रकार पाँच पदार्थों) के द्वारा विपुल स्थिति और विपुल रस घटाकर, अनिवृत्ति-बादर सम्पराय नामक नौवें गुणस्थानक में जाता है। यहाँ भी स्थिति-घात आदि के द्वारा विपुल स्थिति एवं विपुल रस कम करता है। इस गुणस्थानक के संख्यातें भाग जाने पर और एक भाग शेष रहने पर चारित्र-मोहनीय की २१ कृतियों का ''अन्तरकरण'' करता है।[१]

तत्पश्चात् वह पहले ''नपुंसक-वेद'' का उपशमन करता है तत्पश्चात् स्त्री-वेद, फिर एक साथ हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्ता रूप ''हास्य-षट्क'' का उपशमन करता है।

तत्पश्चात् ''पुरुष वेद'' फिर एक साथ अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण क्रोध, तत्पश्चात् संज्जलन क्रोध, फिर एक साथ अप्रत्याख्यानावरण मान और प्रत्याख्यानावरन मान तत्पश्चात् संज्वलन मान, फिर एक साथ अप्रत्याख्यानावरण माया, और प्रत्याख्यानावरण माया, तत्पश्चात् संज्वलन माया, फिर एक साथ अप्रत्याख्यानावरण लोभ और प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशमन करता है।

तत्पश्चात् आत्मा दसवें सूक्ष्म-संपराय-गुणस्थानक में प्रवेश करता है। संज्वलन लोभ की कीट्टियों

---

१. ''अन्तरकरण'' अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में भोगे जा सके उतने स्थानकों के दलों को वहाँ से हटाकर, दल-रहित शुद्ध भूमिका करना, यद्यपि उस शुद्ध भूमि का नाम ही ''अन्तरकरण'' है। परन्तु वहाँ से दल हटे बिना भूमि शुद्ध नहीं होती। अत: कारण में कार्य का आरोप करके, ''अन्तरकरण'' क्रिया-काल को भी ''अन्तरकरण'' कहा जाता है।

को[१] उदय उदीरणा से भोग करके उस गुण-स्थानक के चरम-समय में संज्वलन लोभ को सर्वथा शान्त करता है।

तत्पश्चात् के समय में आत्मा उपशान्त-मोह नामक ग्यारहवें गुण-स्थानक में प्रविष्ट होता है।

इस गुण-स्थानक में मोहनीय-कर्म की एक-एक प्रकृति सम्पूर्णतः उपशान्त हो चुकने के कारण उन प्रकृतियों में संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, निधत्ति, निकाचना और उदीरणाकरण प्रवृत्त नहीं होते। एवं उन प्रकृतियों का उदय भी नहीं होता। इस समय में आत्मा वीतराग-दशा का अनुभव करता है।

इस उपशान्त मोह गुणस्थानक में आत्मा जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त मात्र रहता है। तत्पश्चात् उसका पतन अवश्य होता है क्योंकि मोहनीय कर्म के अस्तित्व का मूलोच्छेदन न होने से अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् उपशान्त हुए कषाय पुनः उदय में आते हैं।

प्रतिपात दो प्रकार से होता है—१. भवक्षय द्वारा और २. अद्धाक्षय द्वारा।

१. भवक्षय — आयुष्य पूर्ण होने से मृत्यु हो जाये तो वह अवश्य ही अनुत्तर देवलोक में जाता है और वहाँ उत्पत्ति के प्रथम समय में ही चौथा गुणस्थानक प्राप्त होता है।

२. अद्धाक्षय — उपशान्त मोह नामक गुण-स्थानक का काल पूर्ण हो जाने पर पतन होता है तो जिस क्रम से उत्थान हुआ उसी क्रम से पतन होता है। पतन होते समय क्रमशः सातवें और छठे तक तो आता ही है वहाँ यदि स्थिर न हो तो कोई पाँचवें और चौथे गुणस्थानक पर भी आता है तो कोई तीसरे से गिर कर पहले पर और कोई दूसरे में होकर पहले गुणस्थानक में आकर खड़ा रहता है और अब तक किया हुआ प्रबल पुरुषार्थ पराजित हो जाता है।

क्षपक श्रेणी—

क्रमशः चढ़ते हुए जिस अध्यवसाय के द्वारा आत्मा दर्शन-मोहनीय का और तत्पश्चात् चारित्र मोहनीय का सर्वथा क्षय करे, उसे क्षपक श्रेणी कहते हैं। इसके दो अंश हैं— (१) क्षायिक भाव का सम्यक्त्व और (२) क्षायिक भाव का चारित्र।

क्षपक-श्रेणी प्रारम्भ करने वाला मनुष्य होता है और वह आठ वर्ष से अधिक आयु वाला, प्रथम संघयण वाला, शुद्ध ध्यान युक्त मनवाला अविरत सम्यग्दृष्टि, देश-विरति, प्रमत्त अथवा अप्रमत्त किसी भी गुण-स्थानक पर वर्तमान एवं क्षयोपशम सम्यक्त्वी होता है।

---

१. तीव्र विशुद्धि के बल से लोभ की वर्गणाओं में इतना अधिक रस कम कर देना चाहिए कि जिससे चढ़ते-चढ़ते रसाणु वाली वर्गणा का क्रम टूट जाये और वर्गणाओं-वर्गणाओं के बीच बड़ा अन्तर पड़ जाये, उसे "कीट्टी" कहा जाता है।

उपशम श्रेणी में मोहनीय की प्रकृतियों के उदय को शान्त किया जाता है, परन्तु उनकी सत्ता तो बनी रहती है लेकिन वह सत्ता केवल अन्तर्मुहूर्त तक अपना बल, फल, आदि दिखा नहीं सकती, जबकि क्षपक श्रेणी में तो मोहनीय आदि कर्मों की प्रकृतियों को समूल नष्ट किया जाता है, उनकी सत्ता ही उखाड़ दी जाती है जिससे उनके पुनः उदय का भय ही नहीं रहता। इस कारण ही क्षपक-श्रेणी में पतन की सम्भावना नहीं है।

क्षपक-श्रेणी में जिन प्रकृतियों का क्षय होता है, उनके नाम और क्रम इस प्रकार हैं—आत्मा यथा प्रवृत्त आदि तीन करणों के द्वारा सर्वप्रथम अनन्तानुबंधी चारों कषायों का समकाल में क्षय करता है।

तत्पश्चात् मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व—इस दर्शन मोहनीय-त्रिक का क्रमशः क्षय करता है। कोई बद्धायु जीव उपरोक्त दर्शन सप्तक का क्षय करके रुक जाता है आगे चारित्र-मोहनीय का क्षय करने का प्रयत्न नहीं करता, परन्तु अबद्धायु जीव उस श्रेणी को समाप्त करके केवल-ज्ञान और क्रमशः मोक्ष-पद प्राप्त करता है।

समग्र श्रेणी को समाप्त करने वाले क्षपक को तीन आयुष्य (देव, नारक, तिर्यंच, आयु) का अभाव स्वतः होता है और वह पूर्वोक्त अनन्तानुबंधी एवं दर्शन-त्रिक का क्षय चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुण-स्थानक तक अवश्य करता है।

तत्पश्चात् वह अप्रत्याख्यानीय और प्रत्याख्यानीय आठों कषायों का क्षय करना प्रारम्भ करता है। फिर उनका पूर्ण क्षय न हो उससे पूर्व अर्थात् मध्यावधि में एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय—इन चार जातियों, थीणाद्धि-त्रिक, उद्योत, तिर्यंच-द्विक, नरक-द्विक, स्थावर सूक्ष्म, साधारण और आतप—इन सोलह कर्म-प्रकृतियों का क्षय करता है। तत्पश्चात् वह आठ अवशेष कषायों का क्षय करता है। वह अन्तर्मुहूर्त काल में ही इन समस्त प्रकृतियों का क्षय करता है।

तत्पश्चात् वह नपुंसक-वेद और फिर स्त्री-वेद का क्षय करता है, हास्य षट्क का पुंवेद का और संज्वलन क्रोध-मान-माया का नवें गुण-स्थानक तक अन्त करता है। वह दसवें गुण-स्थानक में संज्वलन लोभ का तथा बारहवें गुणस्थानक में निद्रा-द्विक, अन्तरायपंचक एवं नौ आवरणों का क्षय करता है। अतः वहाँ केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है आत्मा में पूर्ण ज्ञान का प्रकाश प्रदीप्त होने लगता है।

शेष कर्म-प्रकृतियों का "शैलेषीकरण" के द्वारा चौदहवें गुण-स्थानक में क्षय करके आत्मा परम-पद प्राप्त करती है।

"लव ध्यान" में होने वाला कर्मों का लवन (विच्छेदन) अल्प प्रमाण में होता है और "परम लव ध्यान" में उपशम-श्रेणी के द्वारा होने वाला कर्म-लवन (कर्म-निर्जरा) विपुल प्रमाण में होता है तथा क्षपक-श्रेणी में कर्म का समूल क्षय होता है।

उपशम में मोहनीय की प्रकृतियां उपशान्त की जाती हैं अर्थात् अल्प काल के लिए सर्वथा दबा दी जाती हैं और क्षय में आठों कर्मों की प्रकृतियों का समूल नाश किया जाता है जबकि क्षयोपशम में ज्ञानावरणीय आदि चार घाती कर्मों का क्षयोपशम किया जाता है अर्थात् उदित कर्मांशों का क्षय और अनुदित कर्मांशों का उपशम किया जाता है।

उपशम तथा क्षयोपशम दोनों में अन्तर इतना ही है कि क्षयोपशम में कर्मों का प्रदेशोदय जारी रहता है, जबकि उपशम में यह भी नहीं होने से, उसकी विशुद्धि क्षयोपशम की अपेक्षा अधिक होती है।

इस प्रकार यह लव-परम-लव ध्यान अथवा उससे पूर्व के अथवा पश्चात् के ध्यान के समस्त प्रकार कर्मों के क्षय-क्षयोपशम के अथवा आत्म-विशुद्धि के ही द्योतक बने रहते हैं।

''लव'' में क्षयोपशम-भाव उत्पन्न करने वाले ध्यान संग्रहीत हैं।

उन ध्यानों की विशुद्धि या सामर्थ्य आदि का स्वरूप, गुण-स्थानक क्रम से समझने के लिए **''गुणस्थानक्रमारोह''** आदि ग्रन्थों का गुरु-गम द्वारा अवगाहन करना वांछनीय है।

१९. मात्रा-ध्यान

मूलपाठ—मात्रा-द्रव्यत उपकरणादि-परिच्छेदः।
भावतः समवसरणान्तर्गतं सिंहासनोपविष्टं देशनां कुर्वाणं तीर्थंकरमिवात्मानं पश्यति ॥ १९ ॥

अर्थ—उपकरण आदि का परिच्छेद (सीमा) द्रव्य से मात्रा है।

समवसरण के भीतर सिंहासन पर बैठकर देशना देते हुए तीर्थंकर भगवान की तरह स्वयं की आत्मा को देखना भाव से मात्रा है।

विवेचन—''द्रव्य-मात्रा'' में उपकरणादि का परिच्छेद अर्थात् भोजन, जल, वस्त्र आदि की मर्यादा-सीमा जाने। यह जान लेने से अपने योग्य प्रमाणोपेत आहार आदि करने से द्रव्य एवं भाव आरोग्य की वृद्धि होती है तथा सीमित उपकरण रखने से संयम में सहायता मिलती है।

यह सारी मर्यादाएँ-सीमा द्रव्य अर्थात् बाह्य वस्तुओं से सम्बन्धित होने से ''द्रव्य-मात्रा'' कहलाती हैं और जब साधक अपनी आत्मा को समवसरण में रत्न-जड़ित स्वर्णमय सिंहासन पर आरूढ़ होकर बारह पर्षदाओं के समक्ष धर्मदेशना करने वाले तीर्थंकर परमात्मा के सदृश देखता है अर्थात् तत्त्व रूप में अपनी आत्मा का ध्यान करता है तब उस ध्यान को ''मात्रा-ध्यान'' कहा जाता है।

इस मात्रा ध्यान में तीर्थंकर की तरह स्व-आत्मा को देखने से, ध्यान करने से एक विशिष्टि प्रकार की मात्रा-सीमा निश्चित होती है कि मैं तीर्थंकर हूँ देव, नारकी अथवा तिर्यंच नहीं हूँ सामान्य मनुष्य भी नहीं।

अतः यह समझा जा सकता है कि ऐसी भावात्मक मर्यादा का निश्चय इस ध्यान में होता है इसे ''मात्रा-

ध्यान'' कहा जाता है। इसमें विशुद्ध ध्यान का प्राधान्य होने से यह ''भाव से मात्रा'' है।

ध्यान की यह भूमिका ''रूपस्थ (सालम्बन) ध्यान'' के सतत् अभ्यास से उसके फलस्वरूप प्राप्त होती है।

रूपस्थ ध्यान सालम्बन ध्यान है

''**योगशास्त्र**'' के नौवें प्रकाश में श्री तीर्थंकर परमात्मा के अष्ट महाप्रातिहार्य आदि के चिन्तन से, परमात्मा की अचिन्त्य रूप-सम्पत्ति पर आश्रित ''रूपस्थध्यान'' बताया गया है। तत्पश्चात् इस ध्यान के सतत् अभ्यास में तन्मय बना साधक अपनी आत्मा को भी सर्वज्ञ के रूप में देखता है अर्थात् ''ये जो सर्वज्ञ भगवान है वह सचमुच मैं ही हूँ''—''स एवाहं''—इस प्रकार की तन्मयता अनुभव करता हुआ योगी स्वयं को सर्वज्ञ मानता है—ऐसी अभेद भूमिका का निर्देश किया गया है।

सर्वप्रथम समवसरण-स्थित सातिशय तीर्थंकर परमात्मा का बार-बार ध्यान करके उसमें तन्मय होकर साधक स्वयं को भी अरिहन्त परमात्मा के स्वरूप में देखे, ध्यान करे तो ही उसे ध्यान की वास्तविक सिद्धि प्राप्त होती है।

जब हमारा हंस रूपी अन्तरात्मा परमात्मा में चिद्रूप होता है तन्मय होता है तब वह परमहंस स्वरूप निर्वाण-पद को प्राप्त करता है।[१]

यदि साधक परमात्मा को अर्थात् उनके आलम्बन को एक ओर रखकर, सीधे ही ''मैं शुद्ध, बुद्ध आत्मा हूँ''—यह मानकर अपनी आत्मा का ही ध्यान करता है। तो वह उभय भ्रष्ट, दोनों प्रकार से भ्रष्ट होता है। वह शुद्धि एवं सिद्धि दोनों से वंचित रहता है।

यह कहा भी गया है कि—''निर्मल स्फटिक रत्न तुल्य श्री अरिहन्त भगवान के ध्यानावेश से बार-बार ''सोऽहं-सोऽहं'' का सहज जाप करने वाला साधक, परमात्मा के साथ अपनी आत्मा की एकता का अनुभव करे, तत्पश्चात् निरागी, अद्वेषी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, देव-देवेन्द्रों द्वारा पूजित, समवसरण में धर्म-देशना करते हुए परमात्मा के साथ अभेद-भाव प्राप्त अपनी आत्मा का ध्यान करने वाला योगी समस्त कर्म-मल नष्ट कर परमात्मत्व प्राप्त करता है।''[२]

---

१. **स्वहंसमंतरात्मानं चिद्रूपं परमात्मनि।**
योजयेत् परमे हंसे निर्वाणपदमाश्रिते॥

—*योगप्रदीप*, श्लोक-४६

२. **तद् ध्यानावेशतः सोऽहं सोऽहमित्यालपन् मुहुः।**
निःशंकमेकतां विद्यादात्मनं परमात्मना॥
ततो नीरागमद्वेषममोहं सर्वदर्शिनम्।
सुरार्च्यं समवसृतौ कुर्वाणं धर्मदेशनाम्।।
ध्यायन्नात्मानमेवेत्थमभिन्नं परमात्मना।
लभते परमात्मत्वं ध्यानी निर्धूतकल्मषः॥ —*योगशास्त्र*, प्रकाश ८, श्लोक १५, १६, १७

ध्याता जिस ध्येय का बार-बार ध्यान करता है उस ध्येय के रूप में वह स्वयं को भी अनुभव करता है अर्थात् सतत् ध्यानाभ्यास के परिणामस्वरूप ध्याता स्वयं उस ध्येय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

ध्याता यदि वीतराग का ध्यान करे तो वह वीतराग बन जाता है सरागी का ध्यान करे तो वह सरागी बन जाता है? यह नियम सर्वसामान्य है।

इसीलिए उपकारी महार्षियों ने कहा है कि कौतुक मात्र से भी अशुभ तत्त्वों का चिन्तन एवं ध्यान न हो जाए अत: उस प्रकार के अशुभ आलम्बनों-निमित्तों से सदा दूर रहना चाहिए। अंगारों के स्पर्श से देह जलती है उस प्रकार अशुभ तत्त्वों का चिन्तन करने से मन जलता है, जीवन बिगड़ता है और देव-दुर्लभ मानव-भव व्यर्थ चला जाता है।

तात्पर्य यह है कि अशुभ तत्त्वों का संसर्ग, परिचय और आलम्बन शुभ-ध्यान में विघ्न-रूप बनता है। अत: शुभ-ध्यान के लिए अशुभ तत्त्वों का संसर्ग त्यागकर शुभ तत्त्वों का आलम्बन ग्रहण करना अनिवार्य है, इसी से शुभ ध्यान की सिद्धि शीघ्र हो सकती है।

''मात्रा ध्यान'' में सर्वोत्कृष्ट पुण्य-पुंज, त्रिभुवन-गुरु और धर्म-देशना के रूप में सर्वोत्कृष्ट परोपकार करने वाले समवसरण-स्थित भाव तीर्थंकर परमात्मा का परमोच्च शुभ आलम्बन होने से साधक की समस्त मनोकामनाएँ अवश्य सिद्ध होती हैं।

२०. परम-मात्रा ध्यान

मूलपाठ—परममात्रा-चतुर्विंशत्या वलयैः परिवेष्टितमात्मानं ध्यायति ॥ २० ॥

तद् यथा—

१. शुभाक्षरवलयम्—''आज्ञाविचयादि धर्मध्यान भेदाक्षर २३—''पृथक्त्ववितर्कसविचारं'' इत्यक्षराः १० एवं ३३ (अक्षराः) न्यस्यन्ते यत्र॥ १॥

२. अनक्षरवलयम्—''ऊससियं नीससियं'' इत्यादि गाथा-क्षराण्यनक्षर-श्रुतवाचकानि न्यस्यन्ते यत्र ॥ २ ॥

३. परमाक्षरवलयम् — ॐ, अर्हँ अँ रिँ हँ तँ, सिँ द्धँ, आँ यँ रिँ यँ, उँ वँ ज्झाँ यँ, साँ, हूं नमः इति (एकविंशतिअक्षराः) न्यस्यन्ते यत्र ॥ ३ ॥

४. अक्षरवलयम्—''अ आ'' इत्यादीनि ईषत्स्पृष्टतर ''य ल व'' युतानि द्विपञ्चाशत्मातृकाक्षराणि 'ह' पर्यन्तानि न्यस्यन्ते यत्र॥ ४॥

५. निरक्षरवलयम्— ''ध्यान-परम-ध्यानयोः शुभाक्षरवलये प्रविष्टत्वात् शेषध्यानभेदाः'' २२ न्यस्यन्ते यत्र ॥ ५ ॥

अर्थ — चौबीस वलयों से वेष्टित अपनी आत्मा का ध्यान करना "परम-मात्रा" है। चौबीस वलयों का स्वरूप निम्नलिखित है—

१. "शुभाक्षरवलय"—यह प्रथम वलय है।

इसमें धर्म-ध्यान के चार भेदों के "आ ज्ञा वि च य, अ पा य वि च य, वि पा क वि च य, सं स्था न वि च य"—इन २३ अक्षरों तथा शुक्लध्यान के प्रथम भेद के पृ थ क्त्व वि त र्क स वि चा र—इन १० अक्षरों का—इस प्रकार दोनों मिलाकर कुल ३३ अक्षरों का न्यास किया जाता है।

२. दूसरा "अनक्षरवलय" है।

इसमें अनक्षर श्रुतवाचक निम्नलिखित गाथा के ३५ अक्षरों का न्यास किया जाता है।

गाथा—

"ऊससियं नीससियं निच्छूढं खासिअं च छीअं च।
निस्सिंधिअमणुसारं अणक्खरं छेलिआईअं॥"

३. तीसरा "परमाक्षर वलय" है।

इसमें ऊँ अर्हं अँ रिँ हँ तँ सिँ द्धँ आँ यँ रिँ यँ उँ वँ ज्झाँ यँ साँ हूँ नमः—इन २१ इक्कीस अक्षरों की स्थापना की जाती है।

४. चौथा "अक्षरवलय" है।

इसमें "अ से ह" तक के ४९ (उनचास) अक्षर तथा ईषत् स्पृष्टतर "य, ल, व"—ये तीन अक्षर—इस प्रकार कुल ५२ (बावन) मातृका अक्षरों का न्यास किया जाता है।[१]

५. पाँचवा "निरक्षर वलय" है।

ध्यान के चौबीस भेदों में से प्रथम दो भेद "ध्यान" और "परम-ध्यान" का निर्देश प्रथम "शुभाक्षर वलय" में हो चुका है अतः ध्यान के शेष बाईस भेदों का न्यास इस पाँचवें वलय में किया जाता है।

विवेचन — "मात्रा" ध्यान का यथार्थ अभ्यास हो जाने का पश्चात् "परम-मात्रा" का ध्यान सुगम बनता है।

"मात्रा" में समवसरण-स्थित तीर्थंकर परमात्मा के साथ अभेद भाव, प्राप्त स्व-आत्मा का धयान करने के लिए कहा गया है और "परम-मात्रा" में चौबीस वलयों के परिवेष्टन के द्वारा तीर्थ के साथ अभेदभाव प्राप्त स्व-आत्मा का ध्यान करना पड़ता है।

---

१. बावन (५२) मातृका अक्षर—१६ स्वर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः, ३३ व्यंजन क् ख् ग् घ् ङ् च् छ् ज् झ् ञ् ट् ठ् ड् ढ् ण त् थ् द् ध् न् प् फ् ब् भ् म् य् र् ल् व् श् ष् स् ह् और तीन ईषत् स्पृष्टतर य् ल् व्।

तीर्थ के मुख्य तीन अर्थ हैं—१. द्वादशांगी, २. चतुर्विध संघ, और ३. प्रथम गणधर[1]

इन तीनों प्रकार के तीर्थों की उत्पत्ति तीर्थंकर भगवान की धर्म-देशना से होती है।

"परम-मात्रा" में निर्दिष्ट चौबीसों वलयों मुख्यतः श्रुतज्ञान-द्वादशांगी, चतुर्विध संघ, गणधर भगवान, तीर्थंकर परमात्मा, उनके माता-पिता तथा तीर्थ-रक्षक अधिष्ठायक यक्ष-यक्षिणी, तीर्थंकर परमात्मा के पंच-कल्याणक आदि के अवसरों पर अपूर्व भक्ति करने वाले भक्तात्मा ६४ इन्द्रों, छप्पन दिक् कुमारियों तथा स्थावर जंगम तीर्थों आदि का न्यास (स्थापना) चिन्तन एवं ध्यान करने का विधान है और वे सभी जिनशासन के अंगभूत हैं।

ध्यान की ये प्रक्रियाएँ जितनी महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं उतनी ही अर्थ-गम्भीर भी हैं। हालांकि गीतार्थ, अनुभव-ज्ञानी महापुरुष ही इनके वास्तविक रहस्यों को उद्घाटित कर सकते हैं फिर भी उन महापुरुषों के अनुग्रह के प्रभाव से, स्व-क्षयोपशम के अनुसार इन्हें समझने का यह स्वल्प प्रयास है।

अक्षर न्यास का महत्व

प्रत्येक ध्यान-प्रक्रिया में "अक्षर-न्यास" की सर्वप्रथम अनिवार्यता सिद्ध की गई है। फलतः प्रथम पाँच वलयों में "अक्षर-न्यास" का ही विधान किया गया है।

१. शुभाक्षर वलय

१. प्रथम "शुभाक्षर-वलय" में आज्ञाविचय आदि चार प्रकार के धर्म-ध्यान के और प्रथम शुक्लध्यान के वाचक तैंतीस अक्षरों का न्यास करने को कहा गया है। जिनके द्वारा द्वादशांगी (श्रुत ज्ञान) रूप तीर्थ का स्मरण किया जाता है।

द्वादशांगी जिनेश्वर भगवान की आज्ञा है जिसका सार ध्यान है।[2]

"आज्ञा विचय" आदि अक्षरों के न्यास (स्थापना) द्वारा आज्ञा का स्मरण (चिन्तन) होता है अतः हम पर उनके द्वारा हुए अनहद उपकारों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन होता है।

"आज्ञा विचय" आदि तैंतीस अक्षर शुभ ध्यान के वाचक होने से शुभ होते हैं। अतः उन्हें "शुभाक्षर" कहते हैं।

२. अनक्षर वलय

शुभाक्षर-वलय के पश्चात् अनक्षर श्रुतवाचक "ऊससियं नीससियं" आदि पैंतीस अक्षरों का न्यास करने का विधान है जो "अक्षर ध्यान" की अपेक्षा "अनक्षरध्यान" की अत्यन्त श्रेष्ठता सूचित करते

---

१. **तित्थं पुण चाउवण्णे समणसङ्घे पढमगणहरे वा।** –*ललितविस्तरा* पृष्ठ ७६

तीर्यंते संसारसमुद्रो तेनेति तीर्थं, तच्च प्रवचनाऽऽधारः चतुर्विधः संघ प्रथम गणधरो वा।— *प्रवचनं द्वादशाङ्गं*

२. **तस्मात् सर्वस्य सारोऽस्य द्वादशाङ्गस्य सुन्दरः।**
ध्यानयोगः परं शुद्धः स हि साध्यो मुमुक्षुणा॥

–*उपमिति भवप्रपञ्चा कथा*, पृष्ठ ८, श्लोक ७२९

हैं और "अक्षर ध्यान" में से "अनक्षर-ध्यान" में जाने की प्रेरणा प्रदान करते हैं क्योंकि उन अक्षरों में से प्रत्येक अक्षर में (वर्ण में) अनाहत नाद उत्पन्न करने की शक्ति समाई हुई है। वह नाद ही वर्णों की आत्मा है। वर्ण (अक्षर) उसके बाह्य स्वरूप हैं। नाद को उत्पन्न करने वाला प्राण है जो श्वासोच्छवास रूप है।

इस प्रकार "अनक्षर-श्रुत" ध्वन्यात्मक है। योग शास्त्रों में "अनाहत" नाद से पहचानी जाने वाली आत्मा की दिव्य शक्ति भी ध्वनि-स्वरूप है। नाद रूप है।

नादानुसन्धान के द्वारा आत्मानुसन्धान की समस्त प्रक्रियाएँ भी अनक्षर ध्वनि-स्वरूप होने से उन सबका "अनक्षरश्रुत" में अन्तर्भाव हो जाता है। **हठयोग-प्रदीपिका** में भी लय प्राप्ति के सवा करोड़ साधनों में "नादानुसन्धान" का प्रमुख साधन के रूप में वर्णन किया गया है।

"ऊससियं नीससियं" इस गाथा में निर्दिष्ट श्वास-उच्छवास आदि व्यवहार में भी सबको "अनक्षर-श्रुत" के रूप में अनुभव सिद्ध है।

कई बार मनुष्य किसी भी शब्द का प्रयोग करना टालकर मुँह बन्द रखकर खाँसकर अथवा हुंकार करके अपनी उपस्थिति व्यक्त करता है। इस प्रकार का व्यवहार "अनक्षर-श्रुत" की महिमा सूचित करता है। यह बात सिद्ध करती है कि "अक्षर" की अपेक्षा "अनक्षर" अधिक शक्तिशाली है।

३. परमाक्षर वलय

"परमाक्षर वलय" में "ऊँ अर्हं अँ रिँ हँ तँ आदि" इक्कीस अक्षरों के न्यास द्वारा परम-पद पर प्रतिष्ठित पाँच परमेष्ठियों का स्मरण होता है।

अ से ह तक के बावन अक्षरों में से नवकार-मन्त्र के संयोजन में प्रयुक्त अड़सठ अक्षर सर्वश्रेष्ठ एवं सर्व श्रेयस्कर अक्षर हैं जिनमें चौदह पूर्वों का सार समाविष्ट है। समस्त मन्त्रों, तन्त्रों, यन्त्रों तथा विद्याओं के बीजाक्षर छिपे हुए हैं।

विश्व में ऐसा कौन शुभ तत्त्व है जो नवकार में न हो? अर्थात् नवकार में त्रिभुवन-क्षेमंकर समस्त शुभ तत्त्व विद्यमान हैं।

वर्ण-मातृका के बावन अक्षरों के श्रेष्ठ संयोजन स्वरूप नवकार के अड़सठ अक्षर हैं और उनके ही संक्षिप्त सार के रूप में "परमाक्षर वलय" में निर्दिष्ट इक्कीस अक्षर हैं।

वर्णमाला के समस्त अक्षरों में परम अर्थात् प्रधान सर्वश्रेष्ठ ये इक्कीस अक्षर हैं क्योंकि ये परम-पद-स्थित लोकोत्तम पंचपरमेष्ठियों के वाचक हैं। इन इक्कीस अक्षरों के संयोजन में एकाक्षरी, द्वयाक्षरी आदि अनेक प्रकार के महा प्रभावशाली मन्त्र छिपे हुए हैं। जैसे "ऊँ" एकाक्षरी परमेष्ठि का बीज है, प्रणव महामन्त्र है।

"अर्हं" द्वयाक्षरी-परमेष्ठि-रत्नत्रय-वर्णमातृका एवं सिद्धचक्र का बीज-भूत महामन्त्र है। "सिद्ध"

एवं "साहु" भी द्वयाक्षरी मन्त्र हैं।

"ॐ अर्हं" अथवा "ॐ सिद्धम्" त्र्याक्षरी मन्त्र हैं।

"अरिहन्त", "अर्हं-सिद्ध" चतुरक्षरी मन्त्र हैं।

"अ सि आ उ सा", "ॐ अर्हं नमः" अथवा "ॐ नमः सिद्धम्" ये पंचाक्षरी मन्त्र हैं।

"अरिहन्त-सिद्ध" अथवा "अरिहन्त-साहु" इत्यादि छः अक्षरों वाले मन्त्र हैं।

उसी तरह "गुरु-पंचक" नामक षोडशाक्षरी विद्या आदि अनेक विद्याएँ भी इनमें समाविष्ट हैं।

इस प्रकार इन इक्कीस अक्षरों का भिन्न-भिन्न प्रकार से संयोजन करने से अनेक प्रकार के प्रभावशाली मन्त्रों की निष्पत्ति होती है।[1]

"**मातृका-प्रकरण-सन्दर्भ**" में भी कहा गया है कि—

बीजमूलशिखाकात्स्र्न्य-मेकैक-त्रि-त्रि-पञ्चभिः।
अक्षरैः ॐ नमः सिद्धम् जपानन्तफलैः क्रमात्॥

"ॐ नमः सिद्धम्" इस पंचाक्षरी मन्त्र में तीन पद हैं। प्रथम पद जो एकाक्षर "ॐ" है, वह प्रणव है और वह मन्त्र का "बीज" है।

प्रथम और द्वितीय पद "ॐ नमः" तीन अक्षर युक्त है। यह मन्त्र का मूल है और तृतीय पद "ॐ सिद्धम"—इस पंचाक्षरी मन्त्र में तीन पद हैं। प्रथम पद जो एकाक्षर "ॐ है, वह प्रणव है और वह मन्त्र का "बीज" है।

प्रथम और द्वितीय पद "ॐ नमः" तीन अक्षर युक्त हैं। यह मन्त्र का मूल है और तृतीय पद "ॐ सिद्धम्" भी तीन अक्षर युक्त है जो मन्त्र की शिखा है। पूरा मन्त्र "ॐ नमः सिद्धम्" पंचाक्षरी है।

इस प्रकार अक्षरों के विभाग से क्रमशः यदि चार प्रकार से मन्त्र का जाप किया जाए तो वह अनन्त फलदायी सिद्ध होता है।

"**योगशास्त्र**" के अष्टम प्रकाश में ॐ, अर्हं, अ सि आ उ सा आदि अनेक मन्त्र-पदों के ध्यान की विस्तृत प्रक्रियाएँ बताई गई हैं। जब ये "पदस्थ ध्यान" स्वरूप ग्रहण कर लेती हैं तो इनका "परमाक्षर वलय" में अन्तर्भाव गर्भित रीति से हो जाता है।

ये और अन्य भी ऐसे पंचपरमेष्ठि-गर्भित अनेक प्रकार के मन्त्र-इन इक्कीस अक्षरों में अन्तर्भूत हैं।

"शुभाक्षर वलय" में प्रभु की आज्ञा आदि का प्रधान रूप से चिन्तन होने से वह "विचारात्मक ध्यान" है।

---

१. श्री सिहनन्दि विरचित "**पंचमनस्कृति दीपिका**" नामक प्रकरण में श्री नमस्कार मन्त्र के अक्षरों के विविध संयोजन के द्वारा अनेक प्रकार के मन्त्र बताये गये हैं। *–नमस्कार-स्वाध्याय* (संस्कृत विभाग) पृष्ठ १९९

"अनक्षर वलय" में शुभविचार के आलम्बन द्वारा "निर्विचारध्यान" में प्रवेश करने का निर्देश है और "परमाक्षर वलय" में मन्त्र-पदों के आलम्बन द्वारा ध्यान करने का उल्लेख कर समस्त प्रकार के "पदस्थ ध्यानों" की महत्ता स्थापित की है।[१]

४. अक्षर वलय

"अक्षरवलय" में अ से ह तक के बावन अक्षरों का न्यास किया जाता है। इन बावन अक्षरों में से अकार आदि किसी एक अक्षर के आलम्बन से भी ध्यान किया जा सकता है।

इन बावन अक्षरों को वर्णमाला, वर्णमातृका, सिद्ध-मातृका आदि नामों से पहचाना जाता है।

मातृका का प्रत्येक अक्षर मन्त्राक्षर स्वरूप है, श्रुतज्ञान स्वरूप है। "वाच्य" एवं "वाचक" भाव से रहित है। इसके आलम्बन से "नादानुसन्धान" की प्रक्रिया भी अत्यन्त सुगम एवं सरल बन जाती है।

यह वर्णमातृका, वर्णमाला अनादि संसिद्ध एवं सिद्धान्त-प्रसिद्ध है, अनादि संसिद्ध है, अर्थात् इसका कर्त्ता कोई नहीं है यह शाश्वत एवं स्वयंभू है।

मातृका ज्ञान-शक्ति का प्रसार है अर्थात् आत्मा की ज्ञान-शक्ति है। इस दृष्टि से अक्षर (वर्ण) मातृका की देह है और मातृका (ज्ञान-शक्ति) उक्त देह में स्थित अन्तरात्मा है। मातृका रूपी ज्ञान-शक्ति का उद्बोधन करने वाली वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती एवं परा—ये वाणी के चार प्रकार हैं। अतः इन चारों प्रकार की वाणी को भी उपचार से मातृका कहा जाता है। वैखरी आदि मातृकाएँ प्रवाह से अनादि हैं।

स्पष्टोच्चार स्वरूप वैखरी, श्रुतज्ञानोपयोग-स्वरूप मध्यमा और श्रुतज्ञान के क्षयोपशम-लब्धि स्वरूप पश्यन्ती—ये सब अनित्य होते हुए भी प्रवाह की अपेक्षाकृत अनादि हैं अर्थात् विविध जीवों में वे सदा विद्यमान होती हैं।

मन्त्रवादी भी मातृकावर्ण-न्यास को अत्यन्त महत्त्व देते हैं।

सब प्रकार के मन्त्र जाप आदि की साधना में मातृकालिपि के न्यास के बिना जो कुछ किया जाता है वह सब निष्फल होता है। अतः समस्त साधकों को मन्त्र-जाप आदि में वर्ण-मातृका का न्यास अवश्य किया जाना चाहिए।

---

१. **यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते।**
तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्तपारगैः॥ १॥

अर्थ—जो ध्यान पवित्र पदों का (मन्त्राक्षरों का) आलम्बन लेकर किया जाता है। उसे सिद्धान्त के पारगामियों ने "पदस्थ ध्यान" का नाम दिया है।—*योगशास्त्र*, प्रकाश ८

श्रुतज्ञान में अक्षरों की प्रधानता है। ये अक्षर संज्ञाक्षर, व्यञ्जनाक्षर और लब्ध्याक्षर—इस प्रकार तीन तरह के हैं। इनमें से संज्ञाक्षर को (ब्राह्मी लिपि को) "**भगवती सूत्र**" में भी "नमो बंभीए लिवीए" पद के द्वारा नमस्कार किया गया है।

ब्राह्मी-लिपि, वर्णमाला-द्रव्यश्रुत है और यह भावश्रुत का कारण है। तीर्थंकर भगवान, गणधर तथा केवली भगवान भी इस वर्णमाला द्वारा ही धर्मदेशना देकर सम्पूर्ण विश्व को पावन करते हैं भव्य जीवों को मोक्ष का मार्ग दिखाते हैं।

तीर्थंकर एवं गणधर भगवानों को भी स्तुत्य एवं नमनीय होने से "श्रुत" इष्ट-देवता है।[१]

धर्म-कर्म का समग्र व्यवहार वर्णमाला के आधार पर विद्यमान है। धर्म की प्रत्येक साधना—जाप, ध्यान, स्वाध्याय, स्मरण, स्तुति, स्तोत्र चिन्तन, मनन, अनुप्रेक्षा और भावना आदि में भी वर्णमाला का प्रयोग होता है।

इस प्रकार वर्ण-मातृका की महानता, व्यापकता और पूज्यता होने से ध्यान-साधना में भी उसका महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान-मान है।

५. *निरक्षर वलय*

"परमाक्षर" एवं "अक्षर" वलय के पश्चात् "निरक्षर" वलय का विधान साधक को चरम एवं परम ध्येय-स्वरूप निरक्षर आत्मा के शुद्ध स्वरूप की अनुभूति (प्राप्ति) करने का निर्देश देता है।

"ध्यान" एवं "परम ध्यान" के अतिरिक्त शेष बाईसों प्रकार के ध्यान का अन्तर्भाव इस वलय में किया गया है।

"निरक्षर वलय" में मुख्यतया वाणी (अक्षर) एवं मन से अगोचर आत्मा अथवा परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करना होता है।

"शून्य" आदि बाईस ध्यान-भेदों में प्रधानतया उनके अक्षरों के आलम्बन द्वारा उनके वाच्य में अर्थात् निरक्षर आत्मा या परमात्मा के स्वरूप में लीनता प्राप्त करनी होती है। इसीलिए मानों उन ध्यानों का न्यास "निरक्षर-वलय" में किया गया हो ऐसा ज्ञात होता है।

६. *सकलीकरण वलय*

मूलपाठ — सकलीकरण-वलयम्, पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशमण्डल-पञ्चकात्मकम् ॥ ६ ॥

---

१. **णमो सुअस्संत्ति नमस्कारोऽस्तु श्रुताय द्वादशाङ्गीरूपाऽर्हत्प्रवचनाय-श्रुत मिष्टदेवतैव, अर्हतां नमस्कारणीयत्वात्, सिद्धवत् नमस्कुर्वन्ति च श्रुतमर्हन्तः "नमस्तीर्थाय" इति भणनात् तीर्थं च श्रुतं संसार सागरोत्तरणाऽसाधारणकारणत्वात्।**

अर्थ—श्रुतं को नमस्कार हो, श्रुत को—द्वादशांगी रूप अर्हत्-प्रवचन को नमस्कार हो। श्रुत इष्टदेवता ही है क्योंकि श्रुत सिद्ध की तरह अर्हन्तों को नमस्कारणीय है और तीर्थ को नमस्कार हो।—इस प्रकार कहकर अर्हन्त श्रुत को नमस्कार करते हैं। संसार सागर को तैरने में प्रमुख कारण होने से श्रुत तीर्थ है।—*श्री भगवती सूत्र*, शतक १

अर्थ—छठा "सकलीकरण वलय" पृथ्वी मण्डल, अप् मण्डल, अग्नि मण्डल, वायु मण्डल और आकाश मण्डल—इन पाँच मण्डल स्वरूप हैं।

विवेचन—इस "सकलीकरण वलय" में पिण्डस्थ-ध्यान का निर्देश है। "**योगशास्त्र**" के सातवें प्रकाश में निर्दिष्ट पिण्डस्थ-ध्यान की पाँचों धारणाओं का निर्देशन भी इस वलय से होता है तथा ध्यान आदि अनुष्ठानों से पूर्व की जाने वाली "सकलीकरण" की प्रक्रिया में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश—इन पाँच भूतों के द्योतक भिन्न-भिन्न बीजाक्षरों का शरीर के विविध अंगों पर न्यास किया जाता है।

पृथ्वी आदि पाँच तत्त्वों की विषमता निवारण कर उनमें समानता, सुसंवादिता लाने के लिए "क्षि-प-ॐ-स्वा-हा" आदि अक्षरों का उच्चारण करके आरोह-अवरोह के क्रम से घुटनों आदि स्थानों का स्पर्श किया जाता है जिसे "सकलीकरण" कहते हैं।

सूरिमन्त्र, वर्द्धमान-विद्या एवं सिद्धचक्र-यन्त्र की उपासना में पूर्व सेवा के रूप में "सकलीकरण" की प्रक्रिया की जाती है।

तथा "अर्हं" के प्लुत उच्चारण से भी पाँचों तत्त्वों का ऊर्ध्वीकरण होता है।

अर् × हं = अर्हं-इसमें "र" अग्नि-बीज है। इसमें पृथ्वी तत्त्व और जल तत्त्व समाविष्ट है। "ह" आकाश-बीज है। जिसमें वायु तत्त्व विद्यमान है।

इन "अर्हं" आदि बीजाक्षरों के न्यास से, ध्यान से मार्मिक रीति से में "अहं" नहीं परन्तु "अर्हं" हूँ अर्थात् मैं पाँच भूतमय देह नहीं, परन्तु सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा हूँ—ऐसा बोध होता है। अथवा "आत्मा सत्य है" और शेष सब मिथ्या है-"सकलीकरण" के न्यास में निहित बीजाक्षरों के द्वारा ऐसा बोध होता है।

पृथ्वी मण्डल आदि पाँचों भूतों के वर्ण, पंचमरमेष्ठियों के प्रतीक स्वरूप होने से उनके चिन्तन से पंच परमेष्ठियों का चिन्तन सहज हो जाता है। यह कहा भी है कि-

जल तत्त्व अरिहन्त का, अग्नि तत्त्व सिद्ध का, पृथ्वी तत्त्व आचार्य का, वायु तत्त्व उपाध्याय का और आकाश तत्त्व साधु का प्रतीक होने से इन पाँचों तत्त्वों के वर्णों के अनुरूप पंचपरमेष्ठियों का ध्यान करना पड़ता है।[1]

७. तीर्थंकरमातृवलय

मूलपाठ—परस्परावलोकन-व्यग्रवामजानुन्यस्ततीर्थंकरमातृ २४ वलयम् ॥ ७॥

अर्थ—जो परस्पर अवलोकन करने में व्यग्र हैं तथा जिन्होंने बाएँ जानुओं पर अपने बालक-तीर्थंकरों को बिठाया है, वैसी चौबीस तीर्थंकरों की माताओं[2] (आकृतियों) की स्थापना सातवें वलय में की जाती है।

विवेचन—सातवें वलय में चौबीस तीर्थंकरों की माताएँ तीर्थंकर स्वरूप अपने पुत्रों को गोद में बाँयी जाँघ पर

---

१. **अर्हन्नमः सिद्धस्तेजः सूरिः क्षितिः परे वायुः।**
साधुर्व्योमेत्यन्तर्मण्डलतत्त्वानुजं सद्दग् ध्यानम्॥ –*मंत्रराज-रहस्य*, श्लोक ३६०

२. चौबीस तीर्थंकर भगवंतों की माताओं के नाम—
१. मरुदेवा, २. विजया, ३. सोना, ४. सिद्धार्था, ५. मंगला, ६. सुसीमा, ७. पृथ्वी, ८. लक्ष्मणा, ९. रामा, १०. नंदा, ११. विष्णु, १२. जया, १३. श्यामा, १४. सुयशा, १५. सुव्रता, १६. अचिरा, १७. श्री, १८. देवी, १९. प्रभावती, २०. पद्मा, २१. वप्रा, २२. शिवा, २३. वामा, २४. त्रिशाला।

बिठाकर परस्पर एक-दूसरे की ओर दृष्टि में दृष्टि मिलाकर, देखते हुए चौबीस तीर्थंकरों एवं उनकी माताओं की स्थापना की गई है।

यह वलय ''रूपस्थ-ध्यान'' का द्योतक है जिसमें विश्व के सर्वश्रेष्ठ पुरुष-रत्नों को उत्पन्न करने वाली माताओं तथा लोक में उत्तमोत्तम पुरुष-रत्नों के ध्यान का परम रहस्य बताया गया है।

माता एवं पुत्र दोनों के परस्पर अवलोकन की मुद्रा में उनका ध्यान करने का निर्देश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

तीनों लोकों में माता का पुत्र के प्रति अद्वितीय वात्सल्य एवं पुत्र की माता के प्रति असीम श्रद्धा, अपार प्रेम (परम भक्ति) इन दोनों की पराकाष्ठा सिद्ध करने के लिए ही मानों इस प्रकार की मुद्रा का ध्यान बताया गया प्रतीत होता है।

ध्याता के हृदय में विश्व के समस्त जीवों के प्रति वात्सल्यभाव एवं गुणवान पुरुषों के प्रति भक्ति-भाव, प्रमोद-भाव प्रकट करने के लिए यह ध्यान प्रकृष्ट साधन है।

जिस प्रकार का ध्येय होता है उसके ध्यान से ध्याता भी उसी स्वरूप को प्राप्त करता है।[१]

स्पष्टत: ध्येय के रूप में परम वात्सल्यमयी जगन्माता स्वरूप तीर्थंकर की माता है और उनके प्रति अगाध भक्ति रखने वाले साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा है। पारस्परिक अपूर्व वात्सल्य एवं भक्ति सहज रूप से अवश्य प्रकट होती है।

माता की प्रधानता — विश्व में सैकड़ों स्त्रियाँ सैकड़ों पुत्रों को जन्म देती हैं परन्तु तीर्थंकर जैसे निरूपम पुत्र-रत्न को उत्पन्न करने वाली तीर्थंकर भगवान की माता तुल्य अन्य कोई माता विश्व में नहीं होगी। ग्रह, नक्षत्र और तारे सभी दिशाओं में उगते हैं। परन्तु अपनी ही तेज-किरणों से सम्पूर्ण विश्व को ज्योतिर्मय करने वाले सूर्य को तो पूर्व दिशा ही जन्म देती है।[२] (यही विशेषता तीर्थंकर भगवान की माता में होती है।)

लौकिक व्यवहार में भी उपकार की दृष्टि से पिता की अपेक्षा माता का स्थान अधिक और अग्रिम होता है, उनमें भी तीर्थंकर परमात्माओं की माताओं का स्थान अत्यन्त ऊँचा होता है। देव-देवेन्द्र

---

१. उक्त मुद्रा में नाभि-कमल पर दृष्टि ठहरती है जिससे समग्र देह में लहर के रूप में अपूर्व आह्लाद फैलता है, जो माता के अपार वात्सल्य का परिणाम है।

२. **स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्**
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं
प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम्॥

– *भक्तामर स्तोत्र,* श्लोक २२

परस्परावलोकनव्यग्रवाम- -जानुन्यस्ततीर्थङ्करमातरः॥

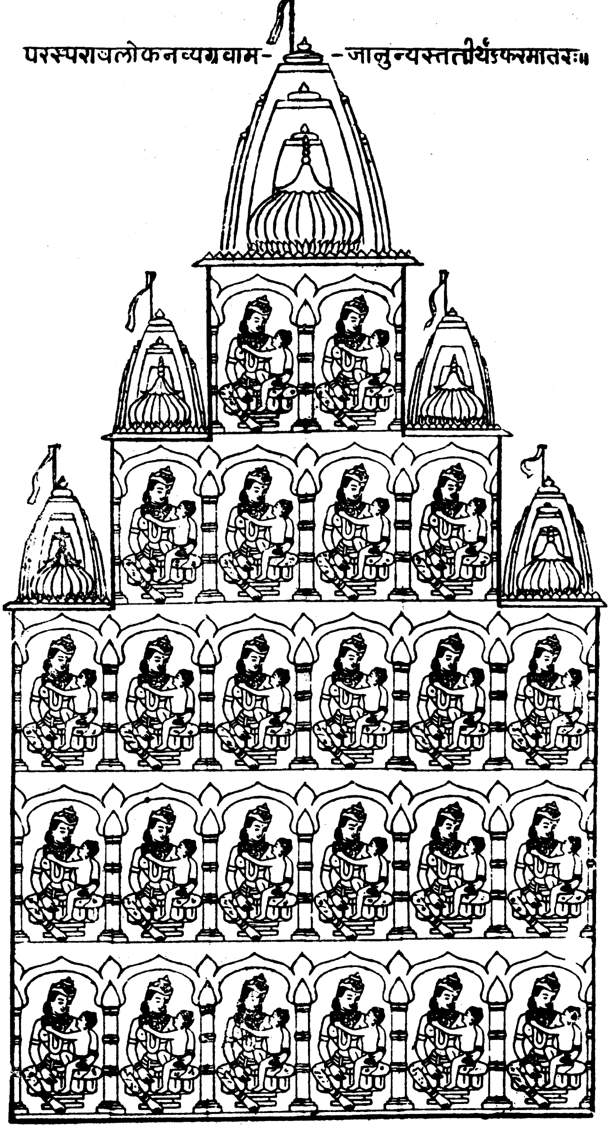

भी उन्हें नमस्कार करते हैं। तीर्थंकर परमात्माओं की माताओं को शास्त्रकार "जगन्माता" कहकर सम्बोधन करते हैं। प्रत्येक माता अपनी सन्तान की ही माता कहलाती है, जबकि तीर्थंकर भगवान की माता को "जगन्माता" कहने का तात्पर्य यह है वह विश्व को ऐसे पुत्र-रत्न का उपहार देती है जो सम्पूर्ण विश्व का कल्याण करता है। उसकी रक्षा करता है।

बालक को पिता की पहचान माता से होती है इस कारण वश भी माता का स्थान पिता से बढ़कर है।

"पितृ वलय" से पहले "मातृ वलय" का विधान भी "मातृपद" की प्रधानता ही सूचित करता है।

"**मनु स्मृति**" में भी माता को हजार पिताओं के बराबर कहा गया है। उससे भी अधिक (हजार पिताओं से भी अधिक) उपकारिणी कहा गया है।[१]

तीर्थंकर-माता एवं पुत्र की परस्पर अवलोकन युक्त यह मुद्रा प्रदर्शित करते हुए अनेक शिल्प, मूर्तियाँ और चित्रपट शंखेश्वरजी, शत्रुंजय, गिरनारजी, तारंगाजी, आबूजी (देलवाड़ा) राणकपूरजी जैसे शिल्प-समृद्ध जिनालयों में और प्राचीन हस्तलिखित पत्रों में आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। अतः सिद्ध होता है कि यह ध्यान प्रक्रिया अत्यन्त उपकारक तथा उपयोगी थी और है।

साक्षात् तीर्थंकर देवों के न्यास-स्मरण से पूर्व उनके माता-पिता का न्यास-स्मरण करने का विधान भी महत्त्वपूर्ण है। ध्यानसाधना में अन्य अनेक उपयोगी अंगों के साथ माता-पिता की भक्ति भी उपयोगी अंग है।

तीर्थंकर परमात्मा तुल्य परम लोकोत्तर पुरुष भी अपने माता-पिता का परम विनय करते हैं तो फिर सामान्य मनुष्य ऐसा विनय करें उसमें आश्चर्य क्या है? आसन्न उपकारी माता-पिता के प्रति "कृतज्ञता" व्यक्त करना आत्म-साधक मुमुक्षु का प्रथम कर्तव्य है। वहीं से यथार्थ विकास का प्रारम्भ होता है।

जो व्यक्ति अपने माता-पिता को विनयपूर्वक नमन नहीं करता है। उसकी आत्मा में देव-गुरु के समक्ष नमन करने की योग्यता कभी भी उत्पन्न नहीं होती है।

इस ध्यान-प्रक्रिया के फलस्वरूप वात्सल्य एवं भक्ति—दो महान् गुणों की प्राप्ति के साथ साधक

---

१. **उपाध्याया दशाचार्यो, आचार्याणां शतं पिता।**
सहस्रं पितृन् माता गौरवेणाऽतिरिच्यते॥

–*मनुस्मृति* (१४५)

पुरुष की स्त्री जाति के प्रति पुत्रवत् भावना सहज ही सिद्ध होती है तथा काम रूपी शत्रु पर सरलतापूर्वक विजय प्राप्त की जा सकती है, जीवराशि के प्रति स्नेह-भावना तथा गुणी-जनों के प्रति प्रमोद-भावना सहजतया उत्पन्न होती है।

८. तीर्थंकर पितृवलय

मूलपाठ—तीर्थंकरपितृ २४ वलयम ॥ ८ ॥

अर्थ—यह आठवां वलय चौबीस तीर्थंकर परमात्माओं के पिताओं का है।[१]

विवेचन—इस वलय में चौबीस तीर्थंकर परमात्माओं के पिताओं के नामाक्षरों का न्यास किया गया है। तीर्थंकर परमात्मा तीनों लोकों के लिए वन्दनीय-पूजनीय होने से उनके माता-पिता भी तीनों लोकों के लिए वन्दनीय होते हैं।

तीर्थंकर देवों की जन्म-भूमि, दीक्षा-भूमि, केवल ज्ञान-भूमि और निर्वाण भूमि भी तीर्थ-स्वरूप बन-कर देव, दानव, मानव, सबके लिए आदर्श स्वरूप एवं आलम्बन-भूत बनती हैं तो फिर ऐसे पुरुष-रत्नों का विश्व को उपहार देने वाले माता-पिता सबके लिए वन्दनीय क्यों न बनें? अर्थात् अवश्य बनें।

सन्तान का परिचय कराने में माता-पिता के नाम भी महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। आदिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी—इन नामों की तरह ही "नाभि-पुत्र", "वामानन्दन", "सिद्धार्थनन्दन", "त्रिशला-सुनु" आदि शब्द भी विश्व को उन-उन तीर्थंकर भगवानों का परिचय कराते हैं और ऐसे शब्द प्रयोग "शास्त्रों" में, स्तोत्रों-स्तवनों में तथा व्यवहार में भी प्रसिद्ध हैं।

ये सब नाम भी तीनों लोकों के जीवात्माओं को आनन्दमंगल प्रदान करने वाले बनते हैं, तथा समस्त पापों का नाश करने में विघ्न-वल्लरियों का उच्छेदन करने में एवं सम्पत्ति प्राप्त करने के कारण बनते हैं।

तीनों लोकों के लिए तथा गृहस्थ जीवन में तीर्थंकर देवों के लिए भी वन्दनीय उनके पिताओं का स्मरण-चिन्तन भी मंगलकारी होने से प्रस्तुत वलय में उनके नामाक्षरों के न्यास का विधान है।

---

१. चौबीस तीर्थंकरों के पिताओं के नाम—

१. नाभिराजा, २. जितशत्रु, ३. जितारि, ४. संवर, ५. मेघ, ६. धर, ७. प्रतिष्ठ, ८. महासेन, ९. सुग्रीव, १०. दृढरथ, ११. विष्णु, १२. वसुपूज्य, १३. कृतवर्मा, १४. सिंहसेन, १५. भानु, १६. विश्वसेन, १७. सूर, १८. सुदर्शन १९. कुम्भ, २०. सुमित्र, २१. विजय, २२. समुद्र विजय, २३. अश्वसेन, २४. सिद्धार्थ।

९. तीर्थंकर नामाक्षर वलय

मूलपाठ—अतीता-ऽनागत-वर्तमानभावतीर्थंकर-नामाक्षर-वलयम्॥ ९॥

अर्थ—नौवें वलय में भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल की चौबीसियों के भाव-तीर्थंकरों के नामों की नामाक्षरों की[१] स्थापना की गई है।

विवेचन— प्रथम के अक्षर-वलयों में विशेष (व्यक्तिगत) नामों के बिना सामान्य रूप में अक्षर, शुभाक्षर आदि के न्यास का विधान किया गया है जबकि यहाँ भाव-तीर्थंकर भगवानों के (व्यक्तिगत विशेष रूप से उनके) नामोल्लेखपूर्वक अक्षरों का न्यास करने का विधान है और वह भगवान के नाम-मन्त्र की अपूर्व महिमा प्रदर्शित करने के लिए है।

प्रभु नाम के स्मरण-मनन का कल्पनातीत प्रभाव बताने के लिए ही ''लोगस्स-सूत्र'' में चौबीस तीर्थंकरों के नाम ग्रहणपूर्वक भावपूर्ण स्तुति की गई है। पाप-क्षय एवं बोधि समाधि के उद्देश्य से किए जाने वाले ''कायोत्सर्ग'' में भी ''लोगस्स-सूत्र'' का स्मरण-मनन किया जाता है जिसका दूसरा नाम ''नाम-स्तव'' है।

प्रभु के नाम-मन्त्र के द्वारा साधक को प्रभु का सान्निध्य प्राप्त होता है क्योंकि नाम और नामी के मध्य कथंचित् अभेद (सत्बन्ध) होता है।

इस अपेक्षा से ''नाम'' को नित्य एवं अविनाशी माना है क्योंकि नाम का सम्बन्ध द्रव्य के साथ है द्रव्य का सम्बन्ध गुण-पर्याय के साथ है और द्रव्य शाश्वत होता है। नाम के द्वारा प्रभु के शुद्ध आत्म-द्रव्य का स्मरण होता है। वह द्रव्य अनन्त गुणों और पर्यायों का धाम है, निष्कलंक और निरावरण है।

जिनेश्वर भगवानों के नाम चारों अनुयोगों में मुख्य ''द्रव्यानुयोग'' है। भगवान के नामोच्चारण से ही साधक के हृदय में प्रभु की साक्षात् उपस्थिति की अनुभूति होने लगती है। वस्तुत: देह के रूप में भगवान विद्यमान नहीं होने पर भी उस समय बोध रूप में (उपयोग-रूप में) तो ध्याता को उनका सान्निध्य प्राप्त होता है।

---

१. भूतकाल के चौबीस तीर्थंकर परमात्माओं के नाम—

१. केवलज्ञानी, २. निर्वाणी, ३. सागर, ४. महायश, ५. विमल, ६. सर्वानुभूति, ७. श्रीधर, ८. दत्त, ९. दामोदर, १०. सुतेज, ११. स्वामी, १२. मुनिसुव्रत, १३. सुमति, १४. शिवगति, १५. अस्ताग, १६. नमीश्वर, १७. अनिल, १८. यशोधर, १९. कृतार्थ, २०. जिनेश्वर, २१. शुद्धमति, २२. शिवंकर, २३. स्यन्दन, २४. संप्रति।

भविष्य के चौबीस तीर्थंकर परमात्माओं के नाम—

१. पद्मनाभ, २. शूरदेव, ३. सुपार्श्व, ४. स्वयंप्रभ, ५. सर्वानुभूति, ६. देवश्रुत, ७. उदय, ८. पेढाल, ९. पोट्टिल, १०. शतकीर्ति, ११. सुव्रत, १२. अमम, १३. निष्कषाय, १४. निष्पुलाक, १५. निर्मम, १६. चित्रगुप्त, १७. समाधि, १८. संवर, १९. यशोधर, २०. विजय, २१. भल्ल, २२. देव, २३. अनन्तवीर्य, २४. भद्रकृत।

वर्तमानकाल के चौबीस तीर्थंकर परमात्माओं के नाम—

१. ऋषभ, २. अजित, ३. संभव, ४. अभिनन्दन, ५. सुमति, ६. पद्मप्रभ, ७. सुपार्श्व, ८. चन्द्रप्रभ, ९. सुविधि, १०. शीतर, ११. श्रेयांस, १२. वासुपूज्य, १३. विमल, १४. अनन्त, १५. धर्म, १६. शान्ति, १७. कुंथु, १८. अर, १९. मल्लि, २०. मुनिसुव्रत, २१. नभि, २२. नेमि, २३. पार्श्व, २४. महावीर।

परमात्मा के नाम परम पावनकारी पद होने के कारण उनके समालम्बन ध्यान के द्वारा ध्याता को क्रमशः चित्त-प्रसाद, बोधि और समाधि प्राप्त होती है।

मन्त्रात्मक देवता वाद की प्रथा में मन्त्र एवं देवता अभेद माने जाते हैं, उस दृष्टि से भी प्रभु का नाम मन्त्र-स्वरूप होने से उनके साथ कथंचित् अभेद रखता है।

जैनागमों में भी नामादि-निक्षेप से अरिहन्त परमात्मा के चार प्रकार बताए हैं जिनमें प्रथम नाम है। नाम वस्तु का ही पर्याय है।

नाम के बिना व्यवहार नहीं चल सकता और व्यवहार के बिना निश्चय दृष्टि भी नहीं खुल सकती।

परमात्मा के नाम-मन्त्र की उपासना पदस्थ-ध्यान है। जिसके द्वारा परमात्मा के साथ एकता साधी जा सकती है।

पद के दो भेद हैं—१. स्थूल और २. सूक्ष्म।

पद जब स्थूल अवस्था से सूक्ष्म अवस्था में आता है तब वह देवता-स्वरूप अर्थात् ज्योति-स्वरूप प्राप्त करता है।

''पदस्थ-ध्यान'' में प्रथम स्थूल-पद अर्थात् वैखरी-अवस्थागत पद एवं मध्यमा-अवस्थागत पद का आलम्बन लेने के बाद सूक्ष्म-पद अर्थात् पश्यन्ती एवं परागत पद आलम्बन लेना होता है।

वैखरी-वाणी में वाचक-पद का आलम्बन होता है और उस आलम्बन के द्वारा पश्यन्ती एवं परा अवस्था प्रकट होती है तब निर्विकल्प चिन्मात्र समाधि का अनुभव होता है।

''**लोगस्स-सूत्र**'' में चौबीस तीर्थंकर परमात्मा के नामों का निर्देश है उसी प्रकार इस वलय में तीनों चौबीसियों के तीर्थंकर परमात्माओं के नामाक्षरों का न्यास करने का विधान है।

पूर्ववर्णित वलयों में अक्षर-न्यास का विधान था, उसी प्रकार यहां भी परमात्मा के नामाक्षरों का न्यास करने का निर्देश है, सो पदस्थ ध्यान का महत्त्व प्रदर्शित करता है।

''पदस्थ-ध्यान'' में अक्षर-न्यास का महत्त्व है। जबकि तीर्थंकर भगवानों के नामों का विधिपूर्वक वलयाकर में या नाभि आदि स्थानों में न्यास करके मानसिक स्मरण-चिन्तन कर उन्हें मध्यमा में से पश्यन्ती-वाणी के रूप में अत्यन्त सूक्ष्म बनाया जाता है तब वे ''निर्विकल्प समाधि'' तक पहुँचाते हैं।

प्रभु-नाम की महिमा—परमात्मा के नामाक्षरों में अनेक मन्त्रों एवं विद्याओं के बीजाक्षर छिपे हुए हैं। सर्वोच्च श्रद्धा एवं भाव-पूर्वक उनका स्मरण मात्र से ही सब प्रकार के भय एवं रोग का शमन हो जाता है। भूत-प्रेत और पिशाच आदि के सारे उपद्रव टल जाते हैं। भयानक विषधरों का विष उतर जाता है और हिंसक प्राणियों के प्रहार एवं भव भ्रमण के फेरे टल जाते हैं।

भगवान के नाम का कीर्तन अशुभ से शुभ की ओर, अन्धकार से बाहर निकालकर दिव्य प्रकाश की ओर, क्षुद्र स्वार्थ के व्यूह से निकालकर उत्तम परमार्थ के पावनकारी पंथ की ओर तथा पुद्‌गल के राग से मुक्ति दिलाकर चेतना के राग की ओर ले जाता है।

प्रभु-नाम के जाप से समस्त प्रकार के पाप नष्ट हो जाते हैं। सूर्योदय होने पर पलायन करते

अंधकार की तरह प्रभु-नाम के जाप के प्रभाव से प्राणों में पवित्रता उत्पन्न होती है और मन के प्रदेशों में प्रभुता प्रतिष्ठित होती है।

सिद्ध-मन्त्र स्वरूप परमात्मा के नाम से जीव गौरवान्वित होते हैं इतना ही नहीं वे अजरामर-मोक्ष स्थान के अधिकारी बनते हैं।

प्रभु के सभी नाम ''महामन्त्र स्वरूप'' हैं अतः उनके स्मरण, मनन एवं ध्यान से सब प्रकार की बाह्य आपत्तियों एवं राग-द्वेष आदि आन्तरिक दोषों का भी क्षय हो जाता है।

महाप्रभावशाली ''**उवसग्गहरं**'' स्तोत्र में भगवान के नाम-मन्त्र की अद्‌भुत महिमा का चौदह पूर्वधर श्री भद्रबाहु स्वामीजी ने वर्णन किया है। पुरुषादानीय पार्श्वनाथ भगवान के नाम-मन्त्र का, शब्द-ब्रह्म का सान्निध्य मात्र भी उपसर्ग-नाशक है। उसमें निग्रह एवं अनुग्रह करने की अपार शक्ति है।

भक्तामर-स्तोत्र, कल्याण-मन्दिर-स्तोत्र आदि स्तोत्रों में भी तीर्थंकर भगवान के नाम-मन्त्र के अचिन्त्य प्रभाव का वर्णन किया गया है।

पीड़ा हरने वाली औषधि को रोगी जिस भावपूर्वक ग्रहण करता है उसकी अपेक्षा बहुत उच्च भाव से भगवान का नाम ग्रहण करने से द्रव्य-रोग के साथ भाव-रोग भी नष्ट हो जाता है।

भगवान का नाम ग्रहण करने से उनका स्वरूप अथवा उनकी दिव्य आकृति (मूर्ति) हृदय-पटल पर प्रतिष्ठित हो जाती है और उसके प्रभाव से जीवन में सर्व-मंगलकारी धर्म प्रतिष्ठित होकर समस्त अशुभ बलों का ध्वंस करता है।

परमात्मा अनन्त गुणों के धाम हैं। निश्चय दृष्टि से वचनातीत होते हुए भी उनके अनेक नाम उनमें विद्यमान एक-एक गुण का परिचय देते हैं।

लौकिक एवं लोकोत्तर कार्य को सिद्ध करने वाले महाप्रभावशाली नाम-मन्त्र रूप शब्द-ब्रह्म के सामर्थ्य को समझने में मन्त्र-विज्ञान भी सहायक होता है।

१०. सोलह विद्यादेवियों का वलय

मूलपाठ—रोहिण्यादि-षोडशविद्या-देवतावलयम् ॥१०॥

अर्थ—दसवाँ वलय रोहिणी आदि सोलह विद्या-देवियों[१] का है।

---

१. सोलह विद्यादेवियों के नाम—

१. रोहिणी, २. प्रज्ञाप्ति, ३. वज्रशृंखला, ४. वज्रांकुसी, ५. अप्रतिचक्रा, ६. पुरुषदत्ता, ७. काली, ८. महाकाली, ९. गौरी, १०. गान्धारी, ११. ज्वाला-मालिनी, १२. मानवी, १३. वैरोट्या, १४. अच्छुप्ता, १५. मानसी, १६. महामानसी।

११. अठाईस नक्षत्रों का वलय

मूलपाठ—अष्टाविंशति-नक्षत्र-नामाक्षरवलयम् ॥ ११ ॥

अर्थ—ग्यारहवें वलय में अठाईस नक्षत्रों के नामाक्षरों की स्थापना है।[१]

१२. अठासी ग्रहों का वलय

मूलपाठ—अष्टाशीति-ग्रहवलयम् ॥ १२ ॥

अर्थ—बारहवें वलय में अठासी ग्रहों की स्थापना की जाती है।[२]

१३. छप्पन दिक्कुमारियों का वलय

मूलपाठ—दिक्कुमारी ५६ वलयम् ॥ १३ ॥

अर्थ—तेरहवें वलय में छप्पन दिक्कुमारियों की स्थापना की जाती है।[३]

---

१. अठाईस नक्षत्रों के नाम—

१. अश्विनी, २. भरणी, ३. कृतिका ४. रोहिणी, ५. मृगशीर्ष, ६. आर्द्रा, ७. पुनर्वसु, ८. पुष्य, ९. आश्लेषा, १०. मघा, ११. पूर्वा फाल्गुनी, १२. उत्तरा फाल्गुनी, १३. हस्त, १४. चित्रा, १५. स्वाति, १६. विशाखा, १७. अनुराधा, १८. ज्येष्ठा, १९. मूल, २०. पूर्वाषाढा, २१. उत्तराषाढा, २२. अभिजित्, २३. श्रवण, २४. घनिष्ठा, २५. शतभिषा, २६. पूर्वा भाद्रपद २७. उत्तरा भाद्रपद, २८. रेवती।

२. अठासी ग्रहों के नाम—

१. अंगारक, २. विकालक, ३. लोहित्यक, ४. शनैश्वर, ५. आधुनिक, ६. प्राधुनिक, ७. कण, ८. कणक, ९. कणकणक, १०. कणवितानक, ११. कणसंतानक, १२. सोम, १३. सहित, १४. आश्वासेन, १५. कार्योपग, १६. कर्बटक, १७. अजकरक, १८. दुंदुभक, १९. शंख, २०. शंखनाभ, २१. शंखवर्णाभ, २२. कंस, २३. कंसनाभ, २४. कंसवर्णाभ, २५. नील, २६. नीलावभास, २७. रूप्पी, २८. रूप्पावभास, २९. भस्म, ३०. भस्मराशि, ३१. तिल, ३२. तिलपुष्प वर्ण, ३३. दक, ३४. दकवर्ण, ३५. काय, ३६. वन्ध्य, ३७. इन्द्राग्नि, ३८. धूमकेतु, ३९. हरि, ४०. पिंगल, ४१. बुध, ४२. शुक्र, ४३. बृहस्पति, ४४. राहु, ४५. अगस्ति ४७. माणवक, ४७. कामस्पर्श, ४८. धुर, ४९. प्रमुख, ५०. विकट, ५१. विसंधिकल्प, ५२. प्रकल्प, ५३. जटाल, ५४. अरुण, ५५. अग्नि, ५६. काल, ५७. महाकाल, ५८. स्वस्तिक, ५९. सौवस्तिक, ६०. वर्धमानक, ६१. प्रलम्ब, ६२. नित्यालोक, ६३. नित्योद्योत, ६४. स्वयंप्रभ, ६५. अवभास, ६६. श्रेयस्कर, ६७. क्षेमंकर, ६८. आभंकर, ६९. प्रभंकर, ७०. अरजा, ७१. विरजा, ७२. अशोक, ७३. वीतशोक, ७४. विवर्त, ७५. विवस्त्र, ७६. विशाल, ७७. शाल, ७८. सुव्रत, ७९. अनिवृत्ति, ८०. एकजटी, ८१. द्विजटी, ८२. कर, ८३. करिक, ८४. राज, ८५. अर्गल, ८६. पुष्प, ८७. भाव, ८८. केतु।

–*सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्ति,* पृष्ठ २९५, प्राभृत २०

३. छप्पन दिक्कुमारियों के नाम—

१. भोगंकरा, २. भोगवती, ३. सुभोगा, ४. भोगमालिनी, ५. सुवत्सा, ६. वत्समित्रा, ७. पुष्पमाला, ८. अनिन्दिता, ९. मेघंकरा, १०. मेघवती, ११. सुमेघा, १२. मेघमालिनी, १३. तोयधारा, १४. विचित्रा, १५. वारिषेणा, १६. बलाहका, १७. नंदा, १८. उत्तरानंदा, १९. आनंदा, २०. नंदिवर्धना, २१. विजया, २२. वैजयन्ती, २३. जयन्ती, २४. अपराजिता,

१४. चौंसठ इन्द्रों का वलय

मूलपाठ—इन्द्र ६४ वलयम् ॥ १४॥

अर्थ—चोदवें वलय में चौसठ इन्द्रों की स्थापना की जाती है।[1]

१५. चौबीस यक्षिणियों का वलय

मूलपाठ—यक्षिणी २४ वलयम् ॥ १५॥

अर्थ—पन्द्रहवें वलय में चौबीस शासन देवियों की स्थापना की जाती है।[2]

---

२५. समाहारा, २६. सुप्रदत्ता, २७. सुप्रबुद्धा, २८. यशोधरा, २९. लक्ष्मीवती, ३०. शेषवती, ३१. चित्रगुप्ता, ३२. वसुन्धरा, ३३. इलादेवी, ३४. सुरादेवी, ३५. पृथिवी, ३६. पद्मावती, ३७. एकनासा, ३८. नवमिका, ३९. भद्रा, ४०. शीता, ४१. अलंबुसा, ४२. मितकेशी, ४३. पुण्डरिका, ४४. वारूणी, ४५. हासा, ४६. सर्वप्रभा, ४७. श्री, ४८. ह्री, ४९. चित्रा, ५०. चित्रकनका, ५१. शतेरा, ५२. वसुदामिनी, ५३. रूपा, ५४. रूपासिका, ५५. सुरूपा, ५६. रूपकावती।

–*कल्पसूत्र टीका,* पञ्चमं व्याख्यानम्,

१. चौंसठ इन्दों के नाम—

१. सौधर्मेन्द्र, २. ईशानेन्द्र, ३. सनत्कुमारेन्द्र, ४. माहेन्द्र, ५. ब्रह्मेन्द्र, ६. लान्तकेन्द्र, ७. महाशुकेन्द्र, ८. सहस्रारेन्द्र, ९. प्राणतेन्द्र, १०. अच्युतेन्द्र, ११. चमरेन्द्र, १२. बलीन्द्र, १३. धरणेन्द्र, १४. भूतानन्देन्द्र, १५. हरिकान्तेन्द्र, १६. हरिषहेन्द्र, १७. वेणुदेवेन्द्र, १८. वेणुदारीन्द्र, १९. अग्निशिखेन्द्र, २०. अग्निमाणवेन्द्र, २१. वेलम्बेन्द्र, २२. प्रभंजनेन्द्र, २३. घोषेन्द्र, २४. महाघोषेन्द्र, २५. जलकांतेन्द्र, २६. जलप्रभेन्द्र, २७. पूर्णेन्द्र, २८. अवशिष्टेन्द्र, २९. अमितगतीन्द्र, ३०. अमितवाहनेन्द्र, ३१. किन्नरेन्द्र, ३२. किंपुरुषेन्द्र, ३३. सत्पुरुषेन्द्र, ३४. महाप्ररुषेन्द्र, ३५. अतिकायेन्द्र, ३६. महाकायेन्द्र, ३७. गीतरतीन्द्र, ३८. गीतयशेन्द्र, ३९. पूर्णभद्रेन्द्र, ४०. माणिभद्रेन्द्र, ४१. भीमेन्द्र, ४२. महाभीमेन्द्र, ४३. सुरूपेन्द्र, ४४. प्रतिरूपेन्द्र, ४५. कालेन्द्र, ४६. महाकालेन्द्र, ४७. संनिहितेन्द्र, ४८. सामनेन्द्र, ४९. धाताइन्द्र, ५०. विधाता इन्द्र, ५१. ऋषीन्द्र, ५२. ऋषिपालेन्द्र, ५३. ईश्वरेन्द्र, ५४. महेश्वरेन्द्र, ५५. सुवत्स इन्द्र, ५६. विशालेन्द्र, ५७. हास्येन्द्र, ५८. हास्यरतीन्द्र, ५९. श्वेतेन्द्र, ६०. महाश्वेतेन्द्र, ६१. पतंगेन्द्र, ६२. पतंग-पतीन्द्र, ६३. चन्द्र, ६४. सूर्य।

–*त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र,* चतुर्थ पर्व।

२. चौबीस यक्षिणियों के नाम—

१. (चक्रेश्वरी) अप्रतिचक्रा, २. अजितबला, ३. दुरितारि, ४. कालिका, ५. महाकाली, ६. अच्युता, ७. शान्ता, ८. भृकुटि, ९. सुतारा, १०. अशोका, ११. मानवी, १२. चण्ड़ा, १३. विदिता, १४. अंकुशा, १५. कन्दर्पा, १६. निर्वाणी, १७. बलादेवी, १८. धारिणी, १९. वैरोट्या (धरणप्रिया), २०. नरदत्ता, २१. गांधारी, २२. कूष्मांडी, (अविका) २३. पद्मावती, २४. सिद्धायिका।

१६. चौबीस यक्षों का वलय

मूलपाठ—यक्ष २४ वलयम् ॥ १६ ॥

अर्थ—सोलहवें वलय में चौबीस शासन-देवों-यक्षों की स्थापना की जाती है।[१]

विवेचन—रोहिणी आदि सोलह विद्यादेवी, अश्विनी आदि २८ नक्षत्र, अंगारक आदि ८८ ग्रह, भोगंकरा आदि ५६ दिक्कुमारी, सौधर्मेन्द्र आदि ६४ इन्द्र, अप्रतिचक्रा आदि चौबीस शासन-देवी, तथा गोमुख आदि २४ यक्ष (शासन देव)—ये सभी परमात्मा के परिवार रूप होने से जैन-शासन के अंगीभूत एवं उन-उन विशेष शक्तियों से सम्पन्न हैं, अतः उनका स्मरण-चिन्तन भी साधना में सहायक सिद्ध होता है।

वलयाकार में उनकी स्थापना करने के पीछे विशेष उद्देश्य है। इसका रहस्य "**सूरिमन्त्र**", "**कल्प-समुच्चय**" आदि ग्रन्थों के अध्ययन से समझा जा सकता है।

"**सूरिमन्त्र**" आदि के पटों में इन्द्र आदि देव-देवियों की स्थापना की जाती है।

सम्यग्-दृष्टि देव-देवियों के नाम-स्मरण के विविध स्थान

देव-वन्दन, प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाओं में भी चौथीथुइ एवं कायोत्सर्ग के द्वारा सम्यग्दृष्टि देव-देवियों की स्मृति एवं स्तुति होती है।

तदुपरान्त दीक्षा, व्रतोच्चारण, उपधान-माला, तीर्थ-माला आदि मंगल विधि-विधानों में तथा "**आचारांग**" आदि सूत्रों की अनुज्ञा प्रदान करते समय "नंदी" की क्रिया में भी श्रुत-देवता, शासन-देवता और अन्य समस्त वैयावृत्य आदि करने वाले सम्यग्दृष्टि देवों के स्मरणार्थ कायोत्सर्ग एवं स्तुति की जाती है। तथा "**परमेष्ठि स्तव**" में भी दस-दिक्पाल, पाँच लोकपाल, नौ ग्रह, श्रुत-देवता और शासन-देवता आदि का स्मरण किया जाता है।

अञ्जनशलाका, प्रतिष्ठा, बृहत्-लघु शान्तिस्नात्र के समय तथा अर्हद्-महापूजन, सिद्धचक्र तथा ऋषिमण्डल महापूजन आदि में भी शासन-रक्षक देवों, नौ ग्रहों, दस दिक्पालों आदि का विधिपूर्वक आह्वान आदि कर पूजन किया जाता है।

इस प्रकार देव-देवियों का नाम-स्मरण, पूजन आदि करने से उनका लक्ष्य-ध्यान केन्द्रित किया जाता है जिससे उपरोक्त शास्त्रीय अनुष्ठानों आदि में उनसे आवश्यक सहायता-संरक्षण आदि प्राप्त होता है और वे धार्मिक कार्य निर्विघ्नतया पूर्ण रूप से सम्पन्न होते हैं।

---

१. चौबीस यक्षों के नाम—

१. गोमुख, २. महायक्ष, ३. त्रिमुख, ४. यक्षेश, ५. तुंबरू, ६. कुसुम, ७. मातंग, ८. विजय, ९. अजित, १०. ब्रह्म, ११. ईश्वर, १२. कुमार, १३. षण्मुख, १४. पाताल, १५. किन्नर, १६. गरुड़, १७. गन्धर्व, १८. यक्षेन्द्र, १९. कुबेर, २०. वरुण, २१. भृकुटि, २२. गोमेध, २३. पार्श्व, २४. मातंग (ब्रह्मयक्ष)।

सम्यग्-दृष्टि देव-देवियों के विशिष्ट कार्य

पूज्य आचार्य देव श्री जिनप्रभसूरिजी-रचित "**सूरि-मन्त्र**" विवरण में कतिपय देव-देवियों के विशिष्ट कृत्यों की जानकारी दी गयी है। जो निम्न प्रकार हैं—

इरि-शान्ति देवी, किरी-अभयादेवी, गिरि-निवृत्ति देवी आदि का जब स्मरण अथवा कायोत्सर्ग किया जाता है तब वे चैत्य, श्रुत, तप, संघ आदि की महिमा, महत्त्व एवं गौरव की वृद्धि और दुष्ट देवियों का निराकरण करती हैं अथवा पर्वतों या गाँव, नगर, पत्तन आदि स्थानों में चैत्यों (मन्दिरों) का आरोपण एवं उनकी रक्षा करती हैं।

"श्री" एवं "ह्री" देवियाँ मिथ्यात्वी देवताओं से अधिष्ठित चैत्यों का उद्धार तथा श्रुत, तप एवं संघ का भी उद्धार करती हैं।

सौधर्मेन्द्र आदि इन्द्र तथा अन्य भी चार निकाय के सम्यग्-दृष्टि देव तीर्थंकर परमात्मा के पाँचों कल्याणकों में अपूर्व भावोल्लास सहित महा-महिमा करते हैं और अष्ट प्रतिहार्य आदि उन्नीस, अतिशयों, रत्न-स्वर्ण की वृष्टि, समवसरण की रचना, तीर्थ-प्रवृत्ति, गणधर-पद-अभिषेक, दुष्ट राजाओं अथवा देवताओं आदि कृत उपसर्गों का निवारण, दुर्भिक्ष अथवा भयानक अटवी का उल्लंघन, संघ की शोभा का सम्पादन, सिद्धान्तार्थनि वेदन, महान् तप का निर्वाह, तीर्थ, श्रुत या शिष्य-स्थापना आदि कार्यों में चतुर्विध संघ की सदा भक्ति-भाव से सहायता, सेवा करते हैं।

जयवन्त जिन-शासन में शासन-देवों का भी विशिष्ट स्थान है, मान है। जो शासन के प्रति अगाध भक्ति रखते हैं, संकट के समय उपद्रव निवारण करके संघ में शान्ति स्थापित करते हैं और संघ की रक्षा एवं शासन की प्रभावना के कार्यों में सदा उद्यत रहते हैं।

इस प्रकार शासन-देवों का नाम-स्मरण, न्यास अथवा पूजन आदि करने में उनके द्वारा होने वाले उपकारों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए संघ की सुरक्षा तथा प्रत्येक शुभ अनुष्ठान के निर्विघ्न होने आदि का शुभ उद्देश्य है।

१७. स्थापना-चैत्य वलय

मूलपाठ—असंख्यात-शाश्वतेतर-स्थापनार्हच्चैत्यवलयम्॥ १७॥

अर्थ—सत्रहवां वलय असंख्यात शाश्वत एवं अशाश्वत स्थापना अरिहन्तों का अर्थात् जिन (प्रभु) प्रतिमाओं के चैत्यों का है।

विवेचन—जैन-शासन में "चैत्य" को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान-मान प्रदान किया गया है। "चैत्य" शब्द का रूढ़ार्थ है—जिन-(परमात्मा)-प्रतिमा, जिन-मन्दिर और व्युत्पति अर्थ है जिससे अन्तःकरण में शुभ भाव उत्पन्न हों।

अरिहन्त परमात्मा की सौम्य मूर्ति अथवा उनका शिल्पकला समृद्ध मंदिर हमारे चित्त में अपूर्व आह्लाद अर्थात् उत्तम समाधि रूप भाव उत्पन्न करता है अत: उसे "चैत्य" कहा जाता है अर्थात् चित्त के स्थिर होने का एकाग्रं होने का वह अद्वितीय स्थान है। बालक के लिए जैसी माता की गोद होती है वैसा साधक के लिए जिन-चैत्य है परमात्म-मन्दिर है।

प्रस्तुत वलय में तीनों लोकों में स्थित असंख्य, शाश्वत एवं अशाश्वत स्थापना अरिहन्त अर्थात् जिन-मूर्ति एवं जिनालय की संख्या का न्यास करने का निर्देश है।

मूल पंक्ति में संख्या का उल्लेख नहीं है फिर भी संख्या के निर्देश के बिना असंख्य चैत्यों का वलयाकार से न्यास करने का अन्य किसी प्रकार से सम्भव नहीं होने से तथा इसके बाद के चारों वलयों में संख्या-न्यास का निर्देश होने से यहाँ भी चैत्य संख्या का न्यास होना चाहिए, ऐसा अनुमान होता है।

जिन-मूर्ति का माहात्म्य

इस विषम काल में भव्यात्माओं को जिन बिम्ब (परमात्म-मूर्त्ति) तथा जिनागमों का ही मुख्य आधार है। इनके आलम्बन से ही मोक्ष-मार्ग की आराधना होती है।

भक्तात्मा को जिनेश्वर भगवान के साक्षात् दर्शन-वन्दन से जितना आनन्द और लाभ मिलता है उतना ही जिन-मूर्ति के दर्शन-वन्दन से। जिस प्रकार प्रभु के नाम-स्मरण द्वारा मन में प्रभु का सान्निध्य प्राप्त होता है उसी प्रकार उनको रूप-दर्शन से हृदय पर उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है और तन, मन, एवं नेत्रों में भी आनन्द एवं भावोल्लास प्रकट होता है।

"नाम" और "स्थापना" के द्वारा परमात्मा की भक्ति, उपासना होती है। नाम प्रभु की मन्त्रात्मक देह है जिसके आलम्बन से "पदस्थ-ध्यान" होता है।

प्रभु-प्रतिमा साक्षात् परमात्मा तुल्य है। इसके आलम्बन से "रूपस्थ-ध्यान" होता है और इसके सतत् अभ्यास से "रूपातीत-ध्यान" तक पहुँचा जा सकता है।

मूर्ति परमात्मा की साकार-मुद्रा है। साकार के द्वारा निराकार का बोध होता है। निराकार स्वयं की आत्मा है जिसका बोध होने से अनात्मतत्त्व अर्थात् जड़ पदार्थों के प्रति आकर्षण कम होता जाता है। इसे "वैराग्य" कहते हैं तथा आत्म-तत्त्व के प्रति आकर्षण में वृद्धि होती जाती है, जिसे भक्ति कहते हैं।

"वैराग्य" संसार के प्रवाह की ओर मुड़ती चित्तवृत्तियों को रोकता है और "भक्ति" चित्त-वृत्ति को कैवल्य शुद्ध चैतन्य के प्रवाह की ओर मोड़ती है।

मूर्ति के ध्यान से ध्याता ध्येय के साथ एकता का अनुभव करता है। "ध्याता" अन्तरात्मा है, "ध्येय" परमात्मा है और "ध्यान" अर्थात् चित्त-वृत्ति का ध्येय की ओर अखण्ड प्रवाह मूर्ति के द्वारा साधा जाता है, अत: जिन-मूर्ति को "परम-आलम्बन" कहा गया है।

जिन मूर्ति के दर्शन, पूजन, स्तवन आदि से आत्मा के ज्ञान-दर्शन आदि गुणों की प्राप्ति एवं शुद्धि होती है।

हमारी आत्मा परमात्मा तुल्य है इस भाव को मूर्ति में मूर्त-स्वरूप प्रदान किया गया है। अत: उसके दर्शन-पूजन से हमें अपनी आत्मा का ही वास्तविक दर्शन-स्पर्शन होता है।

वास्तव में तो परमात्मा का ध्यान भी एक प्रकार से अपने शुद्धात्मा का ही ध्यान है। यह ध्यान सिद्ध करने के लिए परमात्ममूर्ति उत्कृष्ट आलम्बन है।

इस प्रकार चैत्य-जिनमूर्ति आत्म-विकास की साधना का विशिष्ट अंग होने से उसकी उपकारकता एवं उपयोगिता अपार है।

इसी प्रकार से देवाधिष्ठित प्रभावशाली जिन-मूर्तियों से प्रतिष्ठित जिनालयों एवं तीर्थों की भी आध्यात्मिक क्षेत्र में अत्यधिक महत्ता एवं उपकारकता है।

चैत्य की उपासना एवं संख्या-निर्देश

चतुर्विध संघ को प्रतिदिन दोनों समय अवश्य-कर्त्तव्य रूप ''प्रलिक्रमण'' के सूत्रों में ''चैत्यस्तव'' अर्थात् ''अरिहन्त चेइयाणं'' सूत्र के द्वारा ''अर्हच्चैत्यों'' अर्थात् अरिहन्त परमात्माओं की प्रतिमाओं के वन्दन-पूजन आदि के निमित्त कायोत्सर्ग करने का विधान है।

''सव्वलोए'' सूत्र के द्वारा तीनों लोकों में विद्यमान जिन प्रतिमाएँ समाधिकारक होने से, उनके वन्दन आदि के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। ''जावंति चेईयाइं'' सूत्र के द्वारा साधक तीनों लोकों में स्थित समस्त चैत्यों का वन्दन करता है। ''जगचिन्तामणि'' सूत्र की तीसरी गाथा में सर्वप्रथम शत्रुंजय, गिरनार, साँचोर, भरुच, आदि महान् तीर्थ भूमियों में प्रतिष्ठित तीर्थाधिपति, ऋषभदेव, नेमिनाथ, महावीर स्वामी तथा मुनिसुव्रत स्वामी आदि अरिहन्त परमात्माओं की प्रतिमाओं का भाव-पूर्वक स्मरण-वन्दन करने के पश्चात् महाविदेह आदि क्षेत्रों में, दिशा-विदिशाओं में, भूत, भावी और वर्तमानकाल में विचरण करते हुए समस्त तीर्थंकर भगवानों का वन्दन किया जाता है। तत्पश्चात् चौथी एवं पाँचवी गाथा में तीनों लोकों में स्थित आठ करोड़, सत्तावन लाख, दो सौ बयासी (८,५७,००२८२) शाश्वत जिन चैत्यों को तथा पन्द्रह अरब, बयालीस करोड़, अठावन लाख, छत्तीस हजार अस्सी (१५,४२,५८,३६०८०) शाश्वत जिन-बिम्बों को वन्दन-प्रणाम किया जाता है।

इसी तरह प्रात:कालीन प्रतिक्रमण में छ: आवश्यक पूर्ण होने के पश्चात् जो ''सकल तीर्थ'' सूत्र बोला जाता है उसमें भी तीनों लोकों में स्थित शाश्वत चैत्यों एवं शाश्वत बिम्बों की विस्तृत रूप से संख्या का निर्देश करते हुए स्तुति-वन्दना की गई है। जिसकी तालिका निम्नलिखित है—

तालिका-१

स्वर्ग लोक	प्रासाद संख्या	प्रति प्रासाद स्थित बिम्ब संख्या	कुल बिम्ब
प्रथम देवलोक में	३२०००००	१८०	५७६००००००
दूसरे देवलोक में	२८०००००	१८०	५०४००००००
तीसरे देवलोक में	१२०००००	१८०	२१६००००००
चौथे देवलोक में	८०००००	१८०	१४४००००००
पाँचवें देवलोक में	४०००००	१८०	७२००००००
छठे देवलोक में	५००००	१८०	९००००००
सातवें देवलोक में	४००००	१८०	७२०००००
आठवें देवलोक में	६०००	१८०	१०८००००
नवें देवलोक में }	४००	१८०	७७२०००
दसवें देवलोक में		१८०	७२०००
ग्यारहवें देवलोक में }	३००	१८०	५४०००
बारहवें देवलोक में		१८०	५४०००
नौ ग्रैवेयक में	३१८	१२०	३८१६०
पाँच अनुत्तर में	५	१२०	६००
कुल योग	**८४९७०२३**	**–**	**१५२९४४४७६०**

तालिका-२

पाताल लोक भुवनपतियों में	प्रासाद संख्या	प्रति प्रासाद स्थित बिम्ब संख्या	कुल बिम्ब
१. असुर निकाय में	६४०००००	१८०	११५२००००००
२. नाग निकाय में	८४०००००	१८०	१५१२००००००
३. सुपर्ण निकाय में	७२०००००	१८०	१२९६००००००
४. विद्युत निकाय में	७६०००००	१८०	१३६८००००००

५. अग्नि निकाय में	७६००००००	१८०	१३६८००००००
६. द्वीप निकाय में	७६००००००	१८०	१३६८००००००
७. उदधि निकाय में	७६००००००	१८०	१३६८००००००
८. दिक् निकाय में	७६००००००	१८०	१३६८००००००
९. पवन निकाय में	९६००००००	१८०	१७२८००००००
१०. स्तनित निकाय में	७६००००००	१८०	१३६८००००००
कुल योग	**७७२०००००**	**– –**	**१३८९६००००००**

तालिका-३

तिर्यग्-लोक में शाश्वत चैत्यों की संख्या

तिर्यग्-लोक में शाश्वत चैत्यों की संख्या तीन हजार दो सौ, उनसठ (३२५९) मानी गई है जिनमें प्रतिष्ठित समस्त जिनबिम्बों की संख्या तीन लाख इक्यानवे हजार, तीन सौ बीस (३९१३२०) होती है।

ज्योतिष एवं व्यंतर निकाय में भी असंख्य जिनालय एवं जिन-बिम्ब विद्यमान है। इस प्रकार तीनों लोकों में विद्यमान निश्चित संख्या वाले ८५७००२८२ शाश्वत जिनालयों एवं १५४२५८३६०८० शाश्वत जिन-बिम्बों को नमस्कार होता है।

इस तरह चतुर्विध संघ के लिए प्रतिदिन करने योग्य अनुष्ठानों में भी शाश्वत एवं अशाश्वत समस्त अर्हच्चैत्यों का आलम्बन लेकर ध्यान दशा में तन्मय बनने की समुचित विधि स्पष्ट की गई है।

१८ से २१. साध्वादि वलय

मूलपाठ—ऋषभादि-परिवार-भूतगणधर-प्रभृतिसाधुसंख्यावलयम्॥ १८ ॥
महत्तरामुख्यसाध्वी-संख्यावलयम् ॥ १९ ॥
श्रावक-संख्यावलयम् ॥ २० ॥
श्राविका-संख्यावलयम् ॥ २१ ॥

अर्थ—अठारहवां वलय ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों के परिवार भूत गणधर आदि साधुओं की संख्या का है। (*देखिए परिशिष्ट-२*)

उन्नीसवें वलय में महत्तरा मुख्य (अर्थात् साध्वियों में मुख्य चन्दनबाला आदि) साध्वियों की संख्या है। (*देखिए परिशिष्ट-२*)

बीसवें वलय में श्रावकों की संख्या स्थापित की गई है। (*देखिए परिशिष्ट-२*)

इक्कीसवें वलय में श्राविकाओं की संख्या स्थापित की गई है। (*देखिए परिशिष्ट-२*)

विवेचन— ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकरों के परिवार भूत मुख्य गणधर आदि श्रमण समुदाय, साध्वी वृन्द, श्रावकों एवं श्राविकाओं के समूह की संख्या का निर्देश करके स्मरण-ध्यान करने का विधान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

समस्त तीर्थंकर भगवान समग्र जीवराशि के कल्याणार्थ जिस "तीर्थ" की स्थापना करते हैं वह "तीर्थ" प्रथम गणधर एवं चतुर्विध-संघ स्वरूप होता है।

द्वादशांगी रूप तीर्थ के सूत्र के रचयिता गणधर भगवान हैं। जिसका आधार चतुर्विध संघ है।

समस्त तीर्थंकर भगवान तीर्थ की स्थापना के द्वारा ही मोक्ष-मार्ग का प्रवर्तन करते हैं। द्वादशांगी मोक्ष-मार्ग है और चतुर्विध संघ मोक्ष-मार्ग का साधक है।

भवरूपी भयानक तूफानी सागर के उस पार पहुँचाने में समर्थ जहाज तुल्य तीर्थ द्वारा भव्यात्माओं को धर्म में प्रविष्ट कराने का असीम उपकार समस्त तीर्थंकर भगवान करते हैं।

तीर्थ विद्यमान होने तक जब कोई भव्यात्मा तीर्थ की आराधना करके सद्‌गति एवं सिद्धि आदि कल्याण की परम्परा प्राप्त करते हैं, उसमें तीर्थंकर परमात्माओं का अनुग्रह ही कारणभूत होता है।

तीर्थ की महत्ता

प्रवचन या संघ रूप "तीर्थ" परम प्रभावशाली संस्था है। सकल जीव-हितकर विश्व-संस्था है दुस्तर संसार-सागर से पार उतारने वाले श्रेष्ठ एवं समर्थ नौका जहाज के समान है। विश्व में स्थित समस्त चराचर पदार्थों के सम्पूर्ण स्वरूप का यथार्थ रूप से परिचय कराने वाला है। अत्यन्त निर्दोष एवं शुद्ध तथा अन्य दृष्टिवाले नहीं जान सके ऐसी "चरण" एवं "करण" क्रिया का आधार है और तीनों लोकों में विद्यमान शुद्ध धर्म-सम्पत्तिवान् महात्माओं द्वारा आसेवित है। वर्तमान तीर्थंकर, गणधर भगवान भी पूर्व तीर्थंकरों द्वारा स्थापित तीर्थों के आलम्बन से ही तीर्थंकर, गणधर पद प्राप्त करते हैं तथा ऊर्ध्व अधो और तिर्यग् लोक में विद्यमान समस्त इन्द्र आदि सम्यग्-दृष्टि देव एवं मनुष्य तथा तिर्यंच योनि के सम्यग्-दृष्टि जीव तीर्थ स्वरूप जिन-प्रवचन एवं संघ के प्रति अत्यन्त आदर एवं भक्ति भाव रखते हैं।

अठारह से इक्कीस—इन चारों वलयों के द्वारा विश्व में सर्वोत्तम, सर्व श्रेयस्कर माने जाने वाले गणधरों अथवा चतुर्विध संघ रूप जंगम तीर्थ का ध्यान करने का निर्देश है।

प्रतिक्रमण तथा देव-वन्दन आदि दैनिक अनुष्ठानों में भी "जावंत के वि साहू", "अड्ढाइज्जेसु", "सकल तीर्थ" तथा "भरहेसर" आदि सूत्रों के द्वारा चतुर्विध-संघ का स्मरण-गुणकीर्तन कर उन्हें भावपूर्वक वन्दन, नमस्कार किया जाता है।

२२ से २४. भवनयोगादि वलय

मूलपाठ—भवनयोग ९६ वलयम् ॥ २२ ॥
करणयोग ९६ वलयम् ॥ २३ ॥
करण ९६ वलयम् ॥ २४ ॥

अर्थ—बाईसवें वलय में छियानवे भवन-योगों की स्थापना की जाती है। (*देखें परिशिष्ट-३*)

तेईसवें वलय में छियानवें करण-योगों की स्थापना की जाती है। (*देखें परिशिष्ट-३*)

चौबीसवें वलय में छियानवें करणों की स्थापना की जाती है। (*देखें परिशिष्ट-३*)

विवेचन—बाईसवें, तेइसवें और चौबीसवें वलयों में क्रमशः भवनयोग, करणयोग और करण के छियानवें-छियानवें प्रकारों की स्थापना करने का विधान है।

इन तीनों वलयों में समस्त प्रकार के ध्यान-भेदों में निहित योग की स्थिरता तथा उपयोग की शुद्धि का तारतम्य बताया गया है, जिसके कारण ध्यान के प्रकारों की संख्या ४४२३६८ हो जाती है।

इस प्रकार चौबीस वलयों से परिवेष्टित अपने आत्मा का ध्यान करना ''परम-मात्रा ध्यान'' कहलाता है।

''परम-मात्रा ध्यान'' की विशालता

इस ध्यान में अरिहन्त परमात्मा के विशाल परिवार रूप तीर्थ का स्वरूप बताया गया है।

तीर्थ के तीन अर्थ होते हैं—

१. द्वादशांगी रूप तीर्थ,
२. प्रथम गणधर रूप तीर्थ,
३. चतुर्विध संघ रूप तीर्थ।

इनमें प्रथम शुभाक्षर, दूसरे अनक्षर, तीसरे परमाक्षर और चौथे अक्षर—इन चार वलयों में द्वादशांगी रूप तीर्थ का चिन्तन होता है।

पाँचवें निरक्षर और छठे सकलीकरण वलय के द्वारा पिण्डस्थ आदि ध्यानों के स्वरूप का चिन्तन होता है।

सातवें तथा आठवें वलय में तीर्थंकर परमात्मा के माता-पिताओं का स्मरण होता है।

नौवें वलय के द्वारा चौबीसों जिनेश्वर भगवानों के मंगल नामों का स्मरण होता है।

दसवें वलय से सोलहवें वलय में सम्यग् दृष्टि इन्द्रों, अधिष्ठायक देवों, देवियों आदि का स्मरण होता है।

सत्रहवें वलय में असंख्य शाश्वत एवं अशाश्वत चैत्यों के स्मरण के द्वारा स्थापना-तीर्थंकरों का ध्यान होता है।

तत्पश्चात् अठारह से इक्कीस तक के चार वलयों में प्रथम गणधर एवं चतुर्विध-संघ रूप तीर्थ का स्मरण होता है।

बाईसवें से चौबीसवें—इन तीन वलयों के द्वारा भवनयोग, करणयोग और करण जो कि प्रवृत्ति-निवृत्यात्मक चारित्र-धर्म है, उसके स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

''परम-मात्रा ध्यान'' की उपयोगिता

ध्यान के विषय को सूक्ष्म-सूक्ष्मतर बनाने के लिए प्रथम ध्येय को विशाल-लोकव्यापी बनाना पड़ता है जो ''परम-मात्रा ध्यान'' के द्वारा हो सकता है जिसमें त्रिभुवनस्थ पदार्थों के स्वरूप का चिन्तन करना होता है।

चतुर्विध-संघ के अवश्य कर्त्तव्य रूप देववन्दन, चैत्यवन्दन, प्रतिक्रमण आदि अनुष्ठान तथा उनके सूत्र ध्यान-योग विषयक अनेक साधना-सामग्री से परिपूर्ण हैं। उपयोगपूर्वक अनुष्ठान करने वालों को अपनी-अपनी योग्यतानुसार उनका लाभ अवश्य प्राप्त होता है।

''परम-मात्रा ध्यान'' के चौबीस वलयों में प्रदर्शित ध्यान के पदार्थ आवश्यक-सूत्रों में भी समाविष्ट होने से सर्वत्र शुभ-ध्यान की उपयोगिता स्पष्ट कर साधक को ध्यान मार्ग का सच्चा परिचय देते हैं।

देववन्दन के बारह अधिकारों में सर्वप्रथम ''भाव जिन'' की स्तुति की जाती है जो ''मात्रा ध्यान'' में प्रदर्शित भाव-तीर्थंकर परमात्मा के ध्यान की द्योतक है।

शेष अधिकारों का सम्बन्ध ''परम-मात्रा ध्यान'' के साथ सुसंगत है।

''लोगस्स'' सूत्र में नाम-जिन का कीर्तन है।

''अरिहन्त चेईयाणं'' के द्वारा स्थापना-जिन के वन्दनादि के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।

''जेअ अइया सिद्धा'' के द्वारा द्रव्य-जिन को तथा ''सव्वलोए अरिहंत'' के द्वारा तीनों लोकों के चैत्यों का वन्दन आदि होता है।

''पुक्खरवर'' में विहरमान बीस तीर्थंकर परमात्माओं की एवं श्रुत-धर्म की स्तुति है और ''धम्मो वडढउ'' पद के द्वारा चारित्र-धर्म की स्तुति होती है।

''सिद्धाणं बुद्धाणं'' सूत्र में समस्त सिद्ध परमात्माओं तथा वर्तमान चौबीसों तीर्थंकर परमात्माओं को उनकी कल्याणक-भूमियों के नामों एवं स्थान के निर्देश सहित वन्दन करके, उनकी स्तुति की जाती है।

''वैयावच्चगर'' सूत्र के द्वारा वैयावृच्यकर समस्त सम्यग्दृष्टि देवों का स्मरण होता है।

इस ध्यान का फल — इस प्रकार चौबीस वलयों से वेष्टित स्व-आत्मा का ध्यान करने से उन

सबके साथ आत्मीयता का भाव उत्पन्न होता है।

जिस प्रकार देह एवं उसके सम्बन्धियों का निरन्तर चिन्तन-स्मरण करने से मोहाधीन यह आत्मा उक्त देह एवं उसके सम्बन्धियों के साथ एकता का अनुभव करता है, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान का ध्यान करने वाला साधक उनके साथ तथा उनके परिवार-भूत चतुर्विध-संघ तथा गणधर आदि के साथ एकता का अनुभव करता है।

इस अनुभव के प्रभाव से साधक को दृढ़ विश्वास हो जाता है कि ''यह चतुर्विध संघ'' और ज्ञान दर्शन-चरित्र ही मेरी सम्पत्ति है।

२१. पद ध्यान

मूलपाठ—पदं-द्रव्यतो लौकिक राजादि ५, लोकोत्तरमाचार्यादि ५
भावतः पञ्चानां परमेष्ठिपदानां ध्यानम्॥ २१॥

अर्थ—पद-''द्रव्य से पद'' लौकिक राजा आदि पाँच पदवियाँ (राजा, मंत्री, कोषाध्यक्ष, सेनापति, पुरोहित) हैं।

''लोकोत्तर पद'' आचार्य आदि (आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, गणाच्वछेदक, स्थविर) पाँच पदवियाँ हैं और पंच-परमेष्ठियों का ध्यान करना ''भाव से पद'' है।

विवेचन—पंच परमेष्ठि भगवानों के ध्यान को ''पद ध्यान'' कहा जाता है।

- 'परम मात्रा' में चौबीस वलयों के द्वारा ध्यान को त्रिभुवन-विषय-व्यापी बनाने की प्रक्रिया बताई गई है। पद आदि ध्यानों में ध्यान को क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम बनाने की प्रक्रिया बताई गई है।

मात्रा एवं परम-मात्रा ध्यानों के समस्त ध्येय-पदार्थों का संक्षेप पाँच परमेष्ठियों में होने से यहाँ पाँच परमेष्ठि-पदों के ध्यान को ''पदध्यान'' के रूप में बताया जाता है।

''पदध्यान'' में समस्त प्रकार के आचारों, ध्यान-योगों, मन्त्रों तथा विद्याओं का संग्रह है क्योंकि ''पदध्यान'' में ध्येय रूप में पंच-परमेष्ठि भगवान होने से वह नमस्कार महामन्त्र स्वरूप है।

नमस्कार-महामन्त्र जिनशासन का सार है, चौदह पूर्व का उद्धार है, समस्त मन्त्रों-तन्त्रों एवं विद्याओं का भण्डार है इत्यादि महामन्त्र का माहात्म्य जो आगम ग्रन्थों आदि में बताया गया है वह सब ''पदध्यान'' में अत्यन्त उपयोगी है।

यहाँ आगम, योग (ध्यान) मन्त्र, तन्त्र तथा यन्त्र की दृष्टि से परमेष्ठि नमस्कार के माहात्म्य पर विचार किया जाता है, जिससे ''पदध्यान'' का महत्त्व भी ध्यान में आ जाएगा।

आगम-दृष्टि से परमेष्ठि-नमस्कार का माहात्म्य

''महानिशीथ'', **''नमस्कार-निर्युक्ति''** आदि आगम ग्रन्थों में परमेष्ठि-नमस्कार-महामन्त्र को

"पंचमंगल-महाश्रुत स्कंध" के रूप में परिचित कराया गया है क्योंकि नवकार तिलों में तेल, कमल में मकरन्द और समस्त लोकों में पंचास्तिकाय की तरह समस्त आगमों में व्याप्त होकर रहा हुआ है, समस्त आगमों का आदि पद है अतः समस्त सूत्रों के आदि (प्रारम्भ) में ही वह अवश्य होता है।

अग्नि आदि के भय के समय जिस प्रकार मनुष्य अन्न, कपास, आदि सब छोड़कर जैसे बहुमूल्य रत्नों को ग्रहण करते हैं, शत्रुओं के आक्रमण के समय तलवार आदि सामान्य शस्त्रों को छोड़कर "शक्ति" आदि अमोघ शस्त्रों का ही उपयोग करते हैं उसी प्रकार श्रुत-केवली जैसे पूर्वधर महर्षि भी मृत्यु के समय द्वादशांगश्रुत को छोड़कर इसका ही स्मरण करते हैं इससे नवकार महामन्त्र द्वादशांग के सारभूत होने की सत्यता सिद्ध होती है।

समग्र द्वादशांगी के चिन्तन-मनन से जैसी आत्म विशुद्धता तथा तज्जनित समता प्राप्त की जा सकती है वैसी ही आत्म-विशुद्धता एवं समता मन्त्राधिराज नवकार की भावपूर्वक आराधना करने से प्राप्त की जा सकती है।

यह "नमस्कार-मन्त्र" यथार्थ क्रियानुगत-नमस्कार की क्रिया का अनुसरण करने वाला सद्भूत गुण-कीर्तन स्वरूप तथा यथेच्छ फल प्रसाधक परम स्तुतिवाद रूप है।

तीनों लोकों में सर्वोत्तम हो उसकी ही परम उत्कृष्ट स्तुति करनी चाहिए।

तीनों लोकों में जो उत्तमोत्तम आत्मा जो हो चुके हैं, जो कोई होते हैं अथवा जो कोई होंगे वे सब अरिहन्त आदि पाँच ही हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हैं। वे पाँच हैं—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु।

"पंचमंगल महाश्रुतस्कंध" परम स्तुति, परम-भक्ति स्वरूप है और भक्ति (विनय) समस्त सम्यग् आचारों (गुणों) का मूल है। अतः सब प्रकार के सदनुष्ठानों में भी यह नवकार व्यापक रूप में अवश्य होता ही है।

परमेष्ठि भगवान की भक्ति-सेवा के बिना किसी भी सम्यग् आचार अथवा गुण की वास्तविक प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः गुणार्थी आत्मा सर्वप्रथम पंच-परमेष्ठि भगवानों का विनय करते हैं और ऐसा करने में वे अपना अहोभाग्य मानते हैं।

इस महाप्रभावशाली मंत्राधिराज के स्मरण, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन के प्रताप से सब प्रकार के पापों का क्षय, सब प्रकार के पुण्य का संचय होता है और सब प्रकार से आत्मा अवश्य शुद्ध होती है।

परमेष्ठि नमस्कार का फल

पंच मंगल स्वरूप परमेष्ठि नमस्कार सब प्रकार के शोक, सन्ताप, उद्वेग, आधि, व्याधि, महाव्याधि, वेदना, घोर दुःख, दरिद्रता, दीनता, क्लेश, जन्म-जरा-मृत्यु तथा गर्भावास आदि दुःखों से

भरपूर भयानक संसार-सागर से उद्धार करने वाला है।

समस्त समीहित पदार्थों की प्राप्ति के लिए यह कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि रत्न से भी अधिक प्रभावशाली है। इस लोक-परलोक की समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण करने वाला है।

शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है कि इस नवकार का पार न तो किसी ने पाया है और न कोई पा सकता है अत: दुस्तर संसार-सागर को पार कराने में यह सदा सबसे आगे है।

विधिपूर्वक एक लाख बार नवकार-मन्त्र की आराधना करने वाली आत्मा निस्सन्देह तीर्थंकर नाम-कर्म उपार्जन करती है।

नवकार-मन्त्र के एक पद की भी भावपूर्वक की गई आराधना पचास सागरोपम के संचित पाप-कर्मों को नष्ट करती है और समस्त नौ पदों की आराधना करने से पाँच सौ सागरोपम के संचित पाप-कर्मों का क्षय होता है।

जन्म-जन्मान्तर के संचित शारीरिक अथवा मानसिक समस्त दु:ख एवं उनके कारण भूत पाप-कर्म तब तक ही टिक सकते हैं, जब तक भावपूर्वक नमस्कार महामन्त्र का स्मरण नहीं हुआ हो।

वस्तुत: यह नवकारमन्त्र इस लोक तथा परलोक के समस्त सुखों का मूल है।

पद ध्यान एवं परमेष्ठि-नमस्कार

''पद ध्यान'' में पाँच परमेष्ठि भगवानों का ही ध्यान होने से वह नमस्कार-महामन्त्र का ही ध्यान है- क्योंकि ''पद-ध्यान'' भाव संकोच रूप भाव-नमस्कार है।

''**आवश्यक-निर्युक्ति**'' के अन्तर्गत ''नमस्कार-निर्युक्ति'' में श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी जी ने उत्पत्ति, निक्षेप, पद और पदार्थ आदि द्वारों के माध्यम से नवकार के विशद स्वरूप एवं रहस्य का स्पष्टतया वर्णन किया है। जिनमें से कतिपय उपयोगी बिन्दुओं पर हम यहाँ विचार करेंगे।

१. उत्पत्ति द्वार—''नमस्कार'' शब्द ज्ञान एवं क्रिया स्वरूप है। ये दोनों उत्पत्ति धर्म वाले हैं अत: ''नमस्कार'' उत्पत्ति धर्मयुक्त है। उत्पत्ति में निमित्त की अपेक्षा रहती है। ''नमस्कार'' की उत्पत्ति में तीन निमित्त कारण माने गये हैं जो निम्नानुसार हैं—

(अ) समुत्थान—जिससे सम्यग् उत्पत्ति हो वह समुत्थान कहलाता है। नमस्कार की आधार रूप देह ''समुत्थान'' है अर्थात् नमस्कार के लिए उचित हो ऐसा काया का सम्यग् उत्थान।

(ब) वाचना—गुरु से सूत्र-अर्थ आदि का पाठ लेना, सुनना।

(क) लब्धि—नमस्कार के प्रतिबन्धक[१] नमस्कारावरणीय कर्म का क्षयोपशम होना।

---

१. नमस्कार के प्रतिबन्धक कर्म-मति ज्ञानावरणीय, श्रुत-ज्ञानावरणीय और दर्शन-मोहनीय हैं इन्हें ही यहाँ नमस्कारावरणीय कहा है।

"नमस्कार" की उत्पत्ति में ये तीन सामान्य कारण हैं।[१]

प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ तो अवश्य होते हैं। वे निक्षेप-द्वार में बताये जाते हैं।

२. निक्षेप— "नमस्कार" शब्द के चार अर्थ हो सकते हैं जैसे **(अ) नाम-नमस्कार**— "नमः" यह नाम सो नाम नमस्कार है। **(ब) स्थापना-नमस्कार** —"नमः" ऐसे दो अक्षरों का आलेखन अथवा हाथ जोड़ना आदि नमस्कार मुद्रा "स्थापना-नमस्कार" है। **(स) द्रव्य-नमस्कार**— भाव-शून्य अर्थात् उपयोग रहित नमन-क्रिया द्रव्य-नमस्कार है। **(द) भाव नमस्कार** — उपयोग-पूर्वक किया जाने वाला नमस्कार "भाव नमस्कार" है।

३. पद द्वार— जिसके द्वारा अर्थ ज्ञात हो वह "पद" कहलाता है। "नमः" नैपातिक-पद कहलाता है।

४. पदार्थ द्वार—पदार्थ अर्थात् पद का अर्थ। "नमः" पूजा अर्थ का वाचक है। पूजा दो प्रकार की है **(अ) द्रव्य-संकोच रूप-द्रव्य पूजा**—जिसमें हाथ, पाँव, सिर आदि का संकोच मुख्य होता है—यह द्रव्य पूजा है। **(आ) भाव संकोच रूप-भाव पूजा**—अरिहन्त आदि पाँच परमेष्ठियों के-गुणों में मन का प्रवेश-चित्त की एकाग्रता "भाव-पूजा" है।

भावार्थ — उत्पत्ति द्वार में नमस्कार की उत्पति के जो तीन कारण हेतु बताये हैं, वे ध्यान की साधना में भी इतने ही महत्त्वपूर्ण हैं।

१. समुत्थान — ध्यान-साधना में भी ध्यान के योग्य शरीर का सम्यग् उत्थान एवं शारीरिक बल अपेक्षित है। उत्तम संघयणयुक्त शरीर ध्यान में विशेष निश्चलता लाता है। क्षपक श्रेणीगत ध्यान के लिए प्रथम (वर्ज्र-ऋषभनाराच) संघयण की आवश्यकता होती है।

२. वाचना— ध्यान में श्रुतज्ञान का उपयोग बारहवें गुण-स्थानक तक अवश्य होता है अतः गीतार्थ-ज्ञानी गुरु से वाचनादि लेकर शास्त्राध्ययन करना आवश्यक है। श्रुतज्ञान द्वारा तत्त्व चिन्ता एवं भावना का अभ्यास होने से ही वस्तुतः ध्यान का प्रारम्भ होता है। श्रुतज्ञान के बिना ध्यान असम्भव है।

३. लब्धि— शुभ ध्यान के लिए मति-ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षयोपशम तो अत्यन्त आवश्यक है परन्तु उसके साथ दर्शन मोहनीय का क्षयोपशम भी अपेक्षित है, अर्थात् भाव-नमस्कार की तरह भावाध्यान में भी "लब्धि" प्रधान कारण है। भाव-नमस्कार (सम्यकत्व) की प्राप्ति के बिना वस्तुतः शुभ-ध्यान का प्रारम्भ नहीं होता।

---

१ नैगम, संग्रह, व्यवहार नय-नमस्कार की उत्पति में तीन कारण मानते हैं। परन्तु ऋजुसूत्रनय वाचना और लब्धि दो को ही और शब्द, समाभिरूढ़ तथा एवंभूतनय—ये लब्धि को ही कारण के रूप में स्वीकार करते हैं।

४. निक्षेप—भाव नमस्कार की तरह भाव ध्यान भी दो प्रकार के हैं—१. आगम से और २. नो आगम से।

आगम की अपेक्षा से भाव-ध्यान अर्थात् ध्यान का अर्थ जानने वाला तथा उपयोगयुक्त आत्मा।

नो आगम की अपेक्षा से भाव ध्यान अर्थात् उपयोग-युक्त ध्यान की चिन्तनात्मक-क्रिया अर्थात् उपयोग युक्त ध्यान।

५. पद एवं पदार्थ— ''नमः'' पद और ''पद-ध्यान'' का शब्दार्थ-भावार्थ सोचने पर दोनों की कथंचित समानता प्रतीत होती है।

''नमः'' पूजा अर्थ में है। पूजा के मुख्य दो प्रकार हैं— १. द्रव्य पूजा, और २. भाव पूजा।

१. द्रव्य-पूजा में देह एवं वाणी का संकोच होता है।
२. भाव-पूजा में मन का संकोच होता है अर्थात् अरिहन्त आदि के गुणों में मन को एकाग्र बनाना होता है अतः उसे ''भाव संकोच'' कहते हैं। ''पद-ध्यान'' भाव-नमस्कार रूप है। भाव नमस्कार की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। तत्त्वतः सच्चा नमस्कार भी वही है।

''**ललित-विस्तरा**'' ग्रन्थ में भाव-नमस्कार की महत्ता एवं व्याख्या विशद रूप से बताई गई है जो धर्म-प्रशंसा आदि बीजाधान आदि के क्रमशः सिद्ध होती है।

''**शक्रस्तव**'' में सर्वप्रथम ''नमुत्थुणं'' नमस्कार हो—यह प्रार्थनात्मक नमस्कार करने के पीछे साधक भक्तात्मा का यही शुभ उद्देश्य है कि वर्तमान समय में मैं परमात्मा को भाव नमस्कार कर सकूँ ऐसा मुझमें सामर्थ्य नहीं है, परन्तु उसे करने की मेरी पूर्ण अभिलाषा है। अतः प्रभु-कृपा के प्रभाव से ही मेरा यह इच्छा-योग का नमस्कार भविष्य में भाव-नमस्कार करने का मुझमें सामर्थ्य प्रकट करेगा।

भाव-नमस्कार के भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट आदि अनेक भेद हैं। नाम आदि चारों नमस्कारों के न्यूनाधिक शुद्धि की अपेक्षा से अनेक भेद होते हैं।

भाव-नमस्कार का परम प्रकर्ष वीतराग-दशा को प्राप्त हुए उत्तम आत्माओं को होता है। तीर्थंकर भगवान भी ''नमों तित्थस्स'' पद का उच्चारण करते हैं।

पूजा के चार प्रकार

जिनागमों में चार प्रकार की पूजा का उल्लेख है—१. पुष्प पूजा, २. नैवेद्य पूजा, ३. स्तोत्र पूजा और ४. प्रतिपत्ति पूजा।

प्रथम दो भेद ''द्रव्य पूजा'' के, बाद के दो भेद ''भाव पूजा'' के हैं।

''भाव पूजा'' ''प्रतिपत्ति'' रूप होती है।

गुण स्थान की दृष्टि से पूजा

सम्यग्दृष्टि जीवों को प्रथम की तीन पूजाएँ होती हैं और देश-विरतिधर को चारों पूजाएँ होती हैं। सरागी सर्वविरतिधर को (छठे से दसवें गुण-स्थानक तक) ''स्तोत्र'' एवं ''प्रतिपत्ति'' दो पूजाएँ होती हैं और वीतराग-दशा में अर्थात् ग्यारहवें, बारहवें, और तेरहवें गुण-स्थानक में ''प्रतिपत्ति'' पूजा होती है।

ये चारों पूजाएँ क्रमशः उत्तरोत्तर विशेष विशुद्धियुक्त होती हैं।

''भाव-पूजा'' (भाव-नमस्कार) ''प्रतिपत्ति'' रूप है।

''प्रतिपत्ति'' पूजा का तात्पर्य

''प्रतिपत्ति'' अर्थात् ''आप्त पुरुषों के वचनों का अविकल रूप से पालन करना''।

परमात्मा की आज्ञा का परिपूर्ण पालन वीतराग को ही होता है। उपशान्तमोह, क्षीण मोह और सयोगी-केवली—इन तीनों में से प्रथम के दो संयम की उत्कृष्ट साधना के द्वारा विशुद्ध-ध्यान की श्रेणी में स्थित होते हैं और सयोगी-केवली उनके द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किए होते हैं।

इस प्रकार की उत्कृष्ट आत्म-विशुद्धि एकाएक प्राप्त नहीं होती, परन्तु दीर्घकालीन संयम एवं ध्यान आदि के सतत् अभ्यास के पश्चात् प्राप्त होती है। इसी कारण से देश विरति एवं सराग-संयमी को भी ध्यान आदि के द्वारा क्रमशः जो आत्म-विशुद्धि प्राप्त होती है। उसे भी ''प्रतिपत्ति पूजा'' कहते हैं।

''पदध्यान'' में पंचपरमेष्ठि भगवानों का ध्यान करना होता है। वह परमात्मा की आज्ञा के पालन स्वरूप होने से भाव-नमस्कार हैं और वह भाव-नमस्कार प्रतिपत्ति पूजा स्वरूप है। कहा भी है कि—सब पूजाओं में ''भाव-पूजा'' प्रधान है और वह ''प्रतिपत्ति'' रूप है।[१]

प्रथम दो पूजाओं में द्रव्य-संकोच स्तोत्र में वाणी और मन का संकोच तथा प्रतिपत्ति में मन और भाव का संकोच होता है।

जब-तब, जहाँ-तहाँ, जाने-अनजाने स्थापित मन के आरोपित भाव को, उन-उन सब स्थानों तथा पदार्थों में से खींच कर पंचपरमेष्ठि भगवंतों में स्थापित करने को मन का संकोच अर्थात् ''भाव-संकोच'' कहते हैं।

''द्रव्य-पूजा'' से सर्वथा ऊपर उठने की क्रिया को ''भाव-संकोच'' कहते हैं।

---

१. भावपूजायाः प्रधानत्वात् तस्याश्च प्रतिपत्तिरूपत्वात्।

–*ललितविस्तरा*, पृष्ठ ४५

इस प्रकार "नमो" पद समस्त प्रकार की पूजाओं का द्योतक होने से "ध्यान" रूप "प्रतिपत्ति पूजा" का भी सूचक है।

इस दृष्टि से नमस्कार-महामन्त्र में भी "नमो" पद "ध्यान" का सूचक होना सिद्ध होता है।

यह "नमो" पद जीव की जीव के प्रति घृणा दूर करता है मन को अरिहन्त में विलीन करता है—अरिहन्तमय बनाता है। इसकी महिमा अपरंपार है।

"पद-ध्यान" में पंच-परमेष्ठियों का ध्यान होने से, उसे नमस्कार-महामन्त्र का ही ध्यान कहा जा सकता है क्योंकि "पद-ध्यान" एवं "नमस्कार-महामन्त्र" में पदार्थ रूप में पंच-परमेष्ठि ही विद्यमान है।

अरिहन्त आदि पाँचों पदों का विशिष्ट रहस्यभूत अर्थ

१. अरिहन्त-पद—जो देव, दानव एवं मनुष्यों के लिए वन्दन एवं पूजन योग्य है।

तीर्थंकर-नामक रूप अरिहन्त-पदवी का उपयोग करके सिद्धि प्राप्त करने वाले हैं।

समस्त गुणों से युक्त होने के कारण सर्वोत्तम है, स्तुति करने योग्य हैं और भयंकर भव-अटवी में परिभ्रमण करने से भयभीत बने प्राणियों को परमआनन्द स्वरूप मोक्ष-मार्ग दिखाने वाले हैं।

जो भव-अटवी में "सार्थवाह" एवं भव-सागर में निर्यामक बनते हैं और छः काय जीवों के रक्षक होने से "महागोप" के यथार्थ बिरुद के धारक हैं।

जो इन्द्रियों, विषय-कषायों, परीषहों, वेदनाओं उपसर्गों, राग-द्वेष, मोह एवं कर्म आदि भाव-शत्रुओं के संहारक हैं उन्हें जीतने वाले हैं, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी एवं अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न हैं।

जिनका शारीरिक रूप-सौन्दर्य एवं बल-पराक्रम समस्त देवों तथा इन्द्रों के रूप एवं बल की अपेक्षा अनन्त गुना है।

जिनकी वाणी पत्थर जैसे हृदय को भी पानी कर दे वैसे विशिष्ट प्रकार के पैंतीस गुणों से युक्त है।

जिनकी पुण्य देह में प्रवाहित रूधिर दूध की धारा के समान श्वेत होता है।

जिनमें जन्म से तीन ज्ञान होते हैं।

जिनका आत्म-दल अनन्य कोटि का होता है।

जो समग्रजगत के जीवों के कल्याणार्थ ही धर्म-तीर्थ के संस्थापक एवं परोपकाराय जीवन जीने वाले होते हैं।

जो कृतज्ञता-गुण के स्वामी होते हैं।

विश्व की प्रत्येक दैवी-शक्ति उनकी तुलना में अत्यन्त सामान्य गिनी जाती है।

जो तीन भुवनों के स्वामी हैं, गुरु हैं, माता हैं, पिता हैं, बन्धु हैं, प्रियतम हैं, सर्व हितकर एवं सुखकर हैं, वे ही अरिहन्त परमात्मा हैं।

जिनके समक्ष समस्त श्रेष्ठ उपमाऐं वामन प्रतीत होती हैं ऐसे विराट अरिहन्त परमात्मा के प्रभाव से ही यह विंश्व सौभाग्यशाली है, व्यवस्थित है, नियम-बद्ध है।

२. सिद्ध पद — जिन्होंने अनुपम, अक्षय और अव्याबाध सुख सिद्ध किये हैं अर्थात् जिनके समस्त प्रयोजन पूर्ण हो गए हैं और जो सर्वथा कृत-कृत्य हैं।

जो आठों कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से अविनाशी सिद्धि पद प्राप्त कर चुके हैं।

जो अनन्त ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र आदि गुणों से युक्त हैं अतः भव्य जीवों के हृदय में अत्यन्त प्रमोद उत्पन्न करने वाले हैं।

जिनके स्मरण, चिन्तन एवं ध्यान से भव्य जीवों को गुणों की प्राप्ति होती है।

जो स्वयं परम मंगल-स्वरूप होने से उनका ध्यान करने वाले भव्यात्माओं को भी मंगल-स्वरूप बनाने वाले हैं।

जो अजर, अमर और असंग हैं, जन्म-मरणादि के समस्त बन्धनों से सर्वथा विमुक्त हैं और सदा शाश्वत, अव्याबाध सुख का अनुभव करते हैं वे ही सिद्ध परमात्मा हैं।

उनका स्मरण, मनन और ध्यान भव्यात्माओं को सिद्ध स्वरूपी बनाता ही है।

३. आचार्य-पद—जो ज्ञान आदि आवारों का अहर्निश (प्रतिपल) आचरण करने वाले हैं और जो उपदेश प्रदान आदि के द्वारा भव्य जीवों को आचरण का पालन कराने वाले हैं।

जो प्राणों की बलि देकर भी पृथ्वीकाय आदि समारम्भों का तीन करणों तथा तीन योगों से कदापि आचारण नहीं करते।

कोई कुपित हो अथवा कोई पूजा करे, तो भी जो राग-द्वेष के अधीन न होकर दोनों के प्रति समता-भाव रखने वाले हैं।

जो स्व-पर दर्शन के ज्ञाता हैं, मर्मज्ञ हैं।

जो प्रमाद आदि दोषों से दूर रहने में सदा उपयुक्त हैं, सावधान हैं।

जो द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के यथार्थ अभ्यासी हैं।

जो सदाचार की गंगा के प्रवाह को सदा जीवंत रखने वाले हैं। सदुपदेशों का स्वयं पालन करके सदुपदेश देने वाले हैं अतः नित्य नमस्करणीय हैं, पूजनीय हैं, वन्दनीय हैं और सेव्य हैं।

४. उपाध्याय-पद — इस पद पर विराजमान आत्मा आस्रव के द्वारों को सम्यक् प्रकार से रोककर

मन, वचन और काया के योगों को आत्माधीन करके विधिपूर्वक स्वरों, व्यंजनों, मात्राओं, बिन्दुओं, और अक्षरों के द्वारा विशुद्ध द्वादशांग श्रुत का अध्ययन एवं अध्यापन करने-कराने वाले तथा उसके द्वारा स्व-पर के आत्मा के लिए हितकर मोक्ष के उपायों का नित्य, निरन्तर सेवन करने वाले होते हैं।

जो विनय-गुण के भण्डार हैं। मूर्ख अथवा अल्प-बुद्धि युक्त शिष्य भी जिनकी कृपा से सरलतापूर्वक विनयी बनकर श्रुत-ज्ञान का अभ्यासी बन जाता है।

सूत्र-प्रदान करके जीवों के उपकारी होने के कारण वे भी नमस्कार करने योग्य होते हैं।

५. साधु-पद—जो स्वयं मोक्ष की साधना करने वाले तथा अन्य आत्माओं को भी धर्म की साधना में सहायक होते हैं।

जो बाह्य एवं अभ्यन्तर बारह प्रकार के तप का आचरण करने वाले, अत्यन्त कष्टकर उग्र तपस्या, अहिंसा आदि व्रतों-नियमों एवं विविध प्रकार के अभिग्रह करके संयम का शुद्धता से पालन करने वाले तथा अनेक प्रकार के परीषहों एवं उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करने वाले, विश्व के समस्त जीवों को आत्मौपम्य दृष्टि से देखने वाले, आत्मवत् समझने वाले और तदनुरूप जीवन जीने वाले साधु क्रमशः समस्त कर्मों को क्षय करके मोक्ष प्राप्त करने वाले होते हैं।

पंच परमेष्ठि—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु प्रत्येक को "परमेष्ठि" कहा जाता हैं और इन पाँचों को "पंच-परमेष्ठि" के रूप में पहचाना जाता है।

"परमेष्ठि" अर्थात् परम-पद पर स्थित-आसीन उत्तम आत्मा।

इन पंच-परमेष्ठियों में प्रथम दो पद "देव-तत्त्व" स्वरूप हैं और शेष तीन पद "गुरु तत्त्व" स्वरूप हैं।

इन पंच-परमेष्ठि भगवन्तों में १०८ गुण विद्यमान हैं।[१] जिनका स्मरण, मनन एवं ध्यान करने से समस्त अशुभ कर्मों का विनाश होता है और शुभ का विकास होता है।

ज्ञान, ध्यान, योग, अध्यात्म एवं धर्म की समस्त प्रकार की साधना-उपासना इन १०८ गुणों में अन्तर्भूत हो जाती है अतएव "परमेष्ठि-ध्यान" स्वरूप इस "पद-ध्यान" में ध्यान के समस्त भेद-उपभेदों का समावेश हो जाता है।

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये पाँच परमेष्ठि नवकार की पाँच वस्तु हैं और वे गुणयुक्त होने से मूर्तिमान गुणों के समान हैं। पुष्प एवं सुगन्ध जैसा अभेद उनके जीवन एवं गुणों

---

१. १. अरिहन्त भगवान के १२ गुण, २. सिद्ध भगवान के ८ गुण, ३. आचार्य भगवान के ३६ गुण, ४. उपाध्याय भगवान के २५ गुण और ५. साधु भगवान के २७ गुण—इस प्रकार कुल मिलाकर १०८ गुण होते हैं।

के मध्य है। जिससे सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चरित्र रूप रत्नत्रयी की तरह ये अरिहन्त भगवान गुणार्थी जीवों के लिए अत्यन्त पूजनीय हैं नमस्करणीय हैं।

इन पाँचों को नमस्कार करने के पीछे जो पाँच मुख्य हेतु हैं वे निम्नानुसार हैं—

मग्गो अविप्पणासो आयारो विणयया सहायत्तं।
पंचविह नमुक्कारं करेमि एएहिं हेऊहिं॥

भावार्थ—अरिहन्त परमात्मा रत्नत्रय रूप मोक्ष-मार्ग के उपदेशक हैं और स्वयं मोक्ष-मार्ग के हेतु हैं अत: वे नित्य नमस्करणीय हैं।

यह है अरिहन्त भगवान को नमस्कार का हेतु।

सिद्ध भगवान मोक्ष-मार्ग की साधना के फलस्वरूप जो अनश्वरता प्राप्त करते हैं, उस अनश्वरता को प्राप्त करने के लिए सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार है।

आचार्य भगवान विश्व-स्नेहात्मक आचार का संपूर्णत: विशुद्ध पालन करते हुए उसका उपदेश देते हैं उस आचार को प्राप्त करने का हेतु आचार्य-नमस्कार के मूल में है।

उपाध्याय भगवान विनय गुण के भण्डार हैं, सतत स्वाध्याय-रत हैं तथा सूत्र-पाठ आदि देने वाले हैं। इन गुणों में प्रमुख गुण विनय है। उसे प्राप्त करने के हेतु से उपाध्याय को नमस्कार है।

साधु, महात्मा मोक्ष-मार्ग की साधना में सहायता करते हैं अत: वे भी पूज्य हैं।

इस प्रकार १. मोक्ष-मार्ग, २. अनश्वरता, ३. आचार, ४. विनय और ५. सहायता — इन पाँच हेतुओं के लिए पंच-परमेष्ठियों को नमस्कार किया जाता है।

तात्पर्य यह हैं कि पंच-परमेष्ठियों के अनुग्रह से ही जीवन में मोक्ष मार्ग, आचार-पालन, विनय-युक्तता एवं परार्थकरण रूप सहायता आदि गुण प्राप्त होते हैं और इन गुणों का उत्तरोत्तर विकास होने से क्रमश: अविनाशी-पद प्राप्त होता है।

योग की दृष्टि से नमस्कार

नमस्कार की उत्पत्ति के तीन उद्देश्यों में प्रथम "समुत्थान" (देह का सम्यग् उत्थान) बताया गया है। यह योग के आठ अंगों में से तीसरे "आसन" अंग का सूचक है और देह की स्थिरता रूप आसन, यम-नियमों के पालन से ही सिद्ध होता है अत: तीनों योगांग "समुत्थान" के द्वारा ही सूचित होते हैं।

नमस्कार की उत्पत्ति का दूसरा उद्देश्य "वाचना" है जो वर्णयोग एवं अर्थयोग का सूचक है साथ ही भाव प्राणायाम और प्रत्याहार का भी सूचक है।

सद्गुरु से विनयपूर्वक सूत्र एवं अर्थ का पाठ श्रवण करके नमस्कार का शुद्ध उच्चारणपूर्वक अध्ययन करने का नाम ''वाचना'' है।

नमस्कार की उत्पति का तीसरा उद्देश्य ''लब्धि'' है जो आलम्बनयोग एवं धारणा, ध्यान एवं समाधि को सूचित करता है।

सूत्र एवं अर्थ प्रणेता अरिहन्त आदि में चित्त का एकाग्र उपयोग आलम्बन-योग है।

यहाँ ''लब्धि'' मतिज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम रूप है और वह अरिहन्त आदि के आलम्बन (ध्यान) के योग से ''अपूर्वकरण'' आदि के क्रम से प्रकट होती है। ''अपूर्वकरण'' आदिकरण भी ध्यान रूप है।

पूज्य सूरि-पुरन्दर हरिभद्रसूरिजी महाराज ने ''**योग-विंशिका**'' में योग का स्वरूप स्पष्ट करते हुए स्पष्ट किया है कि ''मोक्खेण जोयणाओ जोगो''— आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ने वाला समस्त प्रकार का ज्ञान आदि आचार सामान्यतः योग है और विशेष रूप से योग के पाँच प्रकार निम्नानुसार हैं—

१. वर्ण-योग, २. स्थान-योग, ३. अर्थ-योग, ४. आलम्बन-योग और ५. अनालम्बन-योग।

प्रथम दो योग क्रियात्मक हैं और शेष तीन योग ज्ञानात्मक हैं।

स्थान आदि योगों की व्यापकता

''चैत्यवन्दन'' आदि धर्मानुष्ठानों में स्थान आदि योगों का यथास्थान प्रयोग किए जाने पर ही उक्त अनुष्ठान विधिपूर्वक सम्पन्न माना जाता है और इस तरह विधिपूर्वक किये गए अनुष्ठान के फलस्वरूप साधक को जीवन में चित्त की निर्मलता एवं प्रसन्नता का अनुभव होता है और उससे क्रमशः सद्गति एवं सिद्धि-पद भी प्राप्त होता है।

जैसे ''चैत्यवन्दन'' करते समय मुँह से सूत्रों का स्पष्ट एवं शुद्ध उच्चारण करना, दोनों हाथों को योग मुद्रा में[१] व्यवस्थित रखना, मन से सूत्रों के अर्थों का चिन्तन करना और दृष्टि को प्रभु-प्रतिमा आदि के आलम्बन में स्थिर करना।

इस प्रकार स्थान आदि योगों का प्रयोग करके ही समस्त अनुष्ठान करने से उनके द्वारा जीवन में चित्त की शान्ति आदि अनेक महान् लाभ प्राप्त होने के साथ वास्तविक आत्म-विकास होता है।

---

१. कोशाकार में दोनों हाथ मिलाकर, परस्पर दसों अंगुलियों को पिरोकर हाथों की दोनों कोहनियों को उदर के मध्य भाग पर स्थापित करना ''योग-मुद्रा'' है।

ये स्थान आदि पाँचों भेद ''इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि'' के भेद से बीस प्रकार के हैं।

इस प्रकार योग के बीसों प्रकार भी ''प्रीति, भक्ति, वचन, और असंग'' अनुष्ठानयुक्त बनते है तब योग के कुल अस्सी भेद होते है। कहा है कि—

प्रीतिभक्तिवचोऽसंगैः, स्थानाद्यपि चतुर्विधम्।
तस्मादयोगयोगाप्तेर्मोक्षयोगः क्रमाद् भवेत्॥

–*ज्ञानसागर*, योगाष्टक, श्लोक-७

अर्थ—प्रीति, भक्ति, वचन और असंग के द्वारा स्थानादि प्रत्येक योग चार प्रकार का है। उक्त योग के अभ्यास से क्रमशः ''अयोगी-अवस्था'' प्राप्त होती है और उसके द्वारा मोक्ष-पद प्राप्त होता है।

ये समस्त प्रकार ''प्रतिपत्ति'' के रूप में भाव-पूजा में अन्तर्भूत होने से ''नमो'' पद से सूचित होते हैं।

''नमो'' पद के द्वारा इच्छा आदि योग

''नमो'' पद के द्वारा इच्छा-योग, शास्त्र-योग और सामर्थ्य-योग का नमस्कार भी ज्ञात होता है। **''ललित-विस्तरा-वृत्ति''** में इच्छा आदि योगों का निम्न प्रकार से निर्देश है—

१. ''नमो अरिहंताणं'' अथवा ''नमुत्थुणं'' में निहित ''नमो'' पद के द्वारा ''इच्छा योग'' का नमस्कार।
२. ''नमो जिणाणं जिअभयाणं'' पद के द्वारा ''शास्त्र-योग'' का नमस्कार।
३. ''इक्को वि नमुक्कारो'' पद के द्वारा ''सामर्थ्य-योग'' का नमस्कार सूचित हुआ है और उन इच्छा आदि योगों में उपर्युक्त स्थान आदि योग तथा प्रीति आदि चारों अनुष्ठान अन्तर्भूत हैं। अतः स्पष्ट है कि ''भाव-नमस्कार'' रूप ''पद-ध्यान'' में ये सभी योग समाविष्ट हैं।

ध्यान की दृष्टि से नमस्कार

''पद-ध्यान'' अर्थात् पंच-परमेष्ठि भगवानों के ध्यान में, ध्यान के शेष समस्त प्रकार समाविष्ट हैं जो ''अरिहाणथुत्तं'' के द्वारा अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है। ''अरिहाणथुत्तं'' एक महाप्रभावशाली मन्त्र-गर्भित स्त्रोत है जिसमें आठ आरों और आठ वलयों से युक्त ''पंचनमस्कार-चक्रयन्त्र'' के द्वारा ध्यान की एक अद्भुत रहस्यपूर्ण प्रक्रिया का निर्देश किया गया है—

"अरिहाणथुत्तं" सार्थ

अरिहाण नमो पूयं अरहंताणं रहस्सरहियाणं।
पयओ परमेट्ठीणं अरुहंताणं धुयरयाणं॥ १ ॥

निद्दड्ढअट्ठकम्मिंधणाण वरनाण-दंसणधराणं।
मुत्ताण नमो सिद्धाणं परमपरमेट्ठिभूयाणं ॥ २ ॥

आयारधराण नमो पंचविहायारसुट्ठियाणं च।
नाणीणायरियाणं आयारुवएसयाण सया ॥ ३ ॥

बारसविहंगपुव्वं दिंत्ताणं सुयं नमो सुयहराणं।
सययमुवज्झायाणं सज्झायज्झाणजुत्ताणं ॥ ४ ॥

सव्वेसिं साहूणं नमो तिगुत्ताण सव्वलोए वि।
तव-नियम-नाण-दंसणजुत्ताणं बंभयारीणं ॥ ५ ॥

ऐसो परमेट्ठीणं पंचण्ह वि भावओ नमोक्कारो।
सव्वस्स कीरमाणो पावस्स पणासणो होइ ॥ ६ ॥

भुवणे वि मंगलाणं मणुयासुर-अमर-खयरमहियाणं।
सव्वेसिमिमो पढमो हवइ महामंगलं पढमं॥ ७ ॥

अनुवाद—पूजा के योग्य (अर्ह-अरिह) होने से "अरिहंत", जिनसे कोई वस्तु गुप्त नहीं होने से "अरहंत" (अथवा रहस्य अर्थात् अन्तराय कर्म उनसे रहित होने के कारण अरहंत) तथा जिन्होंने कर्म रूपी रज दूर की हुई होने से वे संसार में पुनः उत्पन्न होने वाले नहीं हैं अतः "अरुहंत" (प्रथम परमेष्ठि-पद प्राप्त) देवाधिदेव अरिहंत (अरहंत, अरुहंत) भगवानों को प्रणिधानपूर्वक नमस्कार हो॥१ ॥

आठ कर्मों रूपी ईंधन को (शुक्ल ध्यान से) सर्वथा जला देने वाले, श्रेष्ठ केवल ज्ञान एवं केवल-दर्शन के धारक (कृतकृत्य होने वाले), मोक्ष-पद प्राप्त (अपुनरावृत्ति से जो निर्वृत्तिपुरी में पहुँचे हैं, जो नित्य एवं अविनाशी हैं उन) परम-परमेष्ठि स्वरूप सिद्ध भगवानों को नमस्कार हो ॥ २ ॥

(गच्छ-नायक के रूप में) आचार के धारक, पंचविध आचार में सुस्थित (आचार का स्वयं आचरण करने वाले), नित्य आचार के उपदेशक (अर्थ के वाचक होने से) ज्ञानी आचार्य भगवानों को नमस्कार हो॥ ३ ॥

बारह प्रकार के अपूर्व-श्रुत का प्रदान करने वाले (अध्ययन कराने वाले), श्रुतधारक, तथा स्वाध्याय एवं ध्यान से सतत् युक्त उपाध्याय भगवानों को नमस्कार हो ॥ ४ ॥

तीन गुप्तियों के पालक, तप-नियम-ज्ञान एवं दर्शन से युक्त तथा ब्रह्मचारी (निर्वाण-साधक, आत्म-हितकर क्रिया करने वाले) लोक में विद्यमान समस्त साधु भगवंतों को नमस्कार हो॥ ५॥

पाँचों परमेष्ठियों को भावपूर्वक किया हुआ यह नमस्कार समस्त पापों को नाश करने वाला होता है॥ ६॥

इस लोक में भी मनुष्यों, दानवों, देवों एवं खेचरों द्वारा पूजित जितने मंगल है उन सबमें यह नमस्कार प्रथम है अतः यह प्रथम महामंगल है॥ ७॥

''नमस्कार-चक्र'' के प्रथम वलय में उपरोक्त पाँच परमेष्ठियों की स्थापना है और द्वितीय वलय में लोक में परम मंगल स्वरूप, लोकोत्तम तथा अनन्य शरणभूत अरिहन्त आदि चार की स्थापना हुई है।

चत्तारि मंगलं में हुंतुऽरहंता तहेव सिद्धा य।
साहु अ सव्वकालं धम्मो य तिलोयमंगल्लो ॥ ८॥
चत्तारि चेव ससुरासुरस्स लोगस्स उत्तमा हुंति।
अरहंत-सिद्ध-साहु धम्मो जिणदेसियमुयारो ॥ ९॥
चत्तारि वि अरहंते सिद्ध साहु तहेव धम्मं च।
संसारघोर-रक्खसभएण सरणं पवज्जामि ॥ १०॥

अनुवाद—अरिहंत, सिद्ध, साधु और तीनों लोकों में मंगल धर्म—ये चारों मुझे सब कालों में मंगलकारी बनें ॥ ८॥

अरिहन्त, सिद्ध, साधु तथा जिनेश्वरों द्वारा उपदिष्ट उदार धर्म—ये चार ही देवों तथा असुरों से युक्त लोक में उत्तम हैं॥ ९॥

संसार-रूपी भयानक राक्षस के भय से अरिहन्त सिद्ध साधु और धर्म—इन चारों की शरण अंगीकार करता हूँ ॥ १०॥

अह अरहओ भगवओ महइ महावीरवद्धमाणस्स।
पणयसुरेसरसेहरवियलियकुसुमच्चियकमस्स॥ ११॥
जस्स वरधम्मचक्कं दिणयरबिंव व भासुरच्छायं।
तेएण पज्जलंतं गच्छइ पुरओ जिणिंदस्स ॥ १२॥
आयासं पायालं सयलं महिमंडलं पयासंतं।
मिच्छत्तमोहतिमिरं हरेई तिण्हंपि लोयाणं ॥ १३॥
सयलम्मि वि जियलोए चिंतियमेत्तो करेई सत्ताणं।

रक्खं रक्खस-डाइणि-पिसाय-गह-जक्ख-भूयाणं ॥ १४ ॥

लहइ विवाए वाए ववहारे भावओ सरंतो य।
जुए रणे य रायंगणे य विजयं विसुद्धप्पा ॥ १५ ॥

पच्चुस-पओसेसुं सययं भव्वो जणो सुहज्झाणो।
एवं झाएमाणो मुक्खं पइ साहगो होइ ॥ १६ ॥

वेयाल-रुद्द-दाणव-नरिदं-कोहंडि-रेवईणं च।
सव्वेसिं सत्ताणं पुरिसो अपराजिओ होई ॥ १७ ॥

अनुवाद—सूर्य-बिम्ब तुल्य देदीप्यमान प्रभा युक्त, तेज से जाज्वल्यमान धर्म-वर-चक्र जिनके आगे-आगे चलता है और नमन करते इन्द्रों के मुकुटों से गिरे हुए पुष्पों के द्वारा जिनके चरण पूजित हैं ऐसे महान् महावीर अरिहंत भगवान को नमस्कार हो ॥ ११-१२ ॥

आकाश, पाताल तथा सम्पूर्ण पृथ्वी मंडल को प्रकाशित (ज्योतिर्मय) करता हुआ वह चक्र तीनों लोकों का मिथ्यात्व और मोह स्वरूप अंधकार दूर करता है॥ १३ ॥

इस प्रकार चिन्तन मात्र से "नमस्कार" राक्षस, डाकिनी, पिशाच, ग्रह, यक्ष एवं भूत-प्रेतों से समस्त जीव-लोक में प्राणियों की रक्षा करता है॥ १४ ॥

इस (मन्त्र) का भावपूर्वक स्मरण करने वाला विशुद्ध आत्मा विवाद में, वाद में, व्यवहार में, जुए में, संग्राम में एवं राजदरबार में भी विजय प्राप्त करता है॥ १५ ॥

इस (नमस्कार मन्त्र) का शुभ ध्यान करने वाला भव्य मानव प्रातः एवं सायं निरन्तर इस प्रकार ध्यान करते-करते मोक्ष का साधक बनता है। ॥ १६ ॥

इन पाँच नमस्कारों का ध्यान करने वाला पुरुष बेताल, रुद्र (दोनों रौद्र देवों) राक्षस, राजा कूष्मांडी एवं रेवती (दोनों रौद्र देवियों) तथा समस्त प्राणियों से अपराजित बनता है। (अर्थात् ये सब ध्यानी आत्मा को तनिक भी हानि नहीं पहुँचा सकते, उसके किसी कार्य में विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकते। ॥ १७ ॥

४. चौथे वलय में स्तंभन-विद्या की सूचक गाथा की स्थापना है—

थंभेइ जल जलणं चिंतियमित्तो वि पंच नमुक्कारो।
अरि-मारि-चोर-राउल-घोरुवसग्गं पणासेई ॥ १८ ॥

अनुवाद—यह पंच नमस्कार चिंतन मात्र से जल और अग्नि को रोकते हैं (स्तंभित कर देते हैं) तथा शत्रु, महामारी, चोर एवं राजकुल की ओर से होने वाले भयंकर उपद्रवों का नाश करते हैं।

५. पाँचवें वलय में "आत्म रक्षा" विद्या का स्थान है—

अट्ठेव य अट्ठसया अट्ठसहस्सं च अट्ठकोडीओ।
रक्खंतु मे सरीरं देवासुरपणिमिया सिद्धा ॥ १९ ॥

अनुवाद—देवों एवं असुरों द्वारा वन्दित तथा आठ, आठ सौ, आठ हजार अथवा आठ करोड़ जापों से सिद्ध आत्म-रक्षा विद्या मेरे देह की रक्षा[१] करे॥ १९ ॥

६. छठे वलय में "सिद्ध-विद्या" की स्थापना करने का निर्देश है—

ॐ नमो अरिहंताणं तिलोयपुज्जो य संथुओ भयवं।
अमर-नर-रायमहिओ अणाइनिहणो सिवं दिसउ ॥ २० ॥

अनुवाद—अरिहन्त को ॐकार पूर्वक नमस्कार हो। जो भगवान तीनों लोकों के लिए पूजनीय हैं, जिनकी सम्यक् प्रकार से स्तुति की गई है, जो इन्द्रों एवं राजाओं के द्वारा पूजे गये हैं और जो जन्म-मृत्यु से रहित हैं वे हमें मुक्ति प्रदान करें॥ २० ॥

७. सातवें वलय में मोक्ष-विद्या का आलेखन करने का निर्देश है—

तव-नियम-संजमरहो पंचनमोक्कारसारहिनिउत्तो।
नाणतुरंगजुत्तो नेइ पुरं परमनिव्वाणं ॥ २१ ॥

सुद्धप्पा सुद्धमणा पंचसु समिईसु संजुय तिगुत्ता।
जे तम्मि रहे लग्गा सिग्घं गच्छंति सिवलोयं ॥ २२ ॥

अनुवाद—जिसके पास तप, नियम एवं संयम रूपी रथ हैं जिसका पंच नमस्कार रूपी सारथि है और जिसमें ज्ञान रूपी अश्व जुड़े हुए हैं वह परम निर्वाणपुर-मोक्षपुरी में जाता है॥ २१ ॥

विशुद्ध मन वाला, 'ईर्या' आदि पाँचों समितियों से युक्त तथा मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति एवं काय-गुप्ति से गुप्त, इन्द्रियों का गोपन करने वाले शुद्ध आत्मा जो ऐसे विजयवंत रथ में बैठता है वह तुरन्त मोक्ष में जाता है॥ २२ ॥

८. आठवें वलय में "आयुध विद्या" की स्थापना करने का निर्देश है—

सव्वे पओसमच्छर आहियहियया पणासमुवयंति।
दुगुणीकयधणुसद्दं सोउं वि महाधणुं सहसा ॥ २३ ॥

अनुवाद—दुगुना किया गया "धणु" शब्द एवं "महाधणु" शब्द अर्थात् "ॐ धणु धणु महाधणु

---

१. "पंचनमस्कार चक्रोद्धार" विधि में "नमस्कार-चक्र" के पाँचवें वलय में "आत्म-रक्षा-विद्या" का आलेखन करने का विधान है।

महाधणु (स्वाहा)'' इस प्रकार की विद्या श्रवण करने वाले सब ईर्ष्यालु, द्वेषपूर्ण हृदय वाले शीघ्र नष्ट होते हैं॥ २३॥

''चक्रोद्धार-विधि''[१] में उपरोक्त आठ वलयों का आलेखन करने के बाद उनके आठों दिशाओं में सोलह पँखुड़ियों वाले एक कमल का चित्रण करके प्रत्येक पँखुड़ी में सोलह अक्षरों की स्थापना करने का निर्देश निम्नलिखित गाथा में है—

विज्जु व्व पज्जलंति सव्वेसु वि अक्खरेसु मत्ताओ।
पंचनमुक्कारपए इक्किके उवरिमा जाव ॥ २४॥

ससिधवलसलिलनिम्मल आयारसहं च वण्णियं बिन्दुं।
जोयणसयप्पमाणं जालासयसहसदिप्पंतं ॥ २५॥

अनुवाद—पंच-नमस्कार पद में समस्त अक्षरों में (''अँ रिँ हँ तँ सिँ द्धँ आँ यँ रिँ यँ उँ वँ ज्झाँ यँ साँ हूँ''—इन सोलह अक्षरों में) भी प्रत्येक अक्षर पर लगी मात्राएँ विद्युत के समान जाज्वल्यमान हैं और प्रत्येक अक्षर पर चन्द्रमा के समान उज्ज्वल, जल के समान निर्मल, हजारों आकार वाला, वर्णयुक्त, सैंकड़ों योजन प्रमाण, लाखों ज्वालाओं से दीप्त ''बिन्दु'' है।

सोलससु अक्खरेसु इक्किक्कं अक्खरं जगुज्जोयं।
भवसयसहस्समहणो जम्मि ठिओ पंचनवकारो ॥ २६॥

जो थुणति हु इक्कमणो भविओ भावेण पंचनवकारं।
सो गच्छइ सिवलोयं उज्जोयंतो दसदिसाओ ॥ २७॥

अनुवाद—सोलह अक्षरों में से प्रत्येक अक्षर जगत को प्रकाशित करने वाला है। और जिन अक्षरों में ये पंचनमस्कार स्थित हैं वे लाखों भवों (जन्म-मरण) का नाश करते हैं॥ २६॥

जो भव्य पुरुष एकाग्रचित्त से भावपूर्वक इन पंच नमस्कारों की स्तुति करता है वह अपने परम तेज से दसों दिशाओं को प्रकाशमय करता हुआ अवश्य ही शिव-मन्दिर में जाता है॥ २७॥

पंचमरमेष्ठि चक्र की महिमा

इय तिहुयणप्पमाणं सोलसपत्तं जलंतंदित्तसरं।
अट्ठार अट्ठवलयं पंचनमोक्कारचक्कमिणं ॥ २८॥

---

१. ''चक्रोद्धार-विधि'' में सोलह परमाक्षरों की स्थापना के उपरान्त, सोलह स्वरों, मंत्रों तथा बीज युक्त सोलह विद्या-देवियों के नामों एवं हँ हाँ हिँ हीँ हुँ हूँ हृँ हॄँ हॢँ हॣँ हेँ हैँ होँ हौँ हंँ हःँ—इन सोलह मंत्राक्षरों की स्थापना करने का भी विधान है।

अनुवाद—इस प्रकार सोलह पंखुड़ियों वाले, ज्वलंत एवं देदीप्यमान स्वरों से युक्त, आठ आरों एवं आठ वलयों वाले तथा त्रिभुवन में प्रमाणभूत अथवा त्रिलोक-प्रमाणयुक्त (अर्थात् चौदह राजलोकव्यापी) इस "पंचनमस्कार-चक्र" का ध्यान (चिन्तन) करना चाहिए॥ २८॥

सयलुज्जोइयभुवणं विद्दावियसेससत्तुसंघायं।
नासियमिच्छत्ततमं वियलियमोहं हततमोहं॥ २९॥

अनुवाद—इस (यन्त्र) का ध्यान समस्त भुवनों को प्रकाशमय करने वाला, समस्त रिपु-दल को भगाने वाला, मिथ्यात्व रूपी अंधकार का नाश करने वाला, मोह-नाशक एवं अज्ञान समूह का संहारक है॥ १९॥

नवकार (पंचपरमेष्ठियों) के अधिकारी एवं उसका फल

एयस्स य मज्झत्थो सम्मदिट्ठि विसुद्धचारित्तो।
नाणी पवयणभत्तो गुरुजणसुस्सूसणापरमो॥ ३०॥

जो पंच नमोक्कारं परमो पुरिसो पराइ भत्तीए।
परियत्तेइ पइदिणं पयओ सुद्धप्पओ अप्पा॥ ३१॥

अट्ठेव य अट्ठसयं अट्ठसहस्सं च[1] उभयकालं पि।
अट्ठेव य कोडीओ सो तइयभवे लहइ सिद्धिं॥ ३२॥

अनुवाद—जो उत्तम पुरुष मध्यस्थ, सम्यग्-दृष्टि, विशुद्ध चारित्रवान, ज्ञानी, प्रवचन-भक्त एवं गुरुजनों की शुश्रूषा में तत्पर हो, वह पराभक्ति एवं प्रणिधान-पूर्वक शुद्ध पदोच्चारण के साथ प्रतिदिन दोनों संध्याओं में इस पंच-नमस्कार का आठ बार, आठ सौ बार, आठ हजार बार (आठ लाख बार पाठान्तरानुसार) अथवा आठ करोड़ बार जाप करता है वह तीसरे भव में सिद्धि प्राप्त करता है॥ ३०, ३१, ३२॥

परमेष्ठि नमस्कार क्या है?

एसो परमो मंतो परमरहस्सं परंपरं तत्तं।
नाणं परमं नेयं सुद्धं झाणं परं झेयं॥ ३३॥

अनुवाद—यह पंचपरमेष्ठि-नमस्कार परम मन्त्र, परम रहस्य, परात्परतत्त्व, (अर्थात् पर से भी पर तत्त्व है) परम ज्ञान, परम ज्ञेय, शुद्ध ध्यान और सर्वोत्तम ध्येय है॥ ३३॥

---

१. पाठान्तर—अट्ठलक्खाइ।

विशेषार्थ—१. परम-मन्त्र—समस्त मन्त्रों में श्रेष्ठ मन्त्र होने के कारण नवकार "परम-मन्त्र" है।

२. परम रहस्य —समस्त आगम शास्त्रों का द्वादशांगी का सार इसमें समाविष्ट है अतः नवकार "परम रहस्य" है।

३. परात्पर-तत्त्व—देव-गुरु-धर्म रूप तत्त्वत्रयी, जीवादि तत्त्व, अरिहन्त आदि नौ पद और "ध्यान" "परमध्यान" आदि चौबीस प्रकार—ये परम तत्त्व हैं। ये सब नवकार में अन्तर्भूत होने से यह "पर से भी पर तत्त्व" हैं।

४. परम-ज्ञान—मति, श्रुत आदि पाँचों ज्ञानों के धारक परमेष्ठियों के स्मरण एवं ध्यान से ध्याता को पाँचों ज्ञान प्रकट होते हैं अतः नवकार "परम-ज्ञान" हैं तथा यह समस्त जिनागमों में व्यापक होने से "पंच-मंगल महाश्रुत-स्कंध" के रूप में प्रसिद्ध है।

५. परम-ज्ञेय—पाँचों परमेष्ठि भगवान विश्व के समस्त पदार्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ होने के कारण ये ही परम-ज्ञेय है, अतः पंच-परमेष्ठिमय नवकार "परम-ज्ञेय" है। परमेष्ठियों को यथार्थ रूप में जानने से विश्व के समस्त पदार्थों का सच्चा ज्ञान हो जाता है।

६. शुद्ध-ध्यान—नवकार "शुद्ध-ध्यान" है। सब प्रकार के ध्यानों में यह परम श्रेष्ठ ध्यान है। शेष समस्त ध्यानों के प्रकारों का "नवकार-ध्यान" में समावेश है, जिसे चौंतीसवीं गाथा में स्पष्ट किया गया है।

७. परम-ध्येय—नवकार के ध्येय के रूप में पंच-परमेष्ठि भगवान हैं जो समस्त ध्येयों में श्रेष्ठ होने के कारण नवकार परम-ध्येय है।

"सुद्धं झाणं परं ज्ञेयं"—यह पद "ध्यान" एवं "परम ध्यान" का सूचक है अर्थात् नमस्कार-आज्ञा-विचय आदि "धर्म-ध्यान" एवं "शुक्ल ध्यान" स्वरूप है।

शेष ध्यान-भेदों का निर्देश

एयं कवयमभेयं खाइमत्थं परा भवणरक्खा।
जोई सुन्नं बिंदुं नाओ तारा लवो मत्ता ॥ ३४॥

सोलसपरमक्खरबीयबिंदुगब्भो जगुत्तमो जोओ।
सुयबारसंगसायरमहत्थऽ-पूव्वत्थ-परमत्थो ॥ ३५॥

नासेइ चोर-सावय-विसहर-जल-जलण-बंधणसयाइं।
चिंतिज्जंतो रक्खस-रण-रायभयाइं भावेण ॥ ३६॥

अनुवाद — यह पंच-नमस्कार परम अभेद्य कवच, परम खतिका (खाई), परम अस्त्र, परम भवन रक्षा, (परम) ज्योति, (परम) शून्य, (परम) बिन्दु, (परम) नाद, (परम) तारा, (परम) लव और (परम) मात्रा है। (ज्योति आदि के साथ भी "परम" लगाने से) "परम ज्योति", "परम शून्य" आदि ध्यान भेद सूचित होते हैं।

(यह नवकार) सोलह परमाक्षर रूप "बीज" (अँ रिँ हँ तँ सिँ द्धँ आँ यँ रिँ यँ उँ वँ ज्झाँ यँ साँ हूँ) एवं सोलह परम बिन्दु हैं गर्भ में जिसके ऐसा लोकोत्तम (मन्त्राक्षरों का) योग है अथवा सोलह परमाक्षर रूप "बीज" एवं "बिन्दु" जिसके मध्य रहते हैं—ऐसा उत्तम योग है और द्वादशांगी रूप श्रुत-सागर का महार्थ, अपूर्वार्थ एवं परमार्थ है।

(उपरोक्त) भावपूर्वक स्मरण किया गया यह मन्त्र चोरों, हिंसक प्राणियों, विषधर साँपों, जल, अग्नि, बन्धन, राक्षस, युद्ध एवं राज्य के भयों को भगा देता है।

तात्पर्य—"अरिहाणथुत्तं" की चौंतीसवी गाथा में नवकार को अमोघ कवच, परम-खातिका, परम अस्त्र, परम भुवन-रक्षा, (यहाँ "परम भुवन" एवं "परम रक्षा" अर्थ भी किया जा सकता है) परम ज्योति, परम शून्य (ध्यान), परम बिन्दु, परम नाद, परम तारा, परम लव और परम मात्रा के रूप में जिस प्रकार कहा है, उसी तरह "लवो वि मत्ता" ऐसा पाठान्तर होने से "वि-अपि" शब्द से कला, लय, पद, सिद्धि तथा परम कला आदि ध्यान भी नवकार में अन्तर्भूत हैं ऐसा स्पष्ट उल्लेख है।

नवकार "अभेद्य कवच" आदि किस प्रकार है—इस पर संक्षेप में विचार करें।

(१) अभेद्य कवच—"नमस्कार-चक्र" का ध्यान अभेद्य है, किसी से भेदा-तोड़ा नहीं जा सके ऐसे "अभेद्य कवच" (बख्तर) के समान है। जिस प्रकार संग्राम-भूमि में लोहे के बख्तर वाले योद्धाओं को शत्रुओं के तीक्ष्ण शस्त्र भी भेद नहीं सकते, उसी प्रकार "नमस्कार चक्र" धारण करने वाले को तथा इसका ध्यान करने वाले को इसके अचिन्त्य प्रभाव के कारण पर शरीर पर किन्हीं बाह्य शस्त्रों अथवा मन पर अशुभ विकल्प रूप आन्तर-शस्त्रों (शत्रुओं) का प्रभाव नहीं होता।

(२) परम खातिका—नमस्कार का ध्यान "परम खातिका" है अर्थात् खदिर के अंगारों से पूर्ण गहरी खाई है जिसका उल्लंघन करके बाह्य अथवा अभ्यन्तर शत्रु साधक को तनिक भी विघ्न एवं पीड़ा नहीं कर सकते।

(३) परम अस्त्र—नमस्कार चक्रवर्ती के चक्र-रत्न की अपेक्षा तीक्ष्ण एवं तेजस्वी "चक्र" है। इसके बल से समस्त बाह्य एवं अन्तर शत्रुओं पर अवश्य विजय प्राप्त होती है। तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कराने वाला "सिद्ध-चक्र" है। नवपद स्वरूप "सिद्ध-चक्र" भी "नमस्कार-चक्र" में अन्तर्भूत है।

(४) परम परा : ''परा भवन रक्षा''—इन पदों को अलग करके ''परम परा'', ''परम भुवन'' एवं ''परम रक्षा'' ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है, जिसके अनुसार नवकार ''परम परा'' अर्थात् ''परम कला'' है।

''परा'', ''कला'' शब्द ''कुण्डलिनी'' के सूचक हैं अत: ''परम परा'' विशेषण ''नमस्कार चक्र'' के ध्यान में जागृत ''कुण्डलिनी'' का ध्यान (समाधि रूप) है—यह बताया गया है।

''नमस्कार-चक्र'' के यन्त्र में भी ''ह्रीं'' के साढ़े तीन फेरों (वलयों) का जो वेष्टन है सो अरिहन्त परमात्मा में शेष रहे अघाती-कर्मों की प्रकृति रूप साढ़े तीन कलाओं के ध्यान का सूचक है।

सांख्य-दर्शन में ''कुण्डलिनी'' को ''परा-शक्ति'' भी कहा गया है।

''शब्द-ब्रह्म'' की ''परा'' अवस्था जो अगोचर होती है उसे ''कुण्डलिनी'' समझें। ''परा'' ''कुण्डलिनी'' का पर्यायवाची नाम होने से उसके द्वारा ''कला'' एवं ''परम कला'' ध्यान का भी संकेत होना प्रतीत होता है।

''कुण्डलिनी'' का उत्थान षट्चक्र के भेदन से होता है। अत: उन चक्रों में नवकार का ध्यान करने की प्रक्रिया भी ''चहुविहझाणथुत्त'' में बताई गई है।

(५) परम भवन — प्रस्तुत गाथा में निर्दिष्ट ''ज्योति'' आदि ध्यानों के स्वरूप का ''ध्यान-विचार'' में विस्तृत वर्णन किया गया है। अत: ''ध्यान-विचार'' ग्रन्थ के साथ इस गाथा का सम्बन्ध होने से ''भवन'' शब्द का भावार्थ भी उक्त ग्रन्थ के आधार पर सोचने से अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

भवन-योग — ''परम मात्रा'' के बाईसवें वलय में छियानवें ''भवन योगों'' की स्थापना करने का विधान है।

यहाँ ''भवन-योग'' का अर्थ है बिना प्रयत्न के अर्थात् उपयोग या अन्य कोई विशेष प्रयत्न किए बिना सहज भाव से जो योग आदि उल्लिखित हों—मरुदेवा माता की तरह स्वत: ही ध्यान (समाधि) का अखण्ड धाराबद्ध प्रवाह चलने लगे सो ''भवनयोग'' है।

''नमस्कार-चक्र'' का ध्यान ''भवन-योग'' ध्यान स्वरूप भी है अर्थात् इसके ध्यान के प्रभाव से ध्याता के भावोल्लास में सहज रूप से वृद्धि होने पर जो विशिष्ट ध्यानों की विविध प्रक्रियाओं का उसे बोध न होते हुए भी, उक्त ध्यान उसे अनुभव-सिद्ध हो जाता है। अत: ''नवकार'', ''भवनयोग'' (ध्यान) स्वरूप है।

यह ''भवन योग'' ध्यान के चौबीसों भेदों में अनुस्यूत होने से नवकार भी ध्यान के समस्त भेदों में समाविष्ट है।

तीर्थंकर भगवान आदि परम ज्ञानी पुरुष जिस शून्य, ज्योति आदि का ध्यान उपयोग (सम्यग् ज्ञान)

पूर्वक करते हैं उन ध्यान के विविध प्रकारों की अनुभूति नवकार के ध्यान के द्वारा सहज रूप से हो सकती है। "भवन" शब्द के प्रयोग के द्वारा ग्रन्थकार महर्षि ने इसका यह रहस्य स्पष्ट किया है और उक्त रहस्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए ही नवकार "शुद्ध ध्यान" है, परम ध्येय है, परम ज्योति है, परम शून्य है—इत्यादि शब्दों का प्रयोग करके नवकार के परम रहस्यार्थ को स्पष्ट किया है।

(६) परम रक्षा—नवकार "परम रक्षा" है।

परमेष्ठि नमस्कार के नौ पदों का शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों पर "न्यास" करके "आत्म-रक्षा" करने की विधि प्रत्येक अनुष्ठान के प्रारम्भ में की जाती है। उक्त विधि के लिए "वज्र-पंजर" स्तोत्र जैन संघ में अत्यन्त प्रसिद्ध है, प्रचलित है।

उक्त स्तोत्र में ही "आत्मरक्षा" का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है कि परमेष्ठि-पदों के द्वारा निर्दिष्ट है और वह समस्त प्रकार के क्षुद्र उपद्रवों का तत्काल नाश करने वाली होने से अत्यन्त प्रभावशाली है। जो कोई आराधक विधिपूर्वक यह "आत्मरक्षा" करता है उसे कदापि भय, व्याधि अथवा आधि (मानसिक पीड़ा) नहीं सताती।

यह सारा प्रभाव नवकार में विद्यमान अनुपम "त्राण-शक्ति" के कारण ही है।

(७) ज्योति-परम-ज्योति – नवकार मन्त्र के सतत् ध्यान से रत्नत्रयी रूप "परम ज्योति" प्रकट होती है। अतः नवकार "ज्योति" एवं "परम ज्योति" स्वरूप है।

नवकार के अविरत ध्यानाभ्यास से जब मन विकल्प रहित (अत्यन्त शान्त) हो जाता है तब आत्मा की सहज शान्त ज्योति उद्भासित होती है और इसके प्रभाव से क्रमशः समाधि अवस्था में अधिक स्थिरता आने पर चिरस्थायी "परम ज्योति" का प्रादुर्भाव होता है।

(८) शून्य-परम-शून्य—नवकार "शून्य" एवं "परम शून्य" भी है।

इस मन्त्र के सतत् स्मरण एवं ध्यान से चित्त जब चिन्तन व्यापार से रहित बन जाता है, तब वह "शून्य-ध्यान" कहलाता है और जब चित्त की सर्वथा सूक्ष्म चिन्तन रहित अवस्था हो जाती है तब उसका ध्यान "परम शून्य" कोटि का माना जाता है।

नवकार के आलम्बन से चित्त की शून्य (निर्विकल्प) अवस्था सरलता से हो जाती है। इस कारण ही चौदह पूर्वधर भी जीवन के अन्त समय तक इसका ही आलम्बन ग्रहण करते हैं।

सिद्ध-मन्त्र नवकार के सम्पूर्ण प्रभाव का केवली भगवान भी पूर्णरूपेण वर्णन नहीं कर सकते। वर्णन करने की शक्ति होते हुए भी उक्त वर्णन करने जितनी आयु नहीं होने से चौरासी लाख पूर्व की आयु वाले भगवान भी इसका पूर्ण वर्णन नहीं कर सके।

ऐसे परम महिमामय एवं प्रभावशाली नवकार के अक्षरों में मन ज्यों-ज्यों तन्मय होता है, त्यों-

त्यों समस्त कर्म-मल धुल जाते हैं और समस्त प्रदेशों में आत्म-ज्योति का संचार होता है। अत: अनन्त उपकारी परमात्मा ने हर श्वास में इसका स्मरण करने का आदेश दिया है।

(९) बिन्दु-परम-बिन्दु — ''नमस्कार चक्र'' में अरिहन्त आदि सोलह परमाक्षरों का बीज-बिन्दु से युक्त ध्यान करने को कहा गया है अर्थात् ध्यान को बिन्दु-प्रमाण सूक्ष्म करने का निर्देश दिया है अत: ''बिन्दु'' का ध्यान भी नवकार में समाविष्ट है। साथ ही ''परम बिन्दु'' ध्यान में रही हुई गुण-श्रेणियाँ भी नवकार के ध्यान के द्वारा क्रमश: अवश्य प्राप्त होती हैं। इसीलिए नवकार ''परम-बिन्दु ध्यान'' स्वरूप है।

जो भी महात्मा सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और होने वाले हैं वे सभी पंच-परमेष्ठि भगवानों के ध्यान के सुप्रभाव से ही हुए हैं, हो रहे हैं और होने वाले हैं तथा सिद्ध होने के समय वे सभी सम्यक्त्व आदि गुण-श्रेणियों का स्पर्श-अनुभव करते हैं अर्थात् वे उत्तरोत्तर असंख्य गुनी अधिक कर्मनिर्जरा अवश्य करते हैं, तो ही घाती कर्मों का क्षय होने से केवल ज्ञान प्राप्त हो सकता है और अघाती कर्मों का नाश होने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

(१०) नाद-परम-नाद — परमेष्ठि नमस्कार के ध्यान से साधक में ''नाद'' एवं ''परम-नाद'' की उत्पत्ति भी अवश्य होती है।

जब नमस्कार का ध्यान क्रमश: सूक्ष्म होकर (पद-अक्षर) ''अर्हं'' के रूप में किया जाता है और फिर बिन्दु के रूप में उसका चिन्तन होता है तब एक बहुत सूक्ष्म ध्वनि उत्पन्न होती है जिसे ''नाद'' कहते हैं और ध्यान के निरन्तर अभ्यास के परिणामस्वरूप नाद की सूक्ष्मता होने पर ''परम नाद'' प्रकट होता है। जब नाद की परम शान्त भूमिका का अनुभव होता है तब साधक ध्यान-दशा में अत्यन्त लीन हो जाता है।

कहा भी गया है कि इस ''अर्हं'' का आश्रय लेकर ही अन्य दर्शनकारों ने साढ़े तीन मात्राओं वाली कला (कुण्डलिनी), नाद, बिन्दु एवं लय-योग आदि की प्रक्रिया बताई है।[१]

इससे स्पष्ट है कि ''कला'' एवं ''परम कला'' ''लय'' एवं ''परम लय'' ध्यान भी मन्त्राधिराज नवकार में अन्तर्भूत हैं।

(११) तारा-परम-तारा—''कायोत्सर्ग-मुद्रा'' में निश्चल दृष्टि से किया जाने वाला नमस्कार का ध्यान ''तारा ध्यान'' है और ''बारहवीं प्रतिमा'' में रात भर निर्निमेष दृष्टि से नमस्कार का ध्यान ''परम-तारा ध्यान'' कहलाता है।

---

१. **एतदेव समाश्रित्य कला ह्यर्धचतुर्थिका।**
नाद-बिन्दु-लयाश्चेति कीर्तिता: परवादिभि:॥ २१॥

– *नमस्कार स्वाध्याय* (संस्कृत विभाग-पृष्ठ २४)

इस प्रकार "तारा" एवं "परम-तारा" ध्यान का भी "नमस्कार ध्यान" में समावेश है। नवकार के अक्षरों का एकाग्रतापूर्वक अनिमेष दृष्टि से अवलोकन करना "तारा ध्यान" की पूर्व-भूमिका के अभ्यास के रूप में आवश्यक है।

(१२) लव-परम-लव—नवकार मन्त्र के ध्यान से पाप-अशुभ कर्म प्रकृतियों का नाश होता है। अत: "लव ध्यान" उसमें अन्तर्निहित है तथा नमस्कार के प्रभाव से क्रमश: उपशम-श्रेणी एवं क्षपक श्रेणी भी अवश्य प्राप्त होती है क्योंकि "परम लव ध्यान" भी उसमें समाविष्ट है।

(१३) मात्रा-परम-मात्रा—"नमस्कार-चक्र" की ध्यानविधि में समवसरण-स्थित वर्द्धमान स्वामी के ध्यान का विधान है, जो "मात्रा ध्यान" का सूचक है।[१] कहा गया है कि "ध्याता" को तीन गढ़ों से स्फुरित ज्योतिर्मय समवसरण के मध्य में आसीन, चौंसठ इन्द्रों के द्वारा जिनके चरण-कमल पूजे जाते हैं ऐसे और तीन छत्रों, पुष्प-वृष्टि, सिंहासन, चामर, अशोक-वृक्ष, दुंदुभि, दिव्य-ध्वनि एवं भामण्डल—इन आठ प्रतिहार्यों से विभूषित (अलंकृत), सिंह के लांछन से युक्त, स्वर्ण तुल्य कान्ति वाले श्री वर्द्धमान जिनेश्वर को हृदय में साक्षात देखना चाहिए।

इतना करने के पश्चात् साधक को चाहिए कि वह उनके भीतर अपने नेत्र एवं मन को पिरोकर "नवकार-मन्त्र" का एक सौ आठ बार जाप करें।

यह आराधना आराधक के लिए "मात्रा ध्यान" को सुगम बनाकर "परम-मात्रा ध्यान" के योग्य बनाती हैं अत: "मात्रा ध्यान" एवं "परम मात्रा ध्यान" भी नवकार में समाविष्ट है।

"परम मात्रा ध्यान" में निर्दिष्ट चौबीसों वलयों में मुख्यतया श्री अरिहन्त भगवान का उनकी आज्ञा, तीर्थ, चतुर्विध सम्यग् दृष्टि देव-देवियाँ आदि परिवार सहित चिन्तन करना होता है। अत: यह नमस्कार के प्रथम-पद से वाच्य परमेष्ठि अरिहन्त परमात्मा का ही ध्यान होने से नमस्कार के ध्यान के अन्तर्गत है एवं "परमाक्षर वलय" के सोलह अक्षर परमेष्ठि स्वरूप ही हैं।

इस प्रकार "परम-मात्रा ध्यान" में विशिष्ट एवं विस्तृत अर्थ-भावना के साथ परमेष्ठियों का ध्यान करने के बाद "पद ध्यान" में पाँच परमेष्ठि-पदों का ध्यान करना है और उस ध्यान को सूक्ष्म बनाने के लिए सोलह परमाक्षरों का बीज-बिन्दु-गर्भित ध्यान करना चाहिए।

इस प्रकार के सतत् अभ्यास के "पद-ध्यान" के द्वारा क्रमश: "परम पद", "सिद्धि" एवं "परम-सिद्धि" ध्यान का सामर्थ्य प्राप्त होता है।

इस तरह ध्यान के चौबीसों प्रकार का अन्तर्भाव पंच-परमेष्ठि-नमस्कार में हो चुका है। इस कारण

---

१. *लघु-नमस्कार-चक्र-स्तोत्र*, श्लोक १०९ से ११२

ही यह द्वादशांगी का महा अर्थ, अपूर्व, अर्थ एवं परम अर्थ है जिसका ग्रन्थकार महर्षि ने आगे चलकर उल्लेख किया है।

परमाक्षरों के ध्यान का रहस्य

सोलसपरमक्खरबीयबिंदुगब्भो जगुत्तमो जोओ।
सुयबारसंगसायरमहत्थऽपुव्वत्थ-परमत्थो॥

–*अरिहाणथुत्तं*, गाथा १३

अर्थ — इस "परमेष्ठि-नमस्कार" में विद्यमान सोलह परमाक्षर (अँ रिँ हँ तँ सिँ द्धँ आँ यँ रिँ यँ उँ वँ ज्झाँ यँ साँ हूँ) तथा बीज (हँ ह्राँ ह्रिँ ह्रौँ.... आदि) एवं बिन्दु (सोलह अक्षरों में प्रत्येक अक्षर पर एक-एक बिन्दु होता है) जगत् में सर्वोत्तम योग है सब प्रकार के मन्त्र-बीज इन परमाक्षरों में समाविष्ट हैं। अतः वह द्वादशांगी रूप विशाल श्रुत-सागर का महान् अर्थ है, अपूर्व अर्थ है तथा परम अर्थ है।

भावार्थ—कलिकाल-सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने स्व-रचित "**सिद्ध हेम व्याकरण**" के "शब्द महार्णव न्यास" में सोलह परमाक्षरों एवं "अर्हं" आदि बीजाक्षरों का अनुपम माहात्म्य इस प्रकार स्पष्ट किया है—

स्वरूप — "अर्हं" अक्षर है अर्थात् "बीज" है। "सिद्धचक्र" का (परमेष्ठि-नमस्कार-चक्र का) अर्हं आदि बीज है।

"सबीज" एवं "निर्बीज"—इस प्रकार दो तरह के तत्त्व होते हैं जिनमें "अर्हं", "सिद्धचक्र" रूप "सबीज" तत्त्व का "आदि बीज" है। "सबीज-तत्त्व" अक्षर रूप है, "निर्बीज-तत्त्व" अनक्षर रूप है।

"अक्षर" जो अपने स्वरूप से कदापि विचलित न हो। इसलिए "अक्षर" शब्द से तत्त्व-ध्येय के रूप में "ब्रह्म" अथवा "वर्ण" लेना होता है।

"अर्हं", "कूट-मन्त्र" है। "कूट-मन्त्र" में अनेक अक्षर होते हुए भी मन्त्र का तो एक ही अक्षर होता है, शेष अक्षर उस मन्त्र के परिवार स्वरूप होते हैं।

"अर्हं" में भी "ह" मन्त्राक्षर है शेष अक्षर, कला एवं बिन्दु उसका परिवार है। केवल मन्त्र कार्य-साधक नहीं हो सकता। बाह्य-परिवार स्वरूप मण्डल, मुद्रा आदि एवं आन्तर-परिवार स्वरूप नाद, बिन्दु एवं कला आदि हैं। इन दोनों परिकारों (परिवारों) से युक्त मन्त्र ही पूर्ण फलदायक होता है।

अभिधेय — "अर्हं" परमेश्वर-परमेष्ठि का वाचक है।

सकल राग-द्वेष, मोह आदि मल-कलंक से सर्वथा रहित, योग-क्षेम-कारक, शस्त्रों आदि से रहित

होने के कारण प्रसन्नता के पात्र, ज्योतिस्वरूप, देवाधिदेव, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी श्री अरिहन्त भगवान काल वाचक "अर्हं" पद है।

तात्पर्य — "अर्हं" सिद्धचक्र का "आदि बीज" है।

"सिद्धचक्र" सिद्धान्त में प्रसिद्ध चक्र विशेष का रूढ़ नाम है अथवा तो यही "अर्हं" का लोक-व्यापी समय में (समुद्घात के चौथे समय में लोक-व्यापी बने हुए) "कला-रहित ध्यान" करने वाले महात्मा चक्र के द्वारा सिद्ध होते हैं अतः "सिद्ध" कहा है। तत्पश्चात् विशेषण-समास करने से "सिद्धचक्र" बना अथवा इस चक्र में निहित परमाक्षरों—"अँ रिँ हँ तँ, सिँ द्धँ आँ यँ रिँ यँ, उँ वँ ज्झाँ यँ, साँ हूँ" के ध्यान से योग की ऋद्धियाँ प्राप्त होने पर "सिद्धि हो गई"—यह कहा जाता है, जिससे उक्त "चक्र" का "सिद्धत्व" स्पष्ट है।

उस "सिद्धचक्र" का यह "अर्हं" कार "प्रथम बीज" है। बीज में से फुनगी-अंकुर एवं फल उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार इस "अर्हं" कार रूप बीज के ध्यान से भी पुण्यानुबंधी-पुण्य, भक्ति एवं मुक्ति प्राप्त होती है। जिससे "अर्हं" भी बीज कहलाता है।

"अर्हँ" "आदि बीज" है जिसका तात्पर्य है कि ह्राँ ह्रीँ ह्रू ह्रौँ ह्रँ जो पाँच बीज हैं उन सबमें "ह्रँ" "प्रथम बीज" है।

"प्रथम" शब्द का अर्थ अग्रमण्य अथवा व्यापक मानना चाहिए। "अर्हँ" सर्व बीजमय होने से व्यापक है सो इस प्रकार नीचे रेफ तथा "आ-ई-ऊ-औ-अं-अः" युक्त वर्ण हों वे "बीज" होते हैं।

जैसे — ह् + र् + आ् + म् = ह्राँ

ह् + र् + ई + म् = ह्रीँ आदि।

इस प्रकार "अर्हं" में निहित "ह्रँ" बीज व्यापक है।

अन्य दर्शन शास्त्रों में प्रसिद्ध "त्रैलोक्य-विजया", "घंटार्गल", "स्वाधिष्ठान", "प्रत्यंगिरा" आदि चक्रों में भी यही "ह" कार (सपरिवार) मुख्य बीज के रूप में होता है, अथवा अ कार से क्ष कार तक के पचास वर्ण जो "सिद्धाक्षर" अथवा "सिद्ध-मातृका" कहलाते हैं उनका चक्र (समुदाय, वर्णमाला) सिद्धचक्र है जिसका यह "ह" कार ही "मुख्य बीज" है।

सकल द्वादशांग रूप आगमों का रहस्य ये सोलह परमाक्षर एवं "अर्हं" आदि बीज है। इनमें भी "अर्हं" आदि बीज होने से परम रहस्मय है।

इस "अर्हं" का ध्यान क्रमशः सूक्ष्म करते-करते "बिन्दु" पर्यन्त करना होता है।

"बिन्दु" नाद रूप है। "नादानुसन्धान" से "आत्मानुसन्धान" होता है अर्थात् आत्म-तत्त्व का

साक्षात्कार होता है जिसे ''अभेद प्रणिधान'' कहा जाता है।[१]

इस प्रकार अड़सठ अक्षरात्मक नवकार का संक्षेप सोलह अक्षरों में करके, उसका भी संक्षेप अर्हं में करके उसका ''संभेद'' एवं ''अभेद'' प्रणिधान किया जाता है।

अर्थात् प्रथम ''अर्हं'' अक्षर और तत्पश्चात् परम-ज्योति स्वरूप प्रथम परमेष्ठि अरिहन्त परमात्मा के साथ ध्याता का भी ध्यान रूपी ज्योति के द्वारा ''अभेद'' सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि देव रूप होकर देव का ध्यान करने से तात्त्विक नमस्कार बनता है और यही समग्र द्वादशांगी का महान् अर्थ, अपूर्व अर्थ एवं परमार्थ है।

''पद-ध्यान'' तथा ''पदस्थ-ध्यान''

पवित्र मन्त्राक्षरों आदि पदों का आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है उसे सिद्धान्तकार ''पदस्थ-ध्यान'' कहते हैं।

परमेष्ठि-पदों का ध्यान भी ''पदस्थ-ध्यान'' स्वरूप है।

''**योगशास्त्र**'' के आठवें प्रकाश में तथा अन्य ग्रन्थों में वर्णित परमेष्ठि-विद्या षोडशाक्षरी, षडाक्षरी, पंचाक्षरी विद्याओं एवं ''अर्हं'', ''ॐ'' आदि मन्त्रों की ध्यान-प्रक्रियाओं का अन्तर्भाव भी परमेष्ठि नमस्कार के ध्यान में निहित है।

''नमस्कार के ध्यान की सिद्धि होने से समस्त मन्त्र तथा विद्या भी अवश्य सिद्ध हो जाती है।''

कहा भी है कि—

''सर्वविद्या-स्मृतावादौ वाच्या पूर्णनमस्कृतिः''

-श्री सिंहतिलक सूरि-कृत, *सूरि-मन्त्र*

समस्त विद्याओं, मन्त्रों अथवा ध्यान आदि की स्मृति से पूर्व सर्वप्रथम सम्पूर्ण नवकार गिनना चाहिए।

ध्यान के जो चार प्रकार (१) पदस्थ, (२) पिण्डस्थ, (३) रूपस्थ, और (४) रूपातीत नामों से प्रसिद्ध हैं वे भी नमस्कार-महामन्त्र की सिद्धि होने से सिद्ध होते हैं। ''नमस्कार मन्त्र वाक्यस्थ'' रूप ''पदस्थ-ध्यान'' होने से सर्वप्रथम उसका ध्यान करके फिर ''पिण्डस्थ'' आदि ध्यान करने चाहिए।

---

१. ''अर्हं'' के ध्यान के द्वारा अभेद-प्रणिधान सिद्ध करने की विशिष्ट प्रक्रिया ''**योग-शास्त्र**'' के आठवें प्रकाश में बताई गई है। जिज्ञासुगण गुरुगम से वहाँ से समझ लें।

नमस्कार के ध्यान की विविध प्रक्रियाएँ

''**योगशास्त्र**'' के आठवें[१] प्रकाश में ''नमस्कार-महामन्त्र'' के ध्यान की प्रक्रिया का तथा उसके फल का निम्नलिखित वर्णन किया गया है—

आठ पँखुड़ियों वाले श्वेत कमल का चिन्तन करें। इसके मध्य में (कर्णिका में) सात अक्षरों युक्त प्रथम मन्त्र-पद ''नमो अरिहंताणं'' का चिन्तन करें। तत्पश्चात् सिद्ध आदि चार मन्त्र-पदों का क्रमशः चार दिशाओं की पँखुड़ियों में चिन्तन करें।

अर्थात् पूर्व दिशा की पँखुड़ी में ''नमोसिद्धाण'' पद का, दक्षिण दिशा में ''नमो आयरियाणं'' पद का, पश्चिम दिशा में ''नमो उवज्झायाणं'' पद का और उत्तर दिशा में ''नमो लोए सव्वसाहूणं'' पद का चिंतन करें।

तथा विदिशाओं की चार पंखुड़ियों में क्रमशः चूलिका के चार पदों का चिन्तन करें, जैसे कि ''ऐसो पंचनमुक्कारो'' अग्निकोण में, ''सव्वपावप्पणासणो'' नैऋत्य कोण में, ''मंगलाणंच सव्वेसि'' वायव्य कोण में और ''पढमं हवइ मंगलं'' पद की ईशान कोण में कल्पना करें।

इस प्रकार मन्त्राधिराज नवकार का ध्यान करें।

इसके अतिरिक्त पंच-परमेष्ठि के नामों में से उद्भूत षोडशाक्षरी, पंचाक्षरी, चतुराक्षरी आदि विद्याओं का स्मरण, चिन्तन, ध्यान करने को कहा गया है और इनके सामान्य तथा विशिष्ट फलों का निर्देश भी किया गया है।

''परमेष्ठि-विद्या-कल्प'' में यन्त्राकार में पंच-परमेष्ठियों के ध्यान की प्रक्रिया बताई गई है। ''चउविहझाण थुत्तं'' में भी परमेष्ठितत्त्व का ध्यान पिण्डस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत रूप में करने की अद्भुत रहस्यमय प्रक्रिया बताई गई है तथा मूलाधार आदि दस चक्रों के ध्यान के द्वारा कुण्डलिनी के उत्थान की प्रक्रिया भी जैन-शास्त्रों की दृष्टि से उसमें बताई गई है।

---

१. **तथा पुण्यतमं मन्त्रं, जगत् त्रितय-पावनम्।**
योगी पंचपरमेष्ठि-नमस्कारं विचिन्तयेत्॥ ३२॥
अष्टपत्रे सिताम्भोजे कर्णिकायां कृतस्थितम्।
आद्यं सप्ताक्षरं मन्त्रं पवित्रं चिन्तयेत्ततः॥ ३३॥
सिद्धादिकचतुष्कं च, दिक्पत्रेषु यथाक्रमम्।
चूलापादचतुष्कं च, विदिक्पत्रेषु चिन्तयेत्॥ ३४॥
—*योगशास्त्र,* प्रकाश-८

मन्त्र की दृष्टि से नवकार का महत्त्व

नवकारओ अन्नो सारो मंतो न अत्थि तिलोए।
तम्हा अणुदिणं चिय झायव्वो परम भत्तीए॥

अर्थ—तीनों लोकों में नवकार से अधिक सारभूत कोई मन्त्र नहीं है। अत: परम भक्तिपूर्वक प्रतिदिन इसका ध्यान करना चाहिए।

नवकार-मंत्र ''सर्व मन्त्र शिरोमणि महामन्त्र'' है, मन्त्राधिराज है जिसकी महिमा अपरम्पार है, शब्दातीत है कल्पनातीत है। ज्ञानी पुरुषों ने इसका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि ''यह मन्त्रराज समग्र घन-घाती कर्म-राशि को छिन्न-भिन्न करने के लिए प्रचण्ड वायु के समान है, भव-पर्वत को भेदने के लिए वज्र के समान है, अज्ञानान्धकार को हरने के लिए मध्याह्न के सूर्य के समान है, डूबते के लिए जहाज है और जीव के लिए माता-पिता, बन्धु, सखा, वैद्य आदि के समस्त गुण-धर्मों का धाम है। चराचर विश्व को जीवित रखने के लिए यह संजीवनी औषधि स्वरूप है।'' अधिक क्या कहा जाये? समस्त श्रेष्ठ उपमाओं से भी अनुपम अरिहन्तों के मन्त्रराज नवकार को अपना हृदय समर्पित करके समस्त जीव कल्याण प्राप्त करें।

नवकार मन्त्र की परम गुरुता

किसी पुरुष के तराजू के एक पलड़े में मन्त्राधिराज नवकार को रखा जाए और दूसरे पलड़े में अनन्त गुने करने तीन लोकों को रखा जाए तो भी जिसका पलड़ा अधिक भारी रहे, उस मन्त्राधिराज नवकार को तथा उसकी परम गुरुता को मैं नमस्कार करता हूँ।

नवकार की शाश्वत विद्यमानता

जो कोई सुषमा आदि अनन्त आरे तथा उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के रूप में काल-चक्र व्यतीत हुए हैं तथा होने वाले हैं उन सबमें भी मन्त्राधिराज-नवकार का अद्वितीय प्रभाव प्रख्यात एवं प्रकट था, है और रहेगा। इस परम मन्त्र का आलम्बन लेकर ही भव्य आत्मा मोक्ष में गये हैं, जा रहे हैं और जाएँगे।

पाँच महाविदेह-क्षेत्रों में एक सौ साठ उत्तम विजय है, जहाँ सदा सुखमय काल रहता है, वहाँ भी यह नवकार निरन्तर गिना जाता है तथा पाँच भरत एवं पाँच ऐरावत में भी शाश्वत सुख प्रदान करने वाले इस महामन्त्र का निरन्तर जाप किया जाता है।

एसो अणाइ कालो, अणाइ जीवो, अणाइ जिणधम्मो।
तइया वि ते पढंता एयं चिय जिण-नमुक्कारं॥

अर्थ – यह काल अनादि है जीव अनादि है जिन धर्म अनादि है तब से अर्थात् अनादि काल

से यह महामन्त्र-नवकार गिना जाता है अतः शाश्वत है।

इष्ट-सिद्धि—उठते-बैठते, चलते अथवा भूमि पर लोटते, जागते, सोते, हंसते, जंगल में भयभीत होते, घर में प्रविष्ट होते, बाहर निकलते अथवा कदम-कदम पर प्रत्येक कार्य करते हुए यावत् प्रत्येक साँस लेते अथवा छोड़ते हुए जो भव्यात्मा इस पंच-परमेष्ठि-मन्त्र का ही एकाग्रचित्त से स्मरण करता है उससे भला कौन से मनोरथ सिद्ध नहीं होते? अर्थात् समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं।

सर्व भय-निवारक—मन्त्राधिराज नवकार के स्मरण के प्रभाव से युद्ध सागर, गजेन्द्र, साँप, सिंह, दुष्ट, व्याधि, अग्नि, शत्रु अथवा बन्धन से उत्पन्न होने वाले भय तथा चोरों, ग्रहों, राक्षसों अथवा शकिनी आदि के भय भी नष्ट हो जाते हैं।

स्व-कर्तव्य के अहंकार से विमुक्त करके परम के सामर्थ्य में स्थिर करने वाले नमस्कार के इस प्रभाव को काल भी कुछ नहीं कर सकता।

विधिपूर्वक आराधना करने से तीर्थंकर-पद

जो श्रद्धावान् जितेन्द्रिय श्रावक अरिहन्त परमात्मा में ही एकाग्रचित्त होकर स्पष्ट रूप से मन्त्राक्षरों के शुद्ध उच्चारणपूर्वक भवभय-नाशक इस पंच-परमेष्ठि-मन्त्र की एक लाख सुगंधित श्वेत पुष्पों से विधियुक्त पूजा करके एक लाख जाप करता है वह विश्ववन्द्य तीर्थंकर देव बनता है।[१]

"एक लाख" शब्द संख्या-सूचक होने के उपरान्त "एक लक्ष्य" का भी सूचक है। जिसका प्रत्येक आराधक को ध्यान रखना चाहिए।

नवकार पंच-परमेष्ठि भगवानों की मन्त्रात्मक देह है

जिनेश्वर भगवान अपने निर्वाण के पश्चात् "हमारी अनुपस्थिति में जगत् के जीवों का क्या होगा?" इस प्रकार की भाव-करुणा से प्रेरित होकर तीनों लोकों के जीवों के उद्धार के लिए अपनी "मन्त्रात्मक देह" स्वरूप "नवकार" का उपहार दे गये हैं।

१. **यो लक्षं जिनबद्धलक्ष्यसुमनाः सुव्यक्तवर्णक्रमम्,**
श्रद्धावान् विजितेन्द्रियो भवहरं मन्त्र जपेच्छ्रावकः।
पुष्पैः श्वेतसुगन्धिभिश्च विधिना लक्षप्रमाणैर्जिनं,
यः संपूजयते स विश्वमहितः श्रीतीर्थराजो भवेत्॥

पतित-पावन नवकार

हिंसक, असत्य-भाषी, परधन हारी चोर, परदारागामी एवं अन्य क्रूर पापों में सदा लिप्त रहने वाला, संसार में निन्दनीय पुरुष भी यदि मृत्यु के समय इस मन्त्र का सतत् स्मरण करता है तो वह दुष्ट-कर्म जनित दुर्गति के द्वार बन्द करके देवलोक में जाता है।

"नवकार" जिन-शासन-रूप है।

"नवकार" (विनय-स्वरूप होने से) कल्याणकारी धर्म है।

"नवकार" (नाम-जिन रूप होने से) साक्षात् जिनेश्वर भगवान है।

"नवकार" (पंच-परमेष्ठि महाव्रतधारी होने से) व्रत एवं महाव्रत स्वरूप है।

"नवकार" सब प्रकार के उत्तम फल देने वाला परम दानवीर है। अधिक कहने से क्या। इस विश्व में ऐसा क्या है जो कि नवकार के अचिन्त्य प्रभाव से शुभ रूप नहीं बनता हो? अर्थात् इस विश्व में जो कोई शुभ तत्त्व हैं, वे सब इस नवकार के अत्युत्तम प्रभाव के कारण ही हैं।

आनन्दघन आत्मा के ही स्वभावभूत "नवकार" की अनन्य भाव से आराधना करने पर आराधक भी परमानन्दमय आत्मा का अभेद सिद्ध करके परमानन्द-पद प्राप्त करता है।

यन्त्र की दृष्टि से नवकार का महत्त्व

नमस्कार महामन्त्र का "यन्त्र" की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्व है।

प्रस्तुत स्तोत्र में यन्त्र के साथ श्री नवकार के पदों का दस चक्रों में विभिन्न प्रकार से ध्यान करने का विधान है तथा कुण्डलिनी-उत्थान एवं षट्चक्र-भेदन के सम्बन्ध में भी रहस्यमय वर्णन गर्भित रीति से है —

चउविहज्झाणथुत्तं

पिण्डत्थं च पयत्थं रूवत्थं रूववज्जियसरूवं।
तत्तं परमिट्ठिमयं गुरूवइट्ठं थुणिस्सामि ॥ १ ॥

ध्यान के चार प्रकार हैं—१. पिण्डस्थ, २. पदस्थ, ३. रूपस्थ और ४. रूपवर्जित, रूपातीत। परमेष्ठिमय तत्त्व अर्थात् "ऊँ नमः सिद्धम्" अथवा "नमो अरिहंताणं" आदि परमेष्ठिमय वर्णों (परमेष्ठि-वाचक अक्षरों) के द्वारा पिण्डस्थ आदि चार प्रकार का ध्यान किस प्रकार किया जा सकता है उसका वर्णन पूर्व के गुरुवर्यों ने जिस प्रकार किया है तदनुसार मैं करूँगा।

मूलाधार आदि १० चक्रों में परमेष्ठि पदों की ध्यान प्रक्रिया

(१) नमः सिद्धंतसमिद्धो चउदलियाहारचक्कि(क्क) मज्झठिओ।
पणवो परमिट्ठिमओ पणतत्तजुओ सुहं देउ॥ २॥

मूलाधार-चक्र के चार पत्र हैं, जो "नमः सिद्धं" अक्षरों से समृद्ध हैं तथा उनके मध्य में कर्णिका में परमेष्ठि-वाचक प्रणव ऊँकार है जो पाँच तत्त्वों से युक्त है अर्थात् पाँच परमेष्ठियों के नामों के पाँच आदि अक्षरों से युक्त है जिसका ध्यान ध्याता को सुख प्रदान करने वाला है।

गुदलिंगमध्ये आधारचक्रं प्रथमम्।

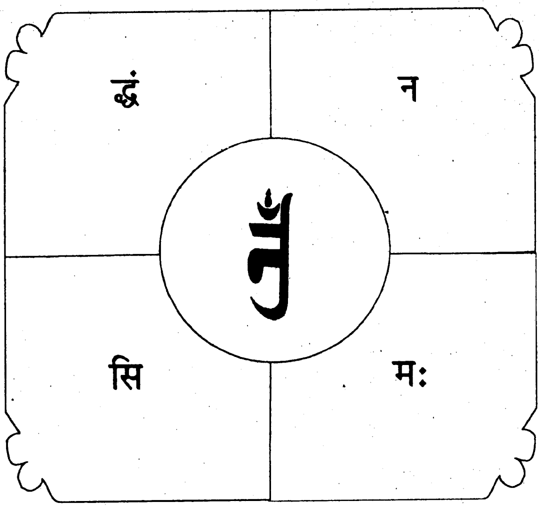

उपरोक्त चित्र के अनुसार मूलाधार चक्र में चार पंखुड़ियों वाले कमल की स्थापना करके "ॐ नमः सिद्धं" मन्त्र-पद का ध्यान करने से ध्याता को परम आत्मिक सुख की प्राप्ति अवश्य होती है।

(२) चक्के साहिट्ठाणे छक्कोणे मज्झठिओ पयाहिणओ।
सत्तसरमहमंतो झाइज्झंतो दुहं हरउ ॥ ३॥

षट्कोण आकृति वाले स्वाधिष्ठान-चक्र में मध्य से लेकर प्रदक्षिणाकार में ध्यान किया जाने वाला "णमो अरिहंताणं"-सप्ताक्षरी मन्त्र समस्त कष्ट-निवारक बनता है।

लिंगमूले स्वाधिष्ठान चक्रं द्वितीयम्।

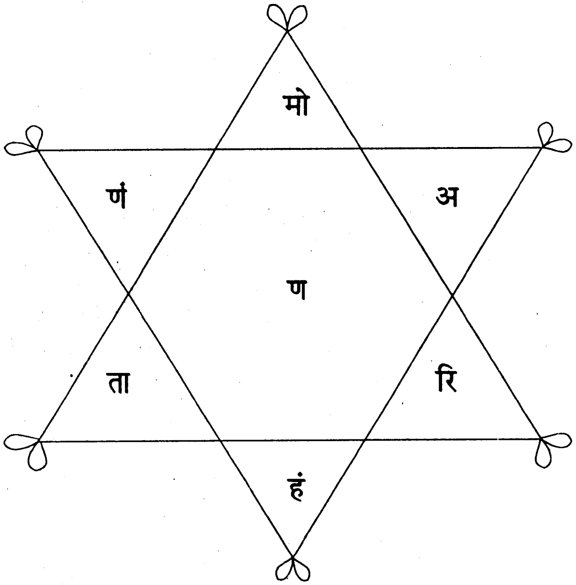

(३) मणिपूरचक्कि अडदलि मज्झदिसासु च पंचपरमिट्ठी।
विदिसासु नाण-दंसण-चारित्त-तवाइं झाएमि॥ ४॥

आठ पत्रों से युक्त "मणिपूर-चक्र" के मध्य में और दिशाओं में क्रमशः पाँच परमेष्ठियों का तथा विदिशाओं में ज्ञान, दर्शन, चरित्र एवं तप का मैं ध्यान करता हूँ।

नाभौ मणिपूरचक्रं तृतीयम्।

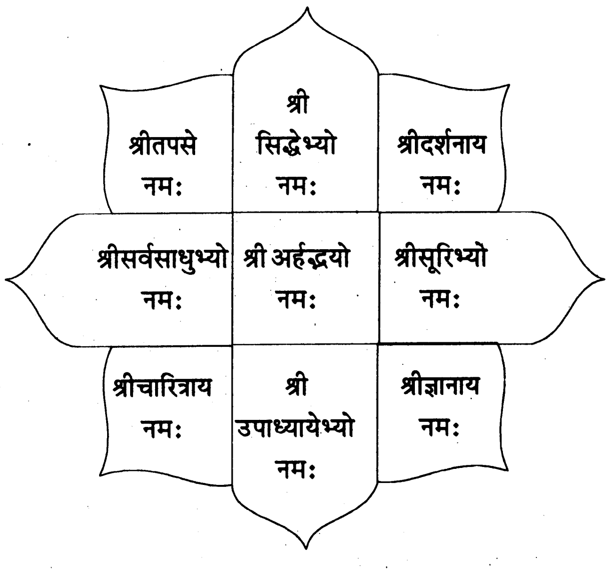

(४) सोलसरसोलसए महविज्जा विज्जदेविकलियदले।
चक्के अणाहयक्खे गोयमसामिं नमंसामि ॥५॥

"अनाहत-चक्र" सोलह पत्रों से युक्त है, जिसमें षोडशाक्षरी "अरिहंत-सिद्ध-आयरिय-उवज्झाय-साहू" महाविद्या है तथा सोलह स्वरों से सूचित, सोलह विद्या-देवियों से युक्त सोलह पत्र हैं। इसकी कर्णिका में "श्री गौतमस्वामिने नमः" है—ऐसा चिन्तन करें।

हृदये अनाहतचक्रं चतुर्थम्

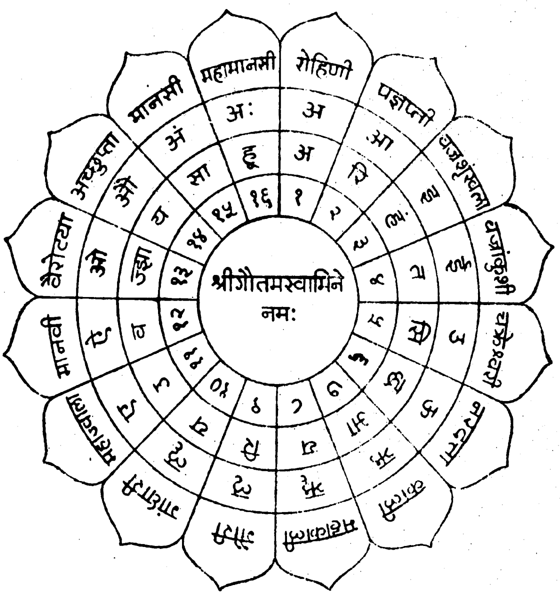

(५) चउवीसदेव-जिणजणणि-जक्ख-जक्खिणिपवित्तपत्तम्मि।
मुद्धे विसुद्धचक्के झाएमि सयावि जिणसत्तिं ॥६॥

विशुद्ध-चक्र जो कण्ठ में है, उसके चौबीस पत्र हैं। जिनमें चौबीस तीर्थंकर भगवान, चौबीस जिन-माताएँ, चौबीस यक्ष एवं चौबीस यक्षिणियाँ तथा कर्णिका में जिन-शक्ति अर्थात् "अर्हं नमः" है— इस प्रकार मैं ध्यान करता हूँ।

कण्डे विशुद्धिचक्रं पञ्चमम्।

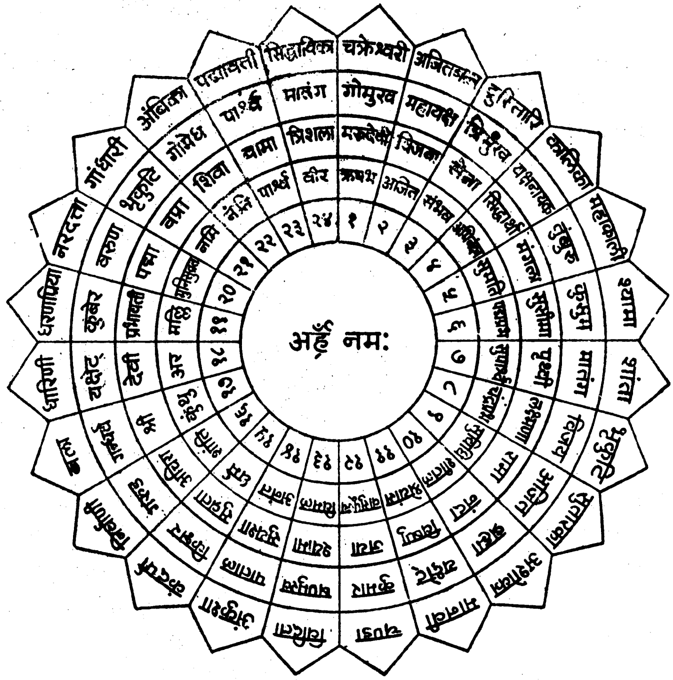

(६) बत्तीसदले ल (ल) णाचक्के बत्तीससुरवइसमिद्धा।
ह-रहियवंजणसिद्धा सरस्सई मह सुहं देउ ॥ ७॥

ललना-चक्र — जिसके बत्तीस पत्र हैं जो बत्तीस इन्द्रों से युक्त हैं और "ह" रहित बत्तीस व्यञ्जनों एवं "सरस्वत्यै नमः" मन्त्र से सिद्ध होती सरस्वती देवी मुझे सुख प्रदान करो।

घण्टिकायां ललनाचक्रं षष्ठम्।

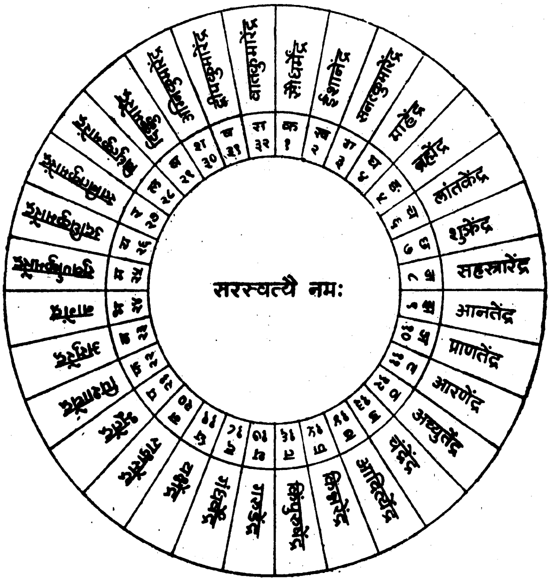

(७) ह-ल-क्षजुआ पणव-नमंतकलिआ य तिदलचक्कम्मि।
आणक्खे एगक्खर महविज्जा सयलसिद्धिकरी ॥८॥

आज्ञा-चक्र के तीन पत्र हैं। इसमें "ह", "ल", "क्ष" से युक्त एवं "ॐ नमः" से सुशोभित "ह्रीँ" कार रूप एकाक्षरी महाविद्या समस्त सिद्धियाँ प्रदान करने वाली हैं।

भ्रूमध्ये आज्ञाचक्रं सप्तमम्।

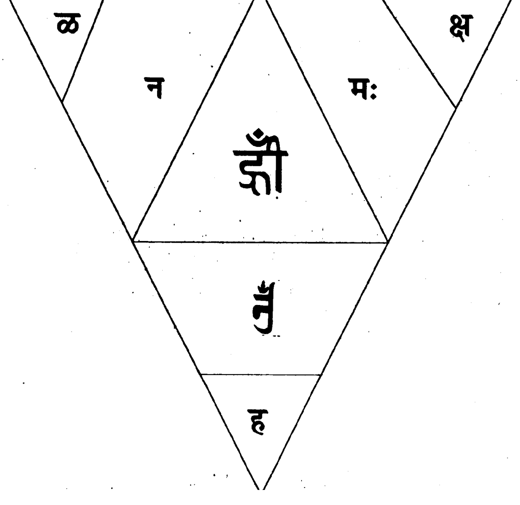

(८) अ सि आ उ सा नमंता सोमकलारूवसोमचक्कम्मि।
सोमसियवन्नझाणेण झाइआ हुंति सिवहेऊ ॥ ९॥

सोम-चक्र, जो सोम-कला (अर्द्धचन्द्रकृति) स्वरूप है, उसमें "अ सि आ उ सा नमः" मन्त्र का चन्द्र के समान श्वेत वर्ण के स्वरूप में ध्यान करने से वह शिवसुख प्रदान करता है।

मस्तके सोमकलाचक्रं अष्टमम्।

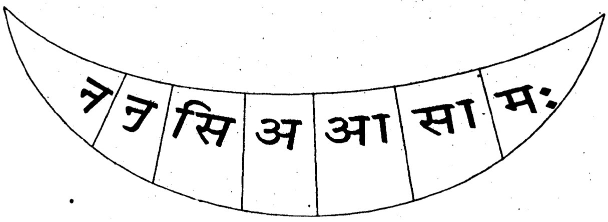

(९) चक्कम्मि बंभबिंदु त्ति नामए बंभनाडिसहभूए।
झाणापुरियपणवो भवियाणं कुणउ कल्लाणं ॥ १०॥

ब्रह्मबिन्दु-चक्र, जो ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी के साथ संयुक्त है। उसका प्रणव ऊँकार से परिपूर्ण किया गया ध्यान भव्य जीवों का कल्याण करता है।

ब्रह्मद्वारे ब्रह्मबिन्दुचक्रं नवमम्।

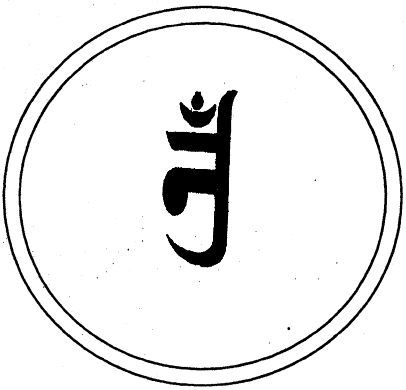

(१०) सिरिहंसनादचक्के हंस विशुद्धफलिहसंकासं।
जो पिक्खइ गलिअमणो तस्स वसे सयलसिद्धिओ ॥ ११॥

श्री हंसनाद-चक्र में गलित-शून्य-क्षणिवृत्ति वाला योगी अत्यन्त शुद्ध स्फटिकमणि तुल्य हंस-जीव को देखता है अर्थात् उसका ध्यान करता है। ऐसे योगी को समस्त सिद्धियाँ वशीभूत हो जाती हैं।

ब्रह्मद्वारोपरि हंसनादचक्रं दशमम्।

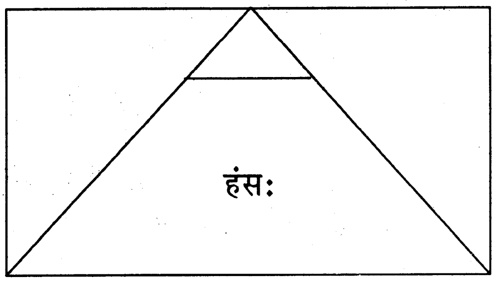

(११) चउव्विहझाणगयं परमिट्ठिमयपहाणतरतत्तं।
झायइ अणवरयं सो पावइ परमाणंदं॥ १२॥

इस प्रकार जो चतुर्विध ध्यानगत परमेष्ठिमय प्रधानतर तत्त्व का निरन्तर ध्यान करता है वह परमानन्द प्राप्त करता है।

इस स्तोत्र में उल्लिखित दस चक्रों का ध्यान देह-पिण्ड में ही भिन्न-भिन्न स्थानों पर होता है अत: वह पिण्डस्थ ध्यान रूप है तथा प्रत्येक चक्र में 'ॐकार, नमः सिद्धम्, नमो अरिहंताणं'' आदि पदों का ध्यान होने से वह ''पदस्थध्यान'' रूप है। वह यन्त्र की आकृति के द्वारा होता है अत: ''रूपस्थध्यान'' रूप भी है।

इन तीनों ध्यानों में ध्येय के रूप में स्थूल आलम्बन होने से इन्हें ''सालम्बन ध्यान'' भी कहा जाता है और इनके सतत् अभ्यास से सूक्ष्म आलम्बन रूप निरालम्बन-ध्यान की शक्ति उत्पन्न होती है। अत: कारण के रूप में इसे ''रूपातीत ध्यान'' भी कहा जा सकता है।

प्रथम नौ चक्रों में प्रदर्शित ध्यान ''सालम्बन ध्यान'' है। इसके अभ्यास से क्रमशः सिद्ध होने वाला दसवें हंसनाद-चक्र में निर्मल (शुद्ध) हंस (आत्मा) का ध्यान ''रूपातीत ध्यान'' है जिसको परमानन्द की प्राप्ति होती है।

एवं क्रमशोऽभ्यासावेशाद् ध्यानं भजेन्निरालम्बम्।
समरसभावं यातः परमानन्दं ततोऽनुभवेत्॥

–*योगशास्त्र*, प्रकाश १२ - श्लोक ५

इस प्रकार पिण्डस्थ आदि ''सालम्बन ध्यान'' के अभ्यास की तीव्रता-पराकाष्ठा होने पर ''निरालम्बन ध्यान'' करें और उससे परमात्मा के साथ समरसी-भाव (एकता) प्राप्त करके परमानन्द का अनुभव करें।

इस प्रकार स्पष्ट है कि "नमस्कार-महामन्त्र" के इन विविध बीजाक्षरों के चिन्तन से दस चक्रों का ध्यान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कुण्डलिनी-उत्थान की एक ध्यान-प्रक्रिया है।

धारणा, ध्यान एवं समाधि की एकता को "संयम" भी कहते हैं। प्रस्तुत प्रक्रिया में तीनों का ऐक्य सधता है।

पिण्डस्थ "धारणा" रूप हैं पदस्थ एवं रूपस्थ "ध्यान" रूप है और रूपातीत "समाधि" स्वरूप है।

२२. परम-पद ध्यान

मूलपाठ—परमपदं-पञ्चानां परमेष्ठिपदानामात्मनि न्यासः।

आत्मनस्तदध्यारोपेण परमेष्ठिरूपतया चिन्तनमित्यर्थः ॥ २२ ॥

अर्थ— पंचपरमेष्ठि पदों का आत्मा में न्यास करके अर्थात् आत्मा में उनका अध्यारोप करके, आत्मा का परमेष्ठि के रूप में चिन्तन करना "परम पद" ध्यान कहलाता है।

विवेचन— पदध्यान के सतत् अभ्यास से क्रमशः परम-पद ध्यान प्रकट होता है।

पदध्यान में ध्याता का ध्येय के साथ भेद होता है उसमें पाँच परमेष्ठियों की पूज्यता अनन्त गुणात्मक प्रभुता का सम्मानपूर्वक चिन्तन होता है और जिसके प्रभाव से ध्याता को भी अपनी आत्मा में विद्यमान परमात्म-शक्ति का श्रद्धा एवं ज्ञान प्रकट होता है।

"एगे आया"[१]—"आत्मा एक है।" "दलतया परमात्मा एव जीवात्मा"[२] द्रव्य के रूप में प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा ही है—अर्थात् शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से सर्व जीव शुद्ध है इत्यादि आगम वचनों का सम्यक् प्रकार से चिन्तन करके, निःशंक होकर परमेष्ठियों का अपने आत्मा में आरोपण करके स्व-आत्मा का परमेष्ठि के स्वरूप में ध्यान करना ही "परमपद" ध्यान है।

इस ध्यान में परमेष्ठि भगवानों के साथ अभेद का अनुभव किया जाता है। इसे "अभेद प्रणिधान" भी कहते हैं। इस अनुभव को योगशास्त्रों में "समापत्ति" कहते हैं।

"समापत्तिस्तदेकता"—ध्याता, ध्येय एवं ध्यान—इन तीनों की एकता "समापत्ति" है जो ध्यान का फल है।

यहाँ पद-ध्यान के फलस्वरूप "परमध्यान" प्राप्त होता है अतः वह "समापत्ति" स्वरूप है।

तात्विक नमस्कार —

सिद्धहेमशब्दानुशासन-बृहद्वृत्ति में भी प्रणिधान के इस तरह चार भेद बताये गये हैं—

१. पदस्थ, २. पिण्डस्थ, ३. रूपस्थ और ४. रूपातीत।

---

१. *ठाणांगसूत्र*, एकठाणं सूत्र-१.

२. *द्वात्रिंशतद्वात्रिंशिका*—योगावतारद्वात्रिंशिका, श्लोक २० वृत्ति

१. पदस्थ — ''अर्हं'' शब्दस्थस्य—''अर्हं'' आदि पद में निहित अरिहंत का ध्यान ''पदस्थ-प्रणिधान'' है।

२. पिण्डस्थ — ''शरीरस्थस्य''—शरीर-स्थित अरिहंत का ध्यान ''पिण्डस्थ-प्रणिधान'' है।

३. रूपस्थ — ''प्रतिमास्थस्य''—अरिहंत की प्रतिमा का ध्यान ''रूपस्थ-प्रणिधान'' है।

४. रूपातीत — ''योगिगम्यमर्हतो ध्यानम्''—अरिहंत भगवान के रूपातीत स्वरूप का ध्यान जो योगीगम्य है वह ''रूपातीत-प्रणिधान'' है।

इन चारों प्रणिधानों में से शास्त्र के आदि में प्रथम दो प्रणिधान-ध्यान सम्भव हैं परन्तु अन्तिम दो नहीं।

पदस्थ प्रणिधान—अनेन ''अर्हं'' बीजेन सह आत्मनः सर्वतः संभेद अर्थात् ''अर्हं'' पद के साथ सब तरह से ''संभेद-प्रणिधान'' होता है, जो भेद प्रणिधान रूप ''पदस्थ-प्रणिधान'' है।

पिण्डस्थ प्रणिधान — ''तदमिधेयेन'', ''अर्हं'' पद के अभिधेय केवलज्ञान आदि ज्योति स्वरूप प्रथम परमेष्ठि अरिहंत परमात्मा का आत्मा के साथ भेद-भाव किए बिना ध्यान करना चाहिए। देवो भूत्वा देवं भजेत् (ध्यायेत्) आत्मा स्वयं देव स्वरूप बनकर परमात्मा का बिना भेद-भाव के ध्यान करे उसे ''अभेद प्रणिधान'' कहते हैं। इसे ''पिण्डस्थ-प्रणिधान'' भी कहते हैं।

यह ''अभेद-प्रणिधान'' ही समस्त विघ्न-विनाशक एवं अखिल दृष्टादृष्ट संकल्पों-मनोरथों को पूर्ण करने में कल्पवृक्ष तुल्य होने से यह ''तात्विक-नमस्कार'' है।

नवकार-महामन्त्र के प्रथम पाँच पद ''पद-ध्यान'' अथवा ''परदस्थ-प्रणिधान'' स्वरूप हैं तथा चूलिका स्वरूप चारों पद ''परमपद ध्यान'' का फल सूचित करते हैं।

इन पाँचों परमेष्ठियों के साथ जब अभेद-भाव से ध्यान होता है, तब वह ''परम पद ध्यान'' कहलाता है। यही ''तात्विक-नमस्कार'' है और यह समस्त पापों का समूल उच्छेद करता है तथा समस्त मंगलकारी कार्य सिद्ध करता है।

इस प्रकार नवकार-महामन्त्र की चूलिका में ''परम पद ध्यान'' का फल के रूप में निर्देश करता है । अतः ''पदध्यान'' एवं ''परम-पद ध्यान'' सम्पूर्ण (अड़सठ अक्षरात्मक) नवकार महा-मन्त्र के ध्यान के स्वरूप में है अर्थात् नवकार में वो दोनों ध्यान एवं शेष बाईस ध्यान-भेद समाविष्ट हैं।[१]

''परम पद ध्यान'' नवकार के रहस्यार्थ का अनुभव कराता है।

---

१. देखें ''*अरिहाणथुत्त*''।

इस तरह समस्त प्रकार के ध्यानों का नवकार में समावेश होने से, "यह समग्र जिन-शासन का सार है"—इस शास्त्र-वचन की पुष्टि होती है।

"**उपमिति भव-प्रपंच कथा**" में कहा गया है कि समस्त द्वादशांग का सार ध्यान-योग है तथा शेष सर्व अनुष्ठान ध्यान-योग सिद्ध करने के लिए बताए गए हैं।[१]

नवकार का संक्षेप पाँच परमेष्ठियों में होता हैं। पाँच पद "अर्हं" में समाविष्ट है अतः पाँचों पदों का सार "अर्हं" है और इसका परमार्थ-बीज (ह) एवं बिन्दु है अर्थात् नवकार के ध्यान को अभ्यास के द्वारा क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर बनाकर बिन्दु तक करना चाहिए।

बीज-बिन्दु का ध्यान द्वादशांगी का महार्थ है, अपूर्व अर्थ है, परम अर्थ है। तत्वतः परमेष्ठि भगवानों के ध्यान द्वारा आत्मतत्त्व का ही ध्यान होता है।

इस प्रकार यह बात सुनिश्चित होती है कि "मन्त्राधिराज नवकार समग्र द्वादशांगी" का सार है।

२३. सिद्धि ध्यान

मूलपाठ —सिद्धि-द्रव्यतः लौकिकाणिमादिरष्टधा, लोकोत्तरा राग-द्वेषमाध्यस्थ्य-रूपपरमानन्दलक्षणा, भावतो मुक्तिपदप्राप्तजीवानां — "से न दीहे हस्से" इत्यादि।

(३१) अहवा कम्मे णव दरिसणम्मि इत्यादि॥ ३१ ॥ मीलने

(६२) द्वाषष्टिगुणचिन्तनम्॥ ३२ ॥

अर्थ — सिद्धि—"लौकिक सिद्धि"—लघिमा, वशिता, ईशित्व, प्राकाम्य, महिमा, अणिमा, यत्र कामावसायित्व तथा प्राप्ति—इस प्रकार आठ तरह की है।

राग एवं द्वेष में माध्यस्थ भाव-स्वरूप परमानन्द वह "लोकोत्तर सिद्धि" है।

मुक्ति-प्राप्त सिद्ध आत्माओं के (अदीर्घ, अह्रस्व इत्यादि) बासठ गुणों का ध्यान भाव से सिद्धि है।

विवेचन — "सिद्धि ध्यान" पूर्वोक्त ध्यान का फल है।

अणिमा आदि लौकिक सिद्धियाँ हैं। माध्यस्थ स्वरूप राग-द्वेष को जीतने की कला "लोकोत्तर सिद्धि" है। इस कला के दीर्घकालीन अभ्यास से भाव से सिद्धि-स्वरूप सिद्ध भगवानों के गुणों का ध्यान होता है।

---

१. *उपमिति भव प्रपंचकथा*, प्रस्ताव ८, श्लोक ७२४ से ७२६

सिद्ध भगवानों के गुणों का ध्यान रूपातीत होने से शुक्लध्यान है, जिसके द्वारा आत्मा का अनन्त सामर्थ्य प्रकट होता है।

राग-द्वेष के प्रसंगों में मध्यस्थता-स्वरूप लोकोत्तर सिद्धि अर्थात् समता भाव-सिद्धि है, जिसका सिद्ध भगवानों के अरूपी गुणों के ध्यान के कारण के रूप में वर्णन किया गया है। समता से शुक्लध्यान प्रकट होता है और शुक्ल-ध्यान द्वारा क्रमशः घाती कर्म क्षय होने पर केवल ज्ञान, केवल-दर्शन तथा यथाख्यात चारित्र स्वरूप पूर्ण सामायिक प्रकट होती है।

इस प्रकार ''सामायिक'' एवं ''ध्यान'' दोनों परस्पर एक-दूसरे के कारण हैं। अतः गर्भित रीति से ज्ञात होता है कि ''सिद्धि-ध्यान'' के अधिकारी लोकोत्तर समतावान मुनि हैं।

''सिद्धि ध्यान'' का रहस्य

सिद्धिपद-प्राप्त सिद्ध भगवानों को समस्त कर्मों का पूर्णतः क्षय हो जाने से समस्त गुणों का आविर्भाव हुआ है। सिद्ध आत्मा के एक-एक प्रदेश में अनन्त गुण प्रकट रूप से विद्यमान हैं, जिनमें से शास्त्रों में प्रसिद्ध इकतीस गुणों का वर्णन (दो तरह से) उपलब्ध है।

''आचारांग-सूत्र'' में निषेधात्मक शैली में निम्नलिखित इकतीस गुण वर्णित हैं—

सिद्ध भगवान (१) दीर्घ नहीं हैं या ह्रस्व नहीं हैं, (२) गोल नहीं हैं, (३) त्रिकोण नहीं हैं, (४) चतुष्कोण नहीं हैं, (५) परिमण्डलाकार नहीं हैं, (६) श्याम नहीं हैं, (७) नीले नहीं हैं, (८) लाल नहीं हैं, (९) पीले नहीं हैं, (१०) श्वेत नहीं हैं, (११) सुगन्धित नहीं हैं, (१२) दुर्गन्धयुक्त नहीं हैं, (१३) तिक्त नहीं हैं, (१४) कटु नहीं हैं, (१५) कसैले नहीं हैं, (१६) खट्टे नहीं हैं, (१७) मधुर नहीं हैं, (१८) कठोर नहीं हैं, (१९) मृदु नहीं हैं, (२०) भारी नहीं हैं, (२१) हल्के नहीं हैं, (२२) शीतल नहीं हैं, (२३) उष्ण नहीं हैं, (२४) स्निग्ध नहीं हैं, (२५) रूक्ष नहीं हैं, (२६) देहधारी नहीं हैं, (२७) जन्म धारण नहीं करते, (२८) अमूर्त होने से संग युक्त नहीं हैं, (२९) स्त्री नहीं हैं, (३०) पुरुष नहीं हैं, और (३१) नपुंसक नहीं हैं।[१]

इस तरह पाँचों प्रकार के संस्थानों से रहित होने के कारण सिद्ध भगवान निराकार हैं, पाँचों तरह के वर्णों से रहित होने के कारण अरूपी हैं एवं दोनों तरह की गन्ध नहीं होने से अगन्ध हैं, पाँचों प्रकार के रस नहीं होने से अरस हैं, आठों प्रकार के स्पर्श नहीं होने से अ-स्पर्श हैं, शरीर रहित

१. ''से न दीहे, न हस्से, न बट्टे, न तंसे, न चउरंसे, न परिमंडले, न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिद्दे, न सुकिल्ले, न सुरभिगंधे, न दुरभिगंधे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे, न कक्खड़े, न मउए, न गरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न निद्धे, न लुक्खे, न काए, न रूहे, न संगे, न इत्थी, न पूरिसे, न अन्नहा।'' –*आचारांग सूत्र,* सू० १७१-२

होने से अशरीरी हैं, जन्म नहीं होने से अजन्म हैं, अमूर्त होने से असंग हैं और तीनों वेदों से रहित होने के कारण अवेदी हैं।

दूसरी तरह से "आवश्यक वृत्ति" में इक्कीस गुणों का निम्नलिखित वर्णन है।[१]

पाँच ज्ञानावरणीय, नौ दर्शनावरणीय, दो वेदनीय, दो मोहनीय, चार आयुष्य, दो नाम, दो गोत्र और पाँच अन्तराय—इन आठों कर्म का क्षय होने पर इक्कीस गुण प्रकट होते हैं।

इस प्रकार विवक्षा-भेद से विभिन्न रीतियों से वर्णित सिद्ध भगवान के बासठ गुणों का ध्यान (चिन्तन) करने से अरूपी आदि तथा अनन्त ज्ञानादि आत्मा के निर्मल गुणों का ही ध्यान होता है।

इन बासठ गुणों में शेष समस्त गुणों का समावेश हो जाता है।

नंदी-सूत्र, **सिद्ध-प्राभृत** और **नव तत्त्व** आदि ग्रन्थों में वर्णित सिद्ध भगवान के स्वरूप का चिन्तन एवं भाव "सिद्धि-ध्यान" में सहायक होता है। गुरुगम से उन ग्रन्थों का अध्ययन करने से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि अनेक प्रकार से सिद्ध भगवान के स्वरूप का विशद एवं स्पष्ट बोध होता है।

प्रस्तुत ध्यान में उपयोगी सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का हम यहाँ संक्षेप में विचार करें।

सिद्ध परमात्मा का स्वरूप

"नवतत्व प्रकरण" में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का निम्नलिखित वर्णन है—

१. सत्-सिद्ध भगवानों का अस्तित्व सदा के लिए होता है आकाश-कुसुम की तरह किसी भी काल में उनका अभाव नहीं होता।

एक पद युक्त नाम विद्यमान वस्तुओं के वाचक होते हैं। "सिद्धि" भी एक पद युक्त नाम है अतः सिद्ध सदा विद्यमान होते हैं।

२. द्रव्य प्रमाण—द्रव्य की दृष्टि से सिद्धों की संख्या "अनन्त" है। एक सिद्ध परमात्मा की अवगाहना में भी दूसरे अनन्त सिद्ध रहे हुए हैं। उनकी अपेक्षा असंख्या गुने अधिक सिद्ध उनके देश तथा प्रदेश का स्पर्श करके विद्यमान है।

---

१. **अहवा कम्मे णव दरिसणम्मि चत्तारि आउए पंच।**
आइम अंते सेसे दो-दो खीणाभिलावेण इगतीसं॥

—*आवश्यक सूत्र-हारिभद्रीयाटीका*, पृष्ठ ६६३

३. क्षेत्र प्रमाण—सिद्ध भगवान लोक के असंख्यात भाग में विद्यमान है अर्थात् वे पैंतालीस लाख योजन प्रमाण निर्मल स्फटिक रत्न की शिला पर, लोक के अग्रभाग का स्पर्श करके अपनी चरम देह का अवगाहना के दो तृतीयांश भाग का आवगाहन करके विद्यमान है।

४. स्पर्शना—सिद्ध भगवानों की स्पर्शना भी लोक के असंख्य भाग में होती है परन्तु क्षेत्र की अपेक्षा स्पर्शना कुछ अधिक होती है।

५. काल—सिद्ध भगवान आदि अनन्त काल युक्त होते हैं अर्थात् सिद्ध अवस्था प्राप्त होने के पश्चात् वे अनन्त क्राल तक (सदा के लिए) उसी अवस्था में रहते हैं परन्तु उनका अन्य कोई स्थानान्तर अथवा अवस्थान्तर नहीं होता।

जीव को भिन्न-भिन्न स्थानों में अथवा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में ले जाने वाली कर्म-प्रकृति है। कर्म के योग से ही गति आगति होती है। कर्म का सर्वथा वियोग होने के पश्चात् पुनः कदापि संयोग नहीं होता। अतः सिद्ध सादि-अनन्त स्थिति में अक्षय-अनन्त-अव्याबाध सुखमय सहज शुद्ध स्वरूप की रमणता में लीन रहते हैं।

एक सिद्ध परमात्मा की अपेक्षा से उनका काल सादि अनन्त है परन्तु अनेक सिद्धों की अपेक्षा से अनादि अनन्त स्थिति होती है।

६. अन्तर—सिद्ध अवस्था शाश्वत-सनातन होने से उनको पुनः पतन अथवा अवस्थान्तर का अभाव होता है जिससे उनका "अन्तर" नहीं पड़ता।

७. भाग—सिद्धात्मा संख्या की दृष्टि से संसारी जीवों की अपेक्षा अनन्तवें भाग में है अर्थात् सिद्धों की अपेक्षा संसारी जीवों की संख्या अनन्त गुणा अधिक है। एक निगोद में भी अनन्त जीव होते हैं जिसके अनन्त भाग के जीव ही मोक्ष में जाते हैं।

८. भाव अर्थात् पर्याय—अवस्था सिद्ध भगवानों में क्षायिक एवं पारिणामिक दो भाव होते हैं। उन भावों (अवस्थाओं) में से वे कदापि विचलित नहीं होते।

क्षायिक भाव कर्मों के क्षय से प्रकट भाव क्षायिक भाव कहलाता है। सिद्ध भगवानों के समस्त कर्म का क्षय होने के कारण उनमें अक्षय ज्ञान, अक्षय दर्शन, अक्षय चारित्र एवं सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण क्षायिक भाव से विद्यमान होते हैं।

पारिणामिक भाव—समस्त सिद्ध भगवानों में "जीवत्व" पारिणामिक भाव में विद्यमान है।

९. अल्प बहुत्व—मोक्ष के अधिकारी पुरुष, स्त्रियाँ और नपुंसक होते हैं जिनमें सबसे अल्प संख्या में नपुंसक सिद्ध होते हैं। इनकी अपेक्षा संख्यात गुणी संख्या में स्त्रियाँ तथा इनसे भी संख्यात गुणी संख्या पुरुष सिद्ध होते हैं।

सिद्ध स्वरूप के ध्यान की एक प्रक्रिया

पूज्य हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज-कृत ''उपदेश पद'' की वृत्ति में सुदर्शन सेठ पर अभया रानी सानुकूल उपसर्ग करती है। उस समय अपनी प्रतिज्ञा का अखण्ड रूप से पालन हो और आया हुआ उपसर्ग विफल हो जाए उसके लिए वे सिद्ध परमात्मा के ध्यान में तन्मय हो जाते हैं—यह बताकर उनके द्वारा किये गये ध्यान का निम्नानुसार वर्णन किया है—

''सो सविसेसं पच्चक्खाण-ट्ठाणे मणं निरुंभित्ता सिद्ध सिलोवरि सरदिंदु-कुंद-संखुज्जलच्छाए अप्पाणं ठुवित्ता तद्देस समीववत्तिणो सिद्धे धुणियासेस-किलेसे निउणं परिचिंतउं लग्गो''।

अर्थ—सुदर्शन सेठ उस समय (जिस समय अभयारानी ने अनुकुल उपसर्ग क्रिया उस समय) अपने मन को विशेष स्थिरतापूर्वक प्रत्याख्यान (संयम) स्थान में पिरो करके शरद ऋतु के चन्द्रमा, मचकुन्द के पुष्प एवं शंख के समान उज्ज्वल कान्तिमय सिद्धशिला पर अपनी आत्मा को स्थापित करके, उस देश, स्थान के समीपवर्ती समस्त संक्लेशों से रहित सिद्ध भगवान के स्वरूप का निपुणता से ध्यान करने लगे।

इस प्रकार सिद्ध भगवान के ध्यान में लीन सुश्रावक सुदर्शन सेठ पर बाह्य वातावरण का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ सका।

ध्यान की सिद्धि का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इसके उपरान्त ''**नमस्कार-निर्युक्ति**'' में सिद्ध भगवान के स्वरूप का विस्तृत वर्णन है तथा ''**ज्ञानार्णव**'', ''**श्रीपाल कथा**'' आदि ग्रन्थों में भी सिद्ध भगवान के ध्यान का विवरण दिया गया है।

ध्यान आदि बाईस भेदों के निरन्तर अभ्यास से सिद्धि ध्यान सिद्ध होता है। इस ध्यान में सिद्ध भगवान के अरूपी गुणों का चिन्तन (ध्यान) होता है इसे ''रूपातीत ध्यान'' भी कहा जा सकता है।

''रूपातीत-ध्यान'' के अभ्यास-काल में शुक्ल ध्यान प्रारम्भ होता है जो केवल ज्ञान एवं मुक्ति का भी अनन्तर कारण है।

इस ध्यान के प्रभाव से अणिमा आदि आठ लौकिक सिद्धियाँ एवं परमानन्द का अनुभव कराने वाली परम समाधि रूप सिद्धि भी प्राप्त हो जाती है।

यह ध्यान वर्तमान जन्म में भी लौकिक एवं लोकोत्तर सिद्धि प्रदान करता है और परभव में शीघ्र सिद्धि-शाश्वत मुक्ति-सुख की निष्पत्ति करता है, अतः इस ध्यान का ''सिद्धि'' नाम सार्थक है।

२४. परमसिद्धि ध्यान

मूलपाठ—मुक्तगुणानामात्मन्यध्यारोपणम् ॥ २४॥

अर्थ—मुक्त (सिद्ध) परमात्मा के गुणों का अपने आत्मा में आरोप करना ''परमसिद्धि ध्यान'' कहलाता है।

विवेचन — "**सिद्धि-ध्यान**" में बताया गया है तदनुसार सिद्ध भगवान के गुणों का ध्यान जब दीर्घ काल तक निरन्तर होता है तब सिद्ध परमात्मा के समस्त गुणों का अपनी आत्मा में अभेद आरोप करके अपने आत्मा का भी सिद्ध रूप में ध्यान करने का सामर्थ्य प्रकट होता है। कहा भी गया है कि—"रूपातीत स्वभाव वाले केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन स्वरूप, परमानन्दमय सिद्ध भगवान का ध्यान करने से ध्याता भी अनन्त गुणमय सिद्ध भगवान बनता है।"

ध्याता का उपयोग जब सिद्ध परमात्मा के आकार रूप में परिणत होता है तब उपयोग से अभिन्न आत्मा भी सिद्ध कहलाती है।

संसारी आत्मा अनादि काल से देह आदि पर-पदार्थों के साथ एकता (अभेद) का अनुभव करता आया है परन्तु देह आदि से भिन्न एवं सत्ता में सिद्ध के समान आत्म-तत्त्व को नहीं समझ सका है। वास्तविकता तो यह है कि इस जीव ने देह के साथ एकता का प्रत्येक भव में अनुभव किया है। अत: वह (अभ्यस्त होने के कारण) उसे सुलभ है परन्तु देह से भिन्न सिद्ध सदृश आत्मा का अनुभव करने का अभ्यास कदापि नहीं होने के कारण उक्त भेद-ज्ञान उसे अत्यन्त दुर्लभ है, परन्तु प्रबल पुण्य से सद्गुरु का सुयोग होने पर जीव के दिव्य चक्षु खुलते हैं और अविद्या का अंधकार नष्ट होने पर स्व-आत्मा में ही परमात्मा के पवित्र दर्शन होते हैं। इस स्थिति के आत्म-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान एवं मुनित्व कहा जाता है।

इस प्रकार "परम-सिद्धि ध्यान" ध्यान की पराकाष्ठा बताता है, जो अप्रमत्त अवस्था में होने वाले "रूपातीत-ध्यान" का द्योतक है। उपशम-श्रेणी एवं क्षपक-श्रेणीगत ध्यानों में भी "परम सिद्धि ध्यान" अवश्य होता है।

"ज्ञानार्णव"[१] में भी सिद्धि एवं परम-सिद्धि ध्यान का निम्नलिखित वर्णन है—

अरिहन्त परमात्मा का सालम्बन ध्यान सिद्ध होने के पश्चात् त्रिलोकीनाथ, परमेश्वर सिद्ध परमात्मा का ध्यान प्रारम्भ करना चाहिए।

जो परमात्मा सयोगी केवली अवस्था में साकार थे, वे सिद्ध अवस्था में निराकार, अक्रिय, परमाक्षर, निर्विकल्प, निष्कलंक, निष्कम्प, नित्य एवं आनन्द के मन्दिर का स्वरूप धारण करते हैं।

जिनके ज्ञान में समस्त चराचर पदार्थ ज्ञेय के रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं, वे ही विश्व-स्वरूप हैं, जिनका अद्भुत अमूर्त्त स्वरूप मिथ्यादृष्टि जीवों के लिए अगम्य हैं, जो सदा उदय-स्वरूप है कृतार्थ एवं कल्याण-स्वरूप हैं, शान्त, निष्कल, अशरीरी एवं शोक-रहित हैं।

जो समस्त भव-संचित कर्म-क्लेश रूपी वृक्षों को भस्म करने में प्रचण्ड अग्नि के समान हैं, पूर्ण शुद्ध हैं, अत्यन्त निर्लेप हैं ज्ञान-साम्राज्य में प्रतिष्ठित हैं, विशुद्ध दर्पण में संक्रान्त प्रतिबिम्ब के सदृश अत्यन्त प्रभावशाली हैं जो ज्योतिर्मय, अनन्त वीर्ययुक्त, महा पराक्रमी एवं पुरातन हैं।

---

१. "ज्ञानार्णव", *सवीर्यध्यान वर्णन*-श्लोक २२ से ३८

तथा जो परम विशुद्ध अष्ट गुणों से युक्त हैं रागादि दोषों से सर्वथा रहित हैं, नीरोग हैं, अप्रमेय फिर भी भेद-ज्ञानी से ज्ञेय तथा विश्व के समस्त तत्त्व जिनमें व्यवस्थित हैं और जिनका स्वरूप बाह्य भावों से अग्राह्य फिर भी अन्तरंग भावों से ग्राह्य बन सकने योग्य हैं।

इस प्रकार का सहज आत्म-स्वरूप सिद्ध परमात्मा में प्रकट हैं। ऐसे निष्पन्न, अत्यन्त अव्याबाध सुखमय सिद्ध भगवान सम्पूर्ण विश्व के लिए वन्दनीय हैं।

जिनके अल्पकालीन ध्यान मात्र से भी भव्य जीवों की भव-व्याधि नष्ट हो जाती है।

वे त्रिलोक-स्वामी अविनाशी परमात्मा हैं, जिनका स्वरूप जान लेने से सम्पूर्ण विश्व के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है उन परमात्मा के स्वरूप के ज्ञान के बिना स्व-आत्मस्वरूप में स्थिरता प्राप्त नहीं होती। फलतः योगी पुरुष उनके शुद्ध स्वरूप का ज्ञान कर स्वयंसिद्ध स्वरूप का वरण करते हैं।

समस्त मुमुक्षुओं को अन्य सबकी शरण त्याग कर सिद्ध भगवान के स्वरूप में ही अन्तरात्मा को तन्मय कर निम्न प्रकार से ध्यान करना चाहिए —

"परम-सिद्धि ध्यान" में तन्मयता सिद्ध करने का उपाय

जो सिद्ध भगवान वाणी से अगोचर, अव्यक्त एवं शब्द-रहित हैं, जन्म-मृत्यु-रहित तथा भव-भ्रमण से मुक्त हैं, अतः मन को निर्विकल्प करके उनका ध्यान करना चाहिए।

जिनके केवल ज्ञान के अनन्तवें भाग में भी अनन्त द्रव्य पदार्थ से परिपूर्ण सम्पूर्ण लोक एवं आलोक ज्ञेय रूप में स्थिर हैं, जो तीनों लोकों के गुरु हैं। इस प्रकार सिद्ध-स्वरूप का स्थिरतापूर्वक चिन्तन करने वाला एवं उनके गुणों के स्मरण से प्रफुल्लित बना योगी सिद्ध-स्वरूप को सिद्ध करने के लिए आत्मा को आत्मा के द्वारा उसमें ही एकाकार करने का प्रयास करता है।

इस प्रकार बार-बार अभ्यास करने से भाव-सिद्ध का आलम्बन ग्रहण करने वाला योगी क्रमशः ग्राह्य-ग्राहक भाव से मुक्त होकर उसमें ही तन्मयता सिद्ध करता है अर्थात् इस आलम्बन ध्यान के सतत् अभ्यास के पश्चात् साधक जब तन्मय अवस्था प्राप्त करता है, तब परमात्मा "ग्राह्य" और मैं "ग्राहक" ऐसा भेदभाव नष्ट हो जाता है।

ऐसी अभेद की भूमिका में तन्मय साधक समस्त पदार्थों के विकल्प से रहित होकर परमात्म-स्वरूप में इतना लीन हो जाता है, जिससे "ध्याता" एवं "ध्यान" प्रत्यय का विलय होने पर मात्र "ध्येय" के साथ एकता की अनुभूति होती है।

परमात्म-स्वरूप में लीन होते ही उसी समय समता-रस का शीतल निर्झर प्रवाहित होने लगता है। इस भूमिका को "एकीकरण" भाव भी कहते हैं।

"**योगशास्त्र**" में "सिद्धि" एवं "परम सिद्धि" ध्यान का "रूपातीत-ध्यान" के रूप में उल्लेख करते हुए कहा गया है कि अमूर्त्त, चिदानन्द स्वरूप, निरंजन सिद्ध परमात्मा का ध्यान "रूपातीत-

ध्यान'' है।[१] निरन्तर सिद्ध परमात्मा का ध्यान करने वाला योगी उनके शुद्ध-स्वरूप के आलम्बन से ग्राह्य-ग्राहक भाव रहित तन्मयता प्राप्त करता है, अन्य सबकी शरण त्याग कर वह सिद्ध-स्वरूप में इतना तन्मय हो जाता है कि उसे ''ध्याता'' अथवा ''ध्यान'' की कोई भेद-रेखा न रहकर केवल ''ध्येयाकार'' की ही प्रतीति शेष रहती है, आत्मा परमात्मा में अभिन्न रूप से लीन हो जाती है।

इस शुद्धात्म-ध्यान के अधिकारी के सम्बन्ध में ''**धर्म परीक्षा**''[२] में निम्न उल्लेख उपलब्ध है।

जो मुनि गुरु की आज्ञा में स्थिर होकर, व्यवहार-कुशल बनकर, आवश्यक आदि क्रिया-योग की आराधना से शुद्ध चित्त-वृत्ति युक्त हो जाते हैं उन्हें निश्चय-नय के आलम्बन की भूमिका के समय शुद्धात्म-स्वभाव की परिणति प्रकट होने से अध्यात्म-ध्यान में भी एकाग्रता उल्लसित होने पर तन्मयता सिद्ध होती है।

शुद्ध अध्यात्म-ध्यान में तन्मयता सिद्ध होने से विषय कषाय आदि दोषों से रहित तथा विज्ञान एवं आनन्दमय अर्थात् स्वरूप प्रतिभास एवं प्रशम-सुख की एकरसता को प्राप्त, परिशुद्ध-स्वभाव से ही स्फटिक रत्न तुल्य निर्मल आत्म-स्वरूप की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है जिससे आत्मा में रत, तृप्त एवं सन्तुष्ट मुनि को स्व-आत्मा में ही प्रतिबन्ध एवं विश्रान्ति होने से उनके समस्त विकल्पों का शमन हो जाता है।

संक्षोभ-रहित (शान्त) समुद्र में वायु के अभाव में जिस प्रकार लहरें उत्पन्न नहीं होती उसी प्रकार आत्म-स्वरूप के साक्षात्कार के समय पौद्‌गलिक पदार्थों के ग्रहण-त्याग का अभाव होने से चित्त में किसी प्रकार के शुभ अथवा अशुभ विकल्प उत्पन्न नहीं होते।

''का अरतिः? को वा आनन्दः?'' आत्मा-प्राप्ति के क्षणों में ऐसे विकल्प भी नहीं होते, यह बात अध्यात्म शास्त्रों, आचारांगादि आगम-ग्रन्थों में भी वर्णित है।

आत्म-स्वरूप के साक्षात्कार अनुभव के समय सुख-दुःख के सूक्ष्म विकल्पों का भी अभाव होता है तो उनके साधन-भूत गृह, सम्पत्ति, स्वजनों आदि पुद्‌गल संसर्ग-जनित स्थूल विकल्पों को अवकाश कहाँ से मिले?

इस प्रकार की निर्विकल्प-दशा को ''शुद्धात्मानुभाव'' कहते हैं और वह धर्म-शुक्ल ध्यान का फल है। इसे चिदानन्द, निष्पंद अवस्था रूप निर्विकल्प समाधि भी कहते हैं।

ऐसी निर्विकल्प-समाधि उत्पन्न करने वाली शुद्ध विकल्प दशा का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—

---

१. **अमूर्तस्य चिदानंदरूपस्य परमात्मनः।**
निरञ्जनस्य सिद्धस्य ध्यानं स्याद्रूपवर्जितम्॥
—''*योगशास्त्र*'', प्रकाश १० श्लोक-१

२. ''*धर्म परीक्षा*''—रचयिता पू० उपा, यशोविजयजी महाराज, गाथा ९९ से १०३

"ये मन-वाणी-काया-धन गृह आदि सारे पौद्गलिक परिणाम मेरे आत्म-द्रव्य से एकान्ततः भिन्न हैं। तीनों कालों में ये पदार्थ उपयोग लक्षण युक्त नहीं होते और मैं ज्ञान उपयोग स्वभाव युक्त हूँ अतः पुद्गल-भाव से भिन्न एवं एक हूँ। अनादि काल से अन्य द्रव्यों के संसर्ग में आने पर भी मैं उनके स्वभाव को नहीं पाया तथा अनन्त पर्यायों का आविर्भाव एवं तिरोभाव सतत चलता रहने पर भी ऐसे शुद्धात्म द्रव्य के रूप में मैं एक अनन्त शक्तिमय आत्मा हूँ।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूपी रत्नत्रय स्वभाव-युक्त होते हुए भी मेरे शुद्धात्म-द्रव्य की एकता अखण्डित रहती है, अर्थात् प्रभा-निर्मलता एवं दोष-हारिणी शक्ति से युक्त जाति-रत्न की तरह मेरी एकता में क्षति नहीं होती।"

शुद्धात्म-द्रव्य-सम्बन्धी ऐसे शुभ विकल्प "अविकल्प समाधि" के जनक बनते हैं।

शुद्ध-विकल्पों के द्वारा उत्पन्न संस्कार अन्य विकल्पजन्य संस्कारों के विरोधी होने से उस प्रकार के विकल्पों को उत्पन्न होने नहीं देते अतः अन्य अशुभ विकल्पों को नष्ट कर ये शुद्ध-विकल्प स्वतः शान्त हो जाते हैं।

यह शुद्धात्म-ध्यान "अविकल्प-समाधि" को उत्पन्न करने वाला होने के कारण परम रहस्यमय है।

"एयं परमं नाणं परमो धम्मो इमोच्चिय पसिद्धो।
एयं परमं रहस्सं णिच्छयसुद्धं जिणाबिंति॥"

–*धर्म परीक्षा,* श्लोक १०४

यह आध्यात्म-ध्यान "परम ज्ञान" है क्योंकि ज्ञान का फल विरति है, विरति समता स्वरूप है और समता ध्यान के अधीन है।

आत्म-ध्यान के बिना समता प्रकट नहीं होती।

यह अध्यात्म-ध्यान प्रसिद्ध परम-धर्म है। दुर्गति में गिरने वाले जीव को धारण करके नियमा सद्गति एवं सिद्धि-गति में ले जाता है। जिनेश्वर भगवान भी इस ध्यान को निश्चय शुद्ध पारमार्थिक नय से विशुद्ध "परम रहस्य" कहते हैं।

इस सम्बन्ध में आगम-प्रमाण

परम रहस्समिसीणं समत्तगणिपिडगझारिअ सासणं।
परिणामियं पमाणं-णिच्छयभवलम्बमाणाणं॥

–*सम्मति-तर्क*

अध्यात्म-ध्यान के इस परम रहस्य को समझकर सुज्ञ मुमुक्षु आत्माओं को इसे जीवन में प्रधान बनाना चाहिए।

उपसंहार

इस तरह ध्यान के सारे भेद प्रभेदों को जानकर तत्वज्ञ योगी लक्ष्य के आलम्बन से अलक्ष्य का, स्थूल के आलम्बन के द्वारा सूक्ष्म का और सालम्बन ध्यान के द्वारा निरालम्बन ध्यान का सतत अभ्यास कर आत्म-तत्त्व की शीघ्रता से अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं तथा उस आत्म-ध्यान रूपी ध्यानामृत में मग्न बना हुआ साधक का मन जगत के समस्त तत्त्वों का साक्षात्कार कर आत्मा की परम शुद्धि के प्रकर्ष को प्राप्त करता है।

इस प्रकार ''ध्यान''-''परम-ध्यान'' आदि २४ भेदों का निरूपण और विवेचन करके उनमें बताये हुए चिन्ता-भावना, करणयोग-भवन योग आदि महत्त्वपूर्ण पदार्थों का विशद वर्णन शास्त्रकार महर्षि ने स्वयं किया है जो उत्तर विभाग में वर्णित है।

॥ पूर्व विभाग सम्पूर्ण ॥

—: उत्तर-विभाग :—

ध्यान-विचार

उत्तर विभाग

(सविवेचन)

ध्यान-परम-ध्यान आदि ध्यान-मार्ग के चौबीस भेदों का निरूपण एवं विवेचन करके, उनमें बताये हुए कतिपय आवश्यक पदार्थों—चिन्ता (चिन्तन), भावना, अनुप्रेक्षा भवनयोग एवं करणयोग आदि का वर्णन तथा उनके सम्बन्ध में कतिपय उपयोगी स्पष्टीकरण स्वयं ग्रन्थकार महर्षि ने दिए हैं जिनका विचार हम इस खण्ड में करेंगे।

ध्यान साधना में प्रवेश एवं प्रगति करने के इच्छुक साधकों को ध्यान के पूर्वाभ्यास के लिए ध्यान के लक्षणों में ही वर्णित चिन्ता एवं भावना जो क्रमशः श्रुतज्ञान एवं पंचाचार के पालन स्वरूप हैं, उनका जीवन में नियमित रूप से अभ्यास करना आवश्यक है।

चिन्ता (चिन्तन) का स्वरूप तथा उसके भेद

मूलपाठ—तत्र चिन्ता, भावनाऽनुप्रेक्षाव्यतिरिक्तं चल चित्तम् ।

सा च सप्तधा—

प्रथमा : तत्त्वचिन्ता-परमतत्त्वचिन्तारूपा। तत्राद्या जीवाऽजीवादिनां । द्वितीया-ध्यानादीनामेव २४ भेदानाम्॥ १॥

द्वितीया : मिथ्यात्व-सास्वादन-मिश्रदृष्टिगृहस्थरूपा। अत्रैतेषां स्वरूपं विपर्यस्तादिरूपं चिन्त्यम् ॥ २॥

तृतीया : चतुर्विधानाम्-क्रिया (१८०) अक्रिया (८४) अज्ञान (६७) विनय (३२) वादिनां (३६३) पाखण्डिनां स्वरूपचिन्ता ॥ ३॥

चतुर्थी : पार्श्वस्थादिस्वयुथ्यस्वरूप चिन्ता॥ ४॥

पंचमी : नारक-तिर्यङ्-नरामराणामविरतसम्यग्दृष्टिनां स्वरूपचिन्ता ॥ ५॥

षष्ठी : मनुष्याणां देशविरतसम्यग्दृष्टीनां स्वरूपचिन्ता॥ ६॥

सप्तमी : प्रमत्तादी, अयोगिपर्यन्तानां नवानां सर्वविरतानां सिद्धानां चानन्तर १५-परम्परगतभेदानां स्वरूपचिन्तनम् ॥ ७॥

अर्थ — भावना एवं अनुप्रेक्षा से भिन्न जो चल-चित्त हो उसे चिन्ता (चिन्तन) कहते हैं यह चिन्ता सात प्रकार की है—

(१) इनमें प्रथम प्रकार की चिन्ता के दो उपभेद हैं। (अ) तत्त्वचिन्ता और (ब) 'परमतत्त्वचिन्ता'। जीव-अजीव आदि ९ तत्त्वों[१] की चिन्ता करना 'तत्त्वचिन्ता है' और ध्यान आदि २४ भेदों[२] का चिन्तन करना परमतत्त्व चिन्ता है।

(२)मिथ्यात्व, सास्वादन तथा मिश्र दृष्टि गुणस्थानक में स्थित गृहस्थों के विपर्यस्त आदि[३] के स्वरूप का चिन्तन करना चिन्ता का दूसरा प्रकार है।

(३)१८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवादी तथा ३२ विनयवादी इस प्रकार ३६३ पाखंडियों[४] के स्वरूप का चिन्तन करना चिन्ता का तीसरा प्रकार है।

(४) पार्श्वस्थ (यासत्या)[५] आदि अपने युथ (वर्ग) के साधुओं के स्वरूप का चिन्तन चिन्ता का चौथा प्रकार है ।

(५) नारकी, तिर्यंच, मनुष्य एवं देवताओं में जो अविरत-सम्यगदृष्टि जीव हैं। उनके (निर्मल-श्रद्धा आदि गुणों के) स्वरूप का चिन्तन चिन्ता का पाँचवा प्रकार है।

(६) मनुष्यों में जो देशविरती सम्यगदृष्टि जीव हों उनके (अणुव्रत आदि गुणों के) स्वरूप का चिन्तन चिन्ता का छठा प्रकार है।

(७) छठे प्रमत्त गुणस्थानक से (प्रारम्भ करके) अयोगी केवली चौदहवें[६] गुणस्थानक तक के (नौ प्रकार के) सर्व विरतिधर मुनियों के तथा[७] पंद्रह प्रकार के अनन्तर सिद्ध एवं अनेक

---

१. जीव, अजीव आदि ९ तत्त्वों का स्वरूप देखें, आगे योग के आलम्बन विभाग में शक्तियोग के आलम्बन

२. चौबीस ध्यान आदि का संक्षिप्त स्वरूप—देखें ग्रन्थ परिचय।

३. मिथ्यात्व गुण स्थानक में तत्त्व का विपर्यास होता है। सास्वादन गुण-स्थानक में सम्यक्त्व का तनिक स्वाद होता है! मिश्र गुण-स्थानक में तत्त्व-अतत्त्व दोनों के प्रति उदासीनता होती है। इससे सम्बन्धित विशेष स्वरूप के लिये कर्मग्रन्थ आदि ग्रन्थों का अवलोकन-अवगाहन करें।

४. क्रियावादी आदि ३६३ पाखंडियों का विशेष स्वरूप जानने के लिये देखें *परिशिष्ट-४*

५. पासत्था आदि का स्वरूप—देखें *परिशिष्ट-५*

६. चौदह गुण स्थानों का स्वरूप—देखें *परिशिष्ट-६*

७. पन्द्रह प्रकार के अनन्तर सिद्धों के तथा अनेक प्रकार के परम्पर सिद्धों के भेदों का स्वरूप 'पन्नवणा' सूत्र में निम्नानुसार बताया गया है।

आत्मा जिस समय मोक्ष में जाती है। उस समय अनन्तर सिद्ध कहलाती है। तत्पश्चात् के समयों में यही आत्मा परम्पर-सिद्ध कहलाती है।

मुक्तात्माओं के दो भेद हैं।

(१) अनन्तर सिद्ध, (२) परम्पर सिद्ध अनन्तर सिद्धों के १५ भेद हैं। (१) तीर्थ सिद्ध, (२) अतीर्थसिद्ध, (३) तीर्थंकरसिद्ध, (४) अतीर्थंकर-सिद्ध, (५) स्वयंबुद्ध सिद्ध, (६) प्रत्येकबुद्ध सिद्ध, (७) बुद्ध बोधित

प्रकार के 'परम्पर सिद्धों[1] के स्वरूप का चिंतन करना चिन्ता का सातवाँ प्रकार है।

विवेचन—चिन्ता क्या है?

स्थिर अथवा अस्थिर चित्त से होने वाली शुभ चिन्तन प्रवृत्ति चिन्ता की सामान्य व्याख्या है और विशेषतया **"बृहत्-कल्प भाष्य"**[2] में चिन्ता के निम्नलिखित तीन भेद बताये गए हैं—

(१) चित्त की स्थिरतापूर्वक होने वाला चिन्तन ध्यानरूप चिन्ता।

(२) दो ध्यानों के मध्य-काल में होनेवाला चिन्तन् ध्यानान्तरिका रूप चिन्ता।

(३) फुटकर विचार-धाराएँ—जो ध्यान एवं ध्यानान्तरिका से भिन्न स्वरूप हैं सो विप्रकीर्ण रूप चिन्ता।

चिन्ता के इन तीनों प्रकार में से प्रस्तुत जिन सात प्रकार की चिन्ताओं का उल्लेख किया है, वे विप्रकीर्ण रूप चिन्ता हैं।

सात प्रकार की चिन्ता का स्वरूप

जीव-अजीव-पुण्य-पाप-आस्रव-संवर-निर्जरा-बंध-और मोक्ष—इन नौ तत्त्वों और ध्यान के

सिद्ध, (८) स्त्रीलिंग सिद्ध, (९) पुरुषलिंगसिद्ध, (१०) नपुंसकलिंगसिद्ध (११)स्वलिंगसिद्ध, (१२) अन्यलिंगसिद्ध, (१३) गृहिलिंगसिद्ध, (१४) एकसिद्ध, (१५)अनेक सिद्ध।

१. परम्परसिद्ध के अनेक प्रकार हैं—
अप्रथमसमय सिद्ध, द्विसमयसिद्ध, त्रिसमयसिद्ध, चतुःसमय सिद्ध इत्यादि यावत् संख्यातसमयसिद्ध, असंख्यातसमय-सिद्ध और अनंत समय-सिद्ध, —'*पन्नवणा सूत्र*' ७-८.

१. **झाणं नियमा चिंता, चिंता भइया उ तीसु ठाणेसु।**
झाणे तहंतरम्मि उ, तव्विवरीया व जा काइ॥ १६४१॥
वृत्ति—यद् मनः स्थैर्यरूपं तद् नियमात् चिन्ता। चिन्ता तु 'भक्ता' विकल्पिता त्रिषु स्थानेषु। तथाहि-कदाचिद् 'ध्याने' ध्यानविषया चिन्ता भवति यदा दृढाध्यवसायेन चिंतयति। "तदंतरम्मि उ" त्ति तस्य-ध्यानस्यान्तरं तदन्तरं तस्मिन् वा चिन्ता भवेत्, ध्यानान्तरिकायामित्यर्थः। "तद्विपरीता वा" या काचिद् ध्याने ध्यानान्तरिकाया वा नावतरति किन्तु विप्रकीर्णा चित्तचेष्टा साऽपि चिन्ता प्रत्तिपत्तव्या। अतो यदा दृढाध्यवसायेन चिन्तयति तदा चिन्ता-ध्यानयोरेकत्वम् अन्यथा पुनरन्यत्वम्।
—*बृहद् कल्पसूत्रः* भाष्य १, उद्देशक, पृष्ठ नं. ४८१

अर्थ—चिन्ता के तीन प्रकार हैं—
(१) कभी ध्यान के समय ध्यान-विषयक्त जो चिन्ता (चिन्तन) दृढ़ अध्वसाय-मन की स्थिरतापूर्वक होती है, वह ध्यानरूप चिन्ता है।
(२) ध्यान के पश्चात् (या पहले) जो चलित चित्त से चिंतन होता है। वह ध्यानान्तरिका रूप चिन्ता है।
(३) और इन दो चिन्ताओं से भिन्न जो फुटकर चिन्तन होते हैं वे विप्रकीर्ण रूप चिन्ता हैं।
साधक जब स्थिर-चित्त से चिन्तन करता है तब उस चिन्ता और ध्यान की एकता हो जाती है, अर्थात् वह चिन्ता ध्यान रूप हो जाती है। इसके अतिरिक्त की चिन्ता ध्यान से भिन्न है।

चौबीस भेदों के स्वरूप का चिंतन करना तत्त्वचिन्ता नाम का प्रथम प्रकार है।

जगत में विद्यमान जड़-चेतन पदार्थों, उनमें परिवर्तन, संसार एवं मोक्ष के साधक-बाधक कारणों आदि का विचार तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में निर्दिष्ट चौबीस ध्यानों के मार्ग-भेदों के स्वरूप का विचार इस प्रथम चिन्ता में समाविष्ट है।

परसमय — विश्व में प्रचलित भिन्न-भिन्न जो दर्शन एकान्त दृष्टिवाले तथा सर्वज्ञ-वचन से विपरीत हैं जैसे कि मिथ्यादृष्टि, सास्वादन अथवा मिश्र दृष्टि वाले जीवों के सम्बन्ध में और ३६३ पाखंडियों आदि की एकान्त विचारधाराओं का चिन्तन दूसरे और तीसरे प्रकार की चिन्ता में समाविष्ट है।

असत्य को असत्य रूप में समझकर, उसका परित्याग करने से जीवन में प्रविष्ट होने वाले दृष्टि-मोह आदि दोषों से बचा जाता है। अनेकान्तवादी के लिए यह अभिगम सुलभ है।

समानधर्मी कहलाने वाले 'पासत्था' आदि के स्वरूप का विचार करना चिन्ता का चौथा प्रकार है।

इस चिन्ता से साधु-जीवन में जिन दोषों का सेवन होता है उनका परित्याग किया जा सकता है।

पाँचवीं चिन्ता में सम्यग्दृष्टि, छठी चिन्ता में देशविरति और सातवीं चिन्ता में सर्व-विरतिधर साधु महात्मा, केवली भगवान और सिद्ध भगवान के स्वरूप का चिंतन करना होता है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि देवों, मनुष्यों आदि के शम, संवेग आदि गुणों का विचार करना और पंच-परमेष्ठि भगवानों के गुणों का चिन्तन करना क्रमशः पाँचवीं, छठी और सातवीं चिन्ता है।

इस प्रकार उत्तम व्यक्तियों के गुणों का अनुमोदन, सम्मानपूर्वक होने से चिन्तक में भी उस प्रकार के गुण प्रकट होते हैं। क्योंकि गुणराग गुणप्राप्ति का उत्तम मार्ग है।

पद, परम-पद, सिद्धि और परम-सिद्धि ध्यान में पंच-परमेष्ठियों को ध्येयरूप बनाकर उनका ध्यान करना है। परन्तु इन ध्यानों में प्रवेश एवं स्थिरता प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम उनके गुणों का सम्मानपूर्वक चिंतन होना चाहिए।

चित्त के तीन प्रकार

'ध्यानशतक' में भावना, अनुप्रेक्षा एवं चिन्ता-चित्त के तीन भेद (प्रकार) बताये गए हैं।

ध्यानाभ्यास की क्रिया भावना कहलाती है। ध्यान से विराम प्राप्त ध्याता के चित्त की चेष्टा जो अनित्यत्व आदि बारह भावनात्मक होती हैं, वह 'अनुप्रेक्षा' है और इन दोनों से भिन्न प्रकार की मन की चिन्तनात्मक प्रवृत्ति 'चिन्ता' है।

'बृहद्कल्प भाष्य' में तथा **ध्यान-शतक** में वर्णित व्याख्या से चिन्ता का स्वरूप स्पष्ट समझा जा सकता है कि जीव आदि तत्त्वों की विचारणाएं चिन्ता स्वरूप हैं।

उपरोक्त सात प्रकार की चिन्ताएँ श्रुतज्ञान स्वरूप होने से उनके द्वारा समस्त द्वादशांगी का गर्भित निर्देश साधक को प्राप्त होता है।

ध्यान करने से पूर्व ध्येय के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करने से चित्त ध्येय में स्थिर होता है। और इस स्थिरता की वृद्धि होने पर ध्यान प्रारम्भ होता है, ध्यान-साधना में साधक क्रमशः अग्रसर रहता है।

मैत्री आदि भावों से भावित हृदय वाले साधक की तत्त्व-चिंतन स्वरूप 'चिन्ता' अध्यात्म योग स्वरूप है। और उसकी बार-बार अभ्यास-स्वरूप भावना, 'भावना-योग' स्वरूप है। तथा इन दोनों के फलस्वरूप उत्पन्न ध्यान 'ध्यान योग' है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही निर्दिष्ट "चिन्ता एवं भावनापूर्वक का स्थिर अध्यवसाय ध्यान है" ध्यान के इस लक्षण से भी यह बात ज्ञात होती है कि ज्यों-ज्यों ध्येय का स्वरूप-चिन्तन सूक्ष्म-सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम होता जाता है, त्यों-त्यों ध्यान में वेग उत्पन्न करने वाला आत्मिक वीर्य (बल) पुष्ट होता जाता है और ज्यों-ज्यों आत्म-वीर्य पुष्ट होता जाता है, त्यों-त्यों ध्यान-योग में एकाग्रता, कर्म की निर्जरा और आत्म-विशुद्धि की वृद्धि होती जाती है।

किस चिन्ता एवं किस भावना विशेष से किस प्रकार के योग एवं वीर्य विशेष की पुष्टि होती है इसका स्पष्टीकरण आगे (भवनयोग आदि के विवेचन में) किया जायेगा।

भावना का स्वरूप और उसके भेद

मूलपाठ —भावना ध्यानमाह-आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥[१]

–*श्रीमद्भगवद्गीता*, अध्याय ६, श्लोक ३

आरुरुक्षोरभ्यासः ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्यभेदाच्चतुर्धा।

अर्थ — योग आरूढ़ होने की जिस मुनि की अभिलाषा हो उसके लिए 'निष्काम-कर्म' (योग की साधना ही) साधन है; परन्तु योगारूढ़ हुए मुनि के लिए सम ही मोक्ष का साधन है।

योग पर आरोहण करने के अभिलाषी साधक के अभ्यास, ज्ञान, दर्शन चारित्र और वैराग्य भावना के भेद से चार प्रकार के हैं।

---

१. तुलना—
आरुरुक्षुर्मुनिर्योगं श्रयेद् बाह्यक्रियामपि।
योगारूढः शमादेव शुद्धयत्यन्तर्गतक्रियः॥
–*ज्ञानसार*, शमाष्टक, श्लोक-३

मूलपाठ—(१) तत्र ज्ञानभावना-सूत्रार्थ तदुभयभेदात् त्रिधा-नाणे निच्चब्भासो इत्यादि।

(२) दर्शनभावना-आज्ञारूचि-तत्त्व (९) परम तत्त्व (२४) रूचि भेदात् त्रिधा-'संकाइ दोस रहिओ' इत्यादि॥

(३) चारित्र-भावना-सर्वविरत देशविरत-अविरत-भेदात् त्रिधा-णवकम्माणायणं इत्यादि। अविरतेप्यनन्तानुबन्धिक्षयोपशमादिजन्यउपशमादि-चारित्रांशोऽस्तीति॥

(४) वैराग्य भावना–अनादिभवभ्रमण चिन्तन-विषयवैमुख्य-शरीराशुचिता-चिन्तन भेदात् त्रिधा-सुविइयजगस्सभावो इत्यादि॥

(१) ज्ञान-भावना — भावना के चार भेदों के प्रथम ज्ञान भावना के सूत्र-अर्थ और तदुभय तीन भेद हैं। ज्ञानभावना के विशेष स्वरूप का '**ध्यान-शतक**' में निम्न उल्लेख है—

नाणे निच्चब्भासो, कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च।
नाणे-गुण-मुणियसारो तो झाइ सुनिच्चलमइयो ॥ ३१ ॥

अर्थ — श्रुतज्ञान का नित्य अध्ययन करना, मन के अशुद्ध व्यापार का निरोध कर मन को स्थिर करना, सूत्र एवं अर्थ के ज्ञान को विशुद्धि करना, च शब्द से भव-निर्वेद विकसित करना, और ज्ञान द्वारा उन जीव आदि तत्त्वों के गुण-पर्याय का सार-परमार्थ जिसने जान लिया हो ऐसे साधक को सुस्थिर मतिमान बनकर ध्यान करना चाहिए।

(२) दर्शन-भावना — आज्ञा-रुचि, नवतत्त्वरुचि और २८ परम तत्त्वों की रुचि (अर्थात् ध्यान के २४ भेदों की रुचि) इस प्रकार तीन प्रकार की हैं।

'**ध्यान-शतक**' में दर्शन भावना का निम्नानुसार स्वरूप है—

संकाइदोसरहिओ पसम-थेज्जाइगुणगणोवेओ।
होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीए झाणम्मि॥ ३२॥

अर्थ — शंका आदि दोषों से रहित एवं प्रशम-स्थिरता आदि गुण युक्त पुण्यात्मा सम्यग्दर्शन की शुद्धि के कारण ध्यान-साधना में संमोह अर्थात् भ्रान्ति रहित स्थिर चित्त वाला बनता है।

(३) चारित्र-भावना — यह तीन प्रकार की होती है। (१) सर्वविरत, (२) देशविरत और (३) अविरति।

'**ध्यान शतक**' में चारित्र-भावना का निम्नलिखित स्वरूप है—

णवकम्माणायाणं पोराणविणिज्जरं सुभायाणं।
चरित्तभावणाए झाणमयत्तेण य समेइ ॥ ३३॥

अर्थ — चारित्र भावना से भावित आत्मा नये कर्म ग्रहण नहीं करती, पूर्व कर्मों का क्षय करती है, शुभ को ग्रहण करती है और ध्यान को सरलता से प्राप्त करती है।

(४) वैराग्य-भावना — यह तीन प्रकार की है—अनादि भव-भ्रमण का चिन्तन, विषयों की विमुखता और देह की अशुचिता का चिन्तन।

'**ध्यान-शतक**' में वैराग्य भावना का निम्नानुसार स्वरूप है—

सुविदिय जगस्सभावो निस्संगो निब्भओ निरासो च।
वैरग्गभावियमणो झाणम्मि सुनिच्चलो होइ॥ ३४॥

अर्थ — जो जगत् के स्वभाव से सुपरिचित हो चुका है, जो निःसंग, निर्भय एवं आशंसा-रहित है ऐसा वैराग्य भावित साधक ध्यान में अत्यन्त निश्चल बनता है।

शुद्ध आत्म-ध्यान में रमणता साधने में उक्त योग्यताओं का प्रधान योगदान है, जिसके प्रताप से जीव शिव-पद गामी बनने की दिशा में अग्रसर होता है।

विवेचन — ध्यान से पूर्व भावना अवश्य होती है।

भावना के बिना ध्यान की वास्तविक भूमिका प्रारम्भ नहीं होती।

भावना ध्यान का प्रधान कारण होने से "भावना ध्यानमाह"—पंक्ति के द्वारा ग्रन्थकार ने भावना को भी ध्यान-स्वरूप बताया है।

'**सूत्रकृतांग-सूत्र**' में भावना को योग के रूप में बताया गया है—

भावणा जोग सुद्धप्पा जले नावा य आहिया।
नावा व तीरसंपन्ना सव्व दुक्खाणि तिउट्टइ॥

"भावना-योग से शुद्ध आत्मा जल में जहाज के समान कहा गया है। जिस प्रकार जहाज (अथाह जल पार कर) तट पर पहुँचता है, उस प्रकार ऐसी शुद्ध आत्मा (भवसागर पार करके) समस्त दुःखों का अन्त करती है।"

कलिकाल-सर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्यजी महाराज अपने योगशास्त्र में और श्री शुभचंद्राचार्यजी महाराज अपने 'ज्ञानार्णव' में भावना को निर्ममत्व साधक एवं आत्म-शुद्धि-कारक कहते हैं, उसे समझें—

'साम्यं स्यान्निर्ममत्वेन तत्कृते भावनाः श्रयेत्'। (*योगशास्त्र*)

सम-भाव निर्ममत्व से आता है और निर्ममत्व सिद्ध करने के लिए भावनाओं का आश्रय लेना चाहिए।

"चिनु चित्ते भृशं भव्य! भावना भावशुद्धये।
यः सिद्धान्त-महातन्त्रे देवदेवैः प्रतिष्ठिताः ॥५॥ (*ज्ञानार्णव* प्र-२)

हे भव्य! तू भाव-शुद्धि के लिए अपने चित्त में भावनाओं का सम्यक् चिन्तन कर; क्योंकि श्री जिनेश्वर

भगवान ने आगम ग्रन्थों में ही उन भावनाओं को प्रतिष्ठित किया है। अर्थात् उनकी भूरी-भूरी प्रशंसा की है।''

श्री पतंजलि मुनि आदि अन्य योग-विशारदों ने भी भावना को ध्यान-योग के एक अंग के रूप में स्वीकार किया है और अपने योग-ग्रन्थों में इसका वर्णन किया है—

ध्यान-साधना पर भावात्मक मन की रचना का गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः साधक को अपने मन को अचल, दृढ़ और शुद्ध रखने के लिए प्रशस्त भावनाएं या भाव अवश्य रखने चाहिए। मानव स्वयं भाव-मूलक प्राणी है। उसके चित्त के अशुभ-शुभ या शुद्ध आशय के अनुरूप ही बन्ध एवं मोक्ष संसार एवं सिद्ध-शिला की ओर यात्रा प्रारम्भ होती है, शुभाशुभ कर्मों के बन्ध एवं अनुबंध पड़ते हैं।

ज्ञानादि चार भावना, अनित्यादि बारह भावना अथवा मैत्री आदि चार भावना संवर-रूप है, संवर निर्जरा का पूर्व रूप है अर्थात् यह भी कहा जा सकता है कि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। संवर ध्यान एवं योग का प्रधान अंग है, महर्षि पतंजलि ने ''योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'' कहा है तो इन पतंजलि को इष्ट, निरोध तथा जैन-दर्शन में ''चिन्ता-निरोध-ध्यान'' में 'निरोध' संवर-रूप है। ध्यान चाहे जैन दर्शन का हो या अन्य दर्शनों का हो, उसका स्वरूप संवर द्वारा ही बनता है। वृत्ति का संवरण होना, वृत्ति का मुंह बाहर न रहकर आत्मा की ओर रहना ही वृत्ति का संवर है और यही निर्जरा अथवा मोक्ष का हेतु है।

जिसके द्वारा मन को भावित किया जाए अर्थात् मन में जो भावित किया जाए, संस्कारित किया जाए वह भावना है। भावना करना अर्थात् चिन्तन करना, विचार करना, केवल एक बार एक विचार किया जाय वह भावना नहीं कहलाती, परन्तु मन्त्र जाप की तरह बार-बार जो विचार घोटा जाए, उसे भावना कहते हैं। भावना अर्थात् अभ्यास।

'भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापार विशेषः भावना'।

जैसा बनना है उसके अनुरूप भावुक आत्मा की प्रवृत्ति (व्यापार) विशेष भावना है।

–*न्यायकोश*, पृष्ठ ६२६

पूज्य हरिभद्रसूरिजी महाराज ने भावना को 'वासना' भी कहा है। विषय-कषाय-जनित अशुभ भावों से मलिन बने मन को स्वच्छ, सौरभमय करने के लिए शुभ भावों की वासना देनी चाहिए, ताकि अनादि की अशुभ-वासना निर्बल होती जाए और शुभ-वासना सबल होती जाए।

भावना के संक्लिष्ट (अशुभ) और असंक्लिष्ट (शुभ) दो प्रकार हैं। क्रोध-मान-माया और मिथ्यात्व आदि के भाव अशुभ भावना है। क्षमा-नम्रता सरलता-संतोष और ज्ञान-दर्शन-चरित्र और वैराग्य आदि भाव शुभ-भावनाएं हैं। शुभ-भावनाओं से पाप (भव) का नाश होता है, अतः इसे 'भव-नाशिनी भावना' कहा जाता है। अशुभ-भावनाओं से पाप (भव) की वृद्धि होती है, अतः यह 'भव-वर्द्धिनी' भावना कहलाती है।

'योगशास्त्र' में निर्दिष्ट 'अहिंसा' आदि पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ उन-उन व्रतों की रक्षा के लिए हैं। ये सभी शुभ-भावनाएँ हैं और ध्यान योग की साधना में प्रविष्ट होने के लिए प्रवेश-द्वार स्वरूप हैं, अर्थात् ध्यान की अंगभूत हैं।

यदि शुभ-वासनाओं द्वारा मन को भावित (वासित) नहीं किया गया हो तो साधक ध्यान में स्थिर नहीं रह सकता अर्थात् भावना के बिना साधक ध्यान का पात्र नहीं हो सकता। ध्यान में प्रवेश करने से पूर्व भावनाओं का भावन करना पड़ता है। भावनाओं के बल से चित्त के विक्षेप दूर हो जाने से वह शान्त एवं स्थिर बनता है। जिससे चित्त-निरोध-रूप अथवा चित्त-एकाग्रता-रूप ध्यान साधना के लिए साधक योग्य पात्र बनता है।

यहाँ प्रदर्शित ज्ञानादि भावनाएँ आत्मा के ज्ञान-दर्शन एवं चरित्र आदि गुणों को प्रकट करने के लिए हैं।

भावना-योग में एक ऐसी चुम्बकीय शक्ति है, जो आत्मा के उन-उन गुणों को आकर्षित करती हैं, दोष-दुर्गुणों को दूर कर सद्गुणों की स्थापना करती है। किसी भी पदार्थ का ज्ञान, भावना के बल पर जब उस-उस वस्तु का आकार धारण करता है, तब दूर स्थित वह वस्तु भी नेत्रों के समक्ष प्रतीत होती है।

अब हम ज्ञान-भावना आदि भावनाओं के प्रकार तथा स्वरूप का क्रमश: विचार करेंगे।

(१) 'ज्ञान-भावना' के प्रकार और स्वरूप

(१) सूत्र-ज्ञान भावना — मूल सूत्रों का शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारणपूर्वक अध्ययन करना।

(२) अर्थ-ज्ञान भावना — सूत्रों-सिद्धांतों पर रचित भाष्य, निर्युक्ति, वृत्ति आदि द्वारा सूत्रों के अर्थ का अध्ययन, मनन करना।

(३) तदुभय-ज्ञान भावना — सूत्रों तथा अर्थों का तात्पर्य जीवन में भावित अर्थात् आत्मसात् करना।

इन तीनों का क्रमश: सतत अध्ययन करने से ज्ञानाचार का पालन होता है। सूत्र, अर्थ एवं तदुभय रूप ज्ञान-भावनाएँ ज्ञानाचार के (१) व्यञ्जन, (२) अर्थ और (३) तदुभयरूप तीन आचार स्वरूप ही हैं, और श्रुत, चिंता एवं भावना ज्ञानरूप भी है और वह (४) काल, (५) विनय, (६) बहुमान, (७) उपधान एवं (८) अनिह्नवण रूप आचारों के पालन से ही होती हैं।

इस प्रकार ज्ञान-भावना द्वारा ज्ञानाचार के आठ आचारों का सम्यक् परिपालन करने का निर्देश हुआ है। उनके पालन से श्रुत-ज्ञान आत्मसत् (भावित) होता है।

प्रारम्भ में जीव आदि तत्त्वों का चिन्तन चलित चित्त से होता है। तत्पश्चात् उनके सतत अभ्यास के योग से स्थिर एकाग्रचित्त से एक ही जीव आदि तत्त्व का चिंतन होता है। इस एकाग्र चिन्तन में से ध्यान-शक्ति विकसित होती है।

'योग-बिन्दु' में तत्त्व चिन्तन को अध्यात्म-योग, उसके सतत अभ्यास को भावना योग और उन दोनों के फलस्वरूप ध्यान-योग बताया गया है।

'ध्यान-शतक' में ध्यान से पूर्व ज्ञान आदि चार भावनाओं को आत्मसात्-भावित करने का विधान है और यह ध्यान का प्रधान साधन है। उनके बिना ध्यान की वास्तविक भूमिका प्राप्त नहीं हो सकती। अतः ज्ञान आदि चार भावनाओं के स्वरूप एवं उनके फल आदि का शास्त्रों में जो स्पष्ट वर्णन हुआ है, उस पर विचार करें।

श्रुतज्ञान का सतत् अध्ययन मन के अशुभ विकल्पों का शमन करता है। शुभ विचारों में रममाण-सुस्थिर करता है।

साधक ज्यों-ज्यों जिनोक्त वचनों के अंगभूत श्रुतज्ञान के अध्ययन में एकाग्र होता जाता है, त्यों-त्यों मन अशुभ विचारों से परे होता है और शुभ विकल्पों से भावित होते-होते शुद्ध स्वभाव की परिणति रूप ध्यान की सुदृढ़ भूमिका प्राप्त करता है।

श्रुतज्ञान के निर्मल अध्ययन बिना और श्रुतज्ञानी की पुण्य निश्रा-आज्ञा बिना स्वतंत्र रूप से ध्यान का अभ्यास करने वाले ध्यान में वास्तविक विकास नहीं साध सकते।

'ध्यान-शतक' में निर्दिष्ट प्रथम ज्ञान-भावना के पांच कार्य—

(१) श्रुतज्ञान में नित्य प्रवृत्ति।

(२) मन का अशुभ भावनाओं से निरोध।

(३) सूत्र एवं अर्थ की विशुद्धि।

(४) भव का निर्वेद।

(५) परमार्थ का ज्ञान।

(१) श्रुतज्ञान में नित्य प्रवृत्ति—'अर्हद्वक्त्र-प्रसूतं गणधररचितं द्वादशांगं-विशालम्' अरिहन्त भगवान के मुँह से उत्पन्न एवं गणधर द्वारा रचित विशाल द्वादशांगी रूप श्रुतज्ञान के पठन-मनन, चिन्तन आदि में चित्त-वृत्ति को लीन करने को श्रुतज्ञान की नित्य प्रवृत्ति कहते हैं।

ऐसी प्रशस्त प्रवृत्ति से चित्त की अप्रशस्त प्रवृत्तियाँ अपने आप बन्द हो जाती हैं। इतना ही नहीं अपितु चित्त-तन्त्र प्रशस्त शुभ भावों का सुदृढ़ केन्द्र बन जाता है।

शुभ चिन्तन के लिए, मन के निष्पाप व्यापार के लिए अति आवश्यक भाव-आहार श्रुत के अध्ययन में से ही प्राप्त होता है, जो भाव-आरोग्य की शुद्धता का कारण बनता है।

स्व के अभ्यास के लिए आवश्यक सामग्री की पूर्ति स्वाध्याय करता है। इस स्वाध्याय में शास्त्र प्रधान है, जिनके सेवन से जीवन पर 'स्व' का शासन स्थापित होता है, जो ध्यान का ही अंगभूत है।

आत्मध्यान का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए परमात्मा के वचनों के अंगभूत सूत्रों का अध्ययन सब कालों में समान रूप से आवश्यक है।

(२) मन का निरोध—ज्ञान-भावना के पाँच कार्यों में दूसरा कार्य मन का निरोध है। उपरोक्त प्रथम कार्य में दक्षता आने पर मन के निरोध के लिए शक्ति व्यय नहीं करनी पड़ती, परन्तु स्वभाव से ही मन सुनियन्त्रित हो जाता है। वह चंचल पदार्थों के पीछे भटकना छोड़कर सत् का अर्थात् आत्मा का दास हो जाता है।

निरोध स्वरूप यह बल-प्रयोग शुभ हेतुपूर्वक होने के कारण सापेक्ष रूप से उपयोगी है, बाल-स्तर के जीवों के लिए उपकारी है। अतः जब तक स्थिरता न आ जाए, तब तक उस पर ऐसे प्रयोग करने पड़े उसमें क्षोभ अनुभव करने की आवश्यकता नहीं है।

इस अनादि-अनंत संसार में जीव के लिए बड़े-से-बड़े दो विघ्न हैं—

पहला द्रव्य-मृत्यु रूप विघ्न ।

दूसरा भाव-मृत्यु रूप विघ्न।

भाव-मृत्यु रूप विघ्न का कारण चंचल मन है, क्लेशवासित मन है। ऐसे मलिन, चंचल मन को स्वच्छ, निर्मल, स्थिर एवं 'सुमन' बनाने के लिए सर्वज्ञ परमात्मा के वचनों के अंगभूत श्रुतज्ञान के अध्ययन में पिरोना चाहिए। उसे श्रुतज्ञान की निर्मल गंगा में नित्य स्नान करना चाहिए।

अर्थात्, स्वार्थी एवं राग-द्वेषात्मक विचार भाव-आरोग्य के संहारक हैं, फिर भी पुनः-पुनः उसमें ही आसक्त रहने की मन की अनादि से जो बुरी आदत पड़ी हुई है, वह केवल पाँच-पच्चीस दिनों के श्रुत के अध्ययन से छूटने वाली नहीं है, परन्तु रात-दिन के निरन्तर प्रयत्नों से धीरे-धीरे उसकी पकड़ ढीली पड़ती जाती है।

एक आसन पर स्थिर रहकर मन का अवलोकन करो, वह कहाँ जाता है, सो देखो, वह किस विचार में मग्न होता है उसका भी तटस्थता से निरीक्षण करो।

इस प्रकार करने से मन के समग्र रूझान का वास्तविक अध्ययन किया जा सकता है और तत्पश्चात् उसमें सुविचारों का सात्त्विक आहार ग्रहण करने की रूचि उत्पन्न करने की अनिवार्यता समझ में आती है, तथा उक्त अनिवार्यता को जीवन में अग्रिमता देने की सद्वृत्ति प्रबल बनती है।

मन को साधे बिना की गई ध्यान-साधना छार पर लीपन के समान है।

दुष्ट मन ही जीव का शत्रु है। उसे मित्र बनाने के लिए मैत्री आदि शुभ भावों के निरन्तर पुट देने पड़ते हैं, उनके प्रभाव से जीव मात्र में आत्मतुल्यता की दृष्टि खिलती है और सरलता से मन अशुभ विचारों के सेवन का परित्याग कर देता है।

'इरियावही' के नियमित स्वाध्याय से आत्म-द्रव्य का अनुभव और किसी भी प्रसंग पर निर्मल-मन-बुद्धि-वचन का योग सहज हो जाता है, क्रोध का सर्वथा शमन हो जाता है तथा समस्त जीवों के प्रति अलौकिक आत्मौपम्य भाव स्थिर रहता है।

(३) सूत्र-अर्थ शुद्धि—सूत्रों का स्पष्ट, शुद्ध उच्चारण एवं अर्थ की सच्ची समझ अर्थात् स्पष्ट पदार्थ-बोध एकाग्र चिन्तन एवं ध्यान की भूमिका सृजित करता है।

(४) भव-निर्वेद—यह शब्द अत्यन्त ही मार्मिक एवं अर्थ गम्भीर है। बहुत-बहुत पुण्योदय से महामूल्यवान् मानव-भव प्राप्त करने के बाद उसका दुरुपयोग रोकने और उसे सत् के उपयोग में लगाने के लिए उसे आत्म-विषयक ज्ञान से रँगना चाहिये। 'जैसा संग वैसा रंग' इस उक्ति के अनुसार ऐसा रंग सत्-शास्त्रों के सतत अभ्यास से और परिशीलन से लगता है।

निरंकुश जल की निचले मार्ग की ओर ही गति होती है, उस प्रकार निरंकुश मन भी नीचे मार्ग की ओर ही दौड़ता है।

नीचे मार्ग से तात्पर्य है आत्मा के पतन का मार्ग, आत्मा की ऊर्ध्वगति में अवरोधक मार्ग लौकिक सुखों के पीछे मन की अंधी दौड़ से आत्मा अधोगति के योग्य कर्म बांधता है।

ऐसे अधम रूझान में परिवर्तन लाने का ठोस उपाय भव-निर्वेद है। भव के प्रति विरक्ति एवं आत्मा के प्रति आसक्ति भव-निर्वेद का एक अर्थ है।

भव शब्द की उत्पत्ति 'भू-भवति' में से हुई है।

अतः भवस्थ जीव सदा कुछ-न-कुछ बनने की अभिलाषा करते रहते हैं, विचार करते रहते हैं। इस अभिलाषा एवं विचारों का वैराग्य तात्विक भव-निर्वेद है।

जो 'स्वयंभू' है उसे कभी ऐसी अभिलाषा हो सकती है? फिर भी होती है, यह वास्तविकता है।

इस वास्तविकता का उन्मूलन जीवन को आत्म-रति-युक्त बनाने से होता है। आत्म-रति परमात्मा की भक्ति में रम जाने से उत्पन्न होती है और परमात्मा की भक्ति द्वारा आत्मा में विद्यमान परमात्मा का प्रकाश संपूर्ण जीवन को भव-निर्वेदमय बनाने का महान् कार्य करता है।

भव-निर्वेद के बिना मन ध्यान की भूमिका पर स्थिर नहीं रह सकता। लौकिक सुखों का कोई एक आकर्षण भी उस समय तक उसे आकृष्ट कर सकता है, तब तक मान लेना चाहिए कि अभी तक उसका आत्मा के आकर्षण ने वास्तविक स्पर्श नहीं किया।

'झील्या जे गंगाजले, ते छिल्लर जल नवि पेसे रे' स्तवन की इस पंक्ति के अनुसार आत्म-रस रंगी को इन्द्रासन का सुख भी मोहित नहीं कर सकता, क्योंकि आत्मा परम ऐश्वर्यशाली है।

तात्पर्य यह कि आत्मा के परम ऐश्वर्य से वास्तव में भावित होने पर भव-निर्वेद स्वाभाविक हो जाता है।

(५) परमार्थ का ज्ञान—ज्ञान आत्मा का प्रमुख गुण है। उसके द्वारा जीव, अजीव के गुणों और पर्यायों के परमार्थ को अच्छी तरह जाना जा सकता है।

ज्ञान-दर्शन-चरित्र-वीर्य-समता-उदासीनता ये आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। सिद्ध अवस्था में होने वाले शुद्ध ज्ञान आदि गुणों के परिवर्तन में कारणभूत उस-उस समय की स्थिति-वर्तना स्वाभाविक पर्याय है तथा राग-द्वेष आदि वैभाविक गुण हैं और भिन्न-भिन्न गति-जाति-शरीर आदि वैभाविक पर्याय हैं।

सर्वज्ञ-कथित सिद्धान्तों के अध्ययन से जीव के स्वाभाविक एवं वैभाविक गुण-पर्यायों को जानकर, स्वाभाविक गुण-पर्यायों का सन्मान और वैभाविक गुण-पर्यायों का परित्याग करने की वृत्ति-प्रवृत्ति विकसित करने में ही ज्ञान की सार्थकता है।

इसी तरह से अजीव के गुण-पर्याय जानकर उनके प्रति राग-द्वेष कम किए जाते हैं।

अजीव में मुख्य पुद्गल द्रव्य हैं।

जीव के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की पौद्गलिक वस्तुएँ-सामग्री आती हैं, तथा जीव अपने अनुकूल रूप-रस आदि में आसक्त बनता है और प्रतिकूल रूप-रस आदि के प्रति तिरस्कार-भाव प्रदर्शित करता है। राग-द्वेष के वशीभूत बना जीव कर्म बन्धनों से प्रगाढ़ रूप से ग्रस्त होने के कारण चार गति रूप संसार में परिभ्रमण करता है।

ज्ञानी पुरुष इस पारमार्थिक ज्ञान के बल पर राग-आदि दोषों से मुक्त होते हैं। और दोषों का बल घटने से मन सरलतापूर्वक शुभ ध्यान में एकाग्र हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि जीव एवं अजीव के परमार्थ-सार को सम्यक् प्रकार से जान लेने से हेय-उपादेय की विवेक-दृष्टि जागृत होती है, बुद्धि निर्मल बनती है और मन की चंचलता दूर होती है।

इस प्रकार पाँचों प्रकार की ज्ञान-भावनाओं से ध्यान की सुन्दर भूमिका का सृजन होता है।

(२) दर्शन-भावना के प्रकार और स्वरूप

दर्शन भावना के तीन भेद हैं—(१) आज्ञारूचि, (२) नवतत्त्व रूचि, (३) परमतत्त्व रूचि (चौबीस ध्यानों की रूचि)।

(१) आज्ञा रूचि — जिनाज्ञा द्वादशांगी रूप है, जिसका सार "सव्वे जीवा न हन्तव्वा", "आश्रव सर्वथा हेय उपदेयश्च संवर:" अर्थात् सभी जीवों की रक्षा करो, आश्रव सर्वथा-त्याज्य है, संवर सर्वथा उपादेय है—इस जिनाज्ञा की रूचि अर्थात् उसे जीवन में प्रतिष्ठित करने की उत्कट अभिलाषा।

(२) तत्त्वरुचि — जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध एवं मोक्ष —इन नौ

तत्त्वों की रुचि उत्पन्न करना, अर्थात् जीव, अजीव तत्त्व को ज्ञेय रूप में, पाप, आश्रव एवं बंध को हेय के रूप में तथा पुण्य, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष तत्त्व को उपादेय के रूप में स्वीकार कर उनमें दृढ़ श्रद्धावान बनना।

उक्त नौ तत्त्वों के प्रकाशक सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवान हैं। अतः उनमें संपूर्ण श्रद्धा रखकर तदनुरूप जीवन जीने से आत्मवीर्य प्रकट होता है तथा वीर्योल्लास की वृद्धि की तरतमता के अनुसार चारित्र की धारा प्रवाहित होती है।[१]

दर्शन-भावना का अभ्यास अर्थात् दर्शनाचार का सम्यक् परिपालन, दर्शनाचार के आठों आचार निम्नलिखित ढ़ंग से दर्शन भावना में अन्तर्भूत हैं—

शंका आदि दोषों से रहित, यहां आदि शब्द से कांक्षा, विचिकित्सा, दोष सूचित होते हैं। इन दोषों का परिहार करने से (१) निःशंकता, (२) निष्कांक्षता, (३) निर्विचिकित्सा आचारों का पालन होता है। असंमूढ़ मन वाले बनने से, (४) अमूढ़ दृष्टि आचार का सेवन होता है, तथा प्रशम-स्थैर्य आदि गुणों से युक्त होने से, (५) उपवृंहणा, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना रूप आठों आचारों का भी सम्यक् पालन होता है।

इस प्रकार दर्शन भावना से भावित होने वाले आराधक के सम्यग् दर्शन की शुद्धि होती है, जिसके फलस्वरूप ध्यान में स्थिरता आती है।

आचारों के पालन के बिना दर्शन की शुद्धि नहीं होती और उसके अभाव में ध्यान की सिद्धि नहीं हो पाती। अतः ध्यानार्थियों को दर्शन भावना से भावित होने का सन्निष्ठ प्रयास करना चाहिए।

(३) चारित्र भावना के प्रकार और स्वरूप

चारित्र भावना के तीन भेद हैं—सर्वविरत, देशविरत एवं अविरत।

(१) सर्वविरत — सर्वविरति चारित्र अर्थात् सर्व सावध व्यापार का आजीवन त्याग अथवा अष्ट-प्रवचन माता का आजीवन सम्यक् पालन। इस प्रकार का सर्वविरति चारित्र धारण करने वाला मुनि 'सर्वविरत' कहलाता है।

(२) देशविरत — देश से अर्थात् स्थूल हिंसा आदि पापों की अमुक अंशों में विरति (त्याग) करने वाला श्रावक 'देशविरत' कहलाता है।

(३) अविरत — अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को भी अनंतानुबंधी कषायों (क्रोध-मान-माया और लोभ) के उपशम आदि से उत्पन्न आंशिक उपशम आदि-रूप चारित्र होता है। इस कारण अविरत

---

१. **'रुचि अनुयायी वीर्य चरणधारा सधे'**

को भी इस भावना में समाविष्ट किया गया है।

चारित्र-भावना में चरित्राचार के आठों प्रकारों का समावेश होता है। साधक जितने प्रमाण में चारित्राचार का पालन करता है उतने प्रमाण में उसमें सहज भाव से प्रयत्न किए बिना भी ध्यान की शक्ति अवश्य प्रकट होती है।

चारित्र-भावना के साथ ध्यान का अविनाभाव सम्बन्ध है। चारित्र समिति गुप्त-रूप है और वह ध्यान का अनन्य कारण है। (गुप्ति ध्यान स्वरूप है) अत: विशुद्ध चारित्र के पालन से ध्यान का अवश्य प्रादुर्भाव होता है।

(४) वैराग्य भावना के प्रकार एवं स्वरूप

(१) अनादि भव-भ्रमण चिन्तन, (२) विषय-विमुखता चिन्तन और (३) शरीर अशुचिता चिन्तन—वैराग्य भावना के ये तीन भेद हैं।

वैराग्य भावना के ये तीनों भेद ज्ञान-गर्भित वैराग्य के मुख्य हेतु हैं। उनसे भावित होने वाले जीव को वैराग्य के परिणाम अवश्य होते हैं। वैराग्य-भावित बनने के लिए निम्नलिखित चिन्तन करना चाहिए—

(१) अनादि भव-भ्रमण चिन्तन—भव-भ्रमण सचमुच दु:खद है, पीड़ाप्रद है। उसमें जीव को एक मिनट के लिए भी स्वाधीनता के सुख का अनुभव शायद ही होता है। उसे ड़ग-ड़ग पर पराधीनता सहन करनी पड़ती है। यह जीव अनादि काल से भव-संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

कोई जाति, कोई योनि, कोई स्थान और कोई कुल संसार में ऐसा नहीं है जहाँ इस जीव ने अनन्त बार जन्म धारण नहीं किया हो और अनन्त बार इस जीव की मृत्यु नहीं हुई हो।

अरे! चौदह राज प्रमाण लोकाकाश के असंख्य प्रदेश हैं जिसके प्रत्येक प्रदेश का इस जीव ने अनन्त बार स्पर्श किया है।

जहाँ सर्वाधिक काल व्यतीत किया है, उस निगोद अवस्था में इस जीव ने एक श्वासोच्छवास जितने अल्प समय में सत्रह से अधिक बार जन्म और मरण किए हैं।

देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नारकी के रूप में अनन्तानन्त जन्म एवं मृत्यु करते हुए इस जीव का अनन्त पुद्‍गल परावर्त काल इस संसार में व्यतीत हो गया, फिर भी अभी तक उसका अन्त नहीं आया। सचमुच, संसार अनादि-अनन्त है। इस संसार में स्थिर बनकर रहा जा सके वैसा कोई स्थान नहीं है। सतत संसरण करते रहने का नाम ही संसार है।

नौ माह तक माता के उदर में बन्द रहकर जीव को जो दु:ख सहन करना पड़ता है वह आजीवन

कारागृह का दण्ड भोगने वाले अपराधी के दु:ख की अपेक्षा से अनन्त गुना विषम-कठोर होता है।

भयानक आँधी में जो दयनीय दशा पत्तों की होती है, उनकी अपेक्षा अधिक दयनीय दशा यह जीव इस संसार में प्रतिपल अनुभव कर रहा है।

इस संसार में सुख होने के भ्रम में प्रसन्न होकर, इस जीव ने दु:खों के कारणरूप पाँच विषयों, चार कषायों एवं अठारह पाप-स्थानकों की सेवा करने में कोई कसर नहीं रखी।

ऐसा एक क्षण तो बताओ कि जिसमें यह जीव इस संसार में स्व-सुख का अनुभव कर पाया हो?

इस प्रकार के चिन्तन के सतत अभ्यास से जीवन में सच्ची वैराग्य-भावना जागृत होती है।

सच्ची वैराग्य-भावना अर्थात् ज्ञान-गर्भित वैराग्य, तात्त्विक वैराग्य।

(२) विषय विमुखता चिन्तन—मनुष्य को पूर्ण पाँच इन्द्रियाँ एवं उनके अनुकूल शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि विषय पुण्य से प्राप्त होते हैं, परन्तु उन अनुकूल विषयों में सुख की कल्पना करके, उनमें आसक्त होना पाप है। पाप इसलिए है कि शब्द आदि विषय पुद्‌गल के गुणधर्म हैं, आत्मा के नहीं। दूसरों के गुण-धर्मों को अपने मानकर उनमें आसक्त होना, उनके कर्ता-भोक्ता बनना सबसे बड़ा मिथ्यात्व नामक पाप है। पाप का स्वभाव है, आत्मा को मलिन करना, संसार में परिभ्रमण कराना।

इन्द्रियों के अग्निकुण्ड में चाहे जितनी सामग्री डालो सब स्वाहा हो जाती है, तृप्त नहीं होती क्योंकि अतृप्ति इन्द्रियों का स्वभाव है।

सुख भीतर है, आत्मा में है, आत्मा के गुणों में है। विषय-विमुखता तब ही सिद्ध होती है, जब मन, प्राण आदि प्रभु के सम्मुख बनें, वीतराग भगवान के अभिमुख बनें।

क्या विषय विषतुल्य है? नहीं, उससे भी अधिक कातिल है, घातक है। विष तो एक बार द्रव्य-प्राण हरता है, जबकि विषयों का सेवन भाव-प्राणों का संहारकर जीव को इस संसार में अनन्त जन्म-मृत्यु कराता है।

पंच-परमेष्ठि भगवानों के उन प्रमुख गुणों को स्व-विषयभूत बनाने से पाँच इन्द्रियों के विषयों में अद्‌भुत रूपान्तर होता है, जिनमें भोगों का विष निचोड़ दिया जाता है और योगामृत का संचार होता है।

जो विषय आत्म-स्वभाव के अनुकूल नहीं हैं उन्हें अपनाना ही बड़े से बड़ा पतन है।

इन्द्रियों के विषयों के अधीन बनने में सच्चा सुख नहीं है, परन्तु इन्द्रियों के ईश के अधीन बनने में सच्चा सुख है।

अत: सार-असार, खाद्य-अखाद्य, पेय-अपेय, गम्य-अगम्य, पथ्य-अपथ्य के विवेक से पाँचों

इन्द्रियों को स्व-वशीभूत करने का पुरुषार्थ करना हितकर है, जो स्व-पर हित का अनन्य कारण है।

जीवन में विषय विमुखता सुदृढ़ करने के लिये इस प्रकार का चिन्तन आवश्यक है। यह चिन्तन नित्य-प्रति आवश्यक है।

(३) शरीर अशुचिता चिन्तन—जीव को अपनी देह के प्रति गाढ़ राग होता है, अतः वह देह की सार-सम्भाल में सतत् प्रयत्नशील रहता है; फिर भी सप्त धातुओं से निर्मित एवं मल-मूत्र आदि अशुचि से युक्त यह देह पवित्र नहीं बनती। चाहे जैसे सुगन्धित द्रव्यों के विलेपन भी अल्प-जीवी सिद्ध होते हैं।

मल-मूत्र-रक्त-मांस-मेद (चर्बी) आदि पदार्थों की कोठी तुल्य देह की चाहे जितनी सुरक्षा करो, उसमें केसरी दूध डालो, मूल्यवान भस्मों से उसे परिपुष्ट करो, फिर भी सड़ने-गिरने का उसका जो स्वभाव है, उसमें रत्तीभर भी अन्तर नहीं होता।

संसार उसे ही कायर कहता है, जो केवल अपनी काया में रत रहता है। आत्म-चिन्ता रहित मन वाले मानव की देह की अपेक्षा मंन रहित पशुओं की देह अपेक्षाकृत श्रेष्ठ होने का शास्त्र-कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसका सार यह है कि देह के दास मत बनो, यदि बनोगे तो स्थायी दासत्व आपके भाल में अंकित हो जाएगा और आपको अनन्त जन्म-मरण भोगने पड़ेंगे।

वास्तव में जो नश्वर है, उसके साथ सम्बन्ध भी उस प्रकार का ही रखना चाहिए, जैसा सम्बन्ध हम देह पर धारण किए वस्त्रों के साथ रखते हैं क्योंकि इन्हें धारण करने अर्थात् उतारने में मन-प्राण आदि तनिक भी व्यथित नहीं होते।

देह की ममता के पोषण से आत्मा की उपेक्षा ही होती है।

इस प्रकार भव-भ्रमण-चिन्तन, विषय-विमुखता-चिन्तन एवं शरीर-अशुचिता-चिन्तन करने से जीव में वैराग्य के परिणाम अवश्य प्रकट होते हैं।

इस वैराग्य भावना के अभ्यास से ध्यान में निश्चलता आती है। ज्ञान आदि चार भावनाओं से ध्यान की उत्पत्ति एवं पुष्टि होती है, जिससे वे ध्यान के पूर्वाभ्यास स्वरूप हैं। उनके अभ्यास से ध्यान में सरलतापूर्वक प्रवेश किया जा सकता है।

अभ्यास में अन्तर नहीं पड़ना चाहिए, बल्कि नित्य निश्चित समय पर उसे प्रारंभ करना चाहिए।

अन्तराय के अधीन होने पर अभ्यास में गहनता प्राप्त होने की सम्भावना कम हो जाती है।

ऐसे अन्तराय में प्रमाद मुख्य है, जो सदा संसार के पक्ष में रहकर आत्मा का उत्थान नहीं होने देता।

अतः सतत अभ्यास की विशेष रूचि उत्पन्न करना परम आवश्यक है।

अनुप्रेक्षा

मूलपाठ — अनुप्रेक्षा-ध्यानादवतीर्णस्य, सा च द्वादशधाऽनित्यादि भेदात् 'पढमं अणिच्चभावं' इत्यादि।

अर्थ — ध्यानदशा में से निवृत्त होने वाले साधक में 'अनुप्रेक्षा' होती है, और वह अनित्यत्व भावनादि भेद से बारह प्रकार की है, जिनके नाम 'मरण-समाधि-पयन्ना' में इस तरह दिये गए हैं—

(१) अनित्य भावना, (२) अशरण भावना, (३) एकत्व भावना, (४) अन्यत्व भावना, (५) संसार-भावना, (६) अशुचि भावना (अशुभ भावना) (७) विविध लोक-स्वभाव भावना (८) कर्म-आश्रव-भावना (९) कर्म-संवर भावना, (१०) कर्म-निर्जरा भावना, (११) उत्तम गुणों की भावना, (१२) दुर्लभ-बोधि-भावना, श्री जिन-शासन-सम्बन्धी बोधि (सम्यक्त्व) प्राप्त होना दुर्लभ है यह भावना।[१]

'नवतत्त्व प्रकरण' आदि ग्रन्थों में बारह भावनाओं के निम्नलिखित नाम दिये गए हैं—

(१) अनित्य भावना, (२) अशरण भावना, (३) संसार भावना, (४) एकत्व भावना, (५) अन्यत्व भावना, (६) अशुचित्व भावना, (७) आश्रव भावना, (८) संवर भावना, (९) निर्जरा भावना, (१०) लोक-स्वभाव-भावना, (११) बोधि-दुर्लभ भावना, (१२) धर्म-स्वाख्यात भावना।

विवेचन — स्थिर, निश्चल, दृढ़ चित्त से किए जाने वाले चिन्तन को भी ध्यान कहा जाता है। छद्मस्थ जीवों का चित्त निरन्तर इतना स्थिर नहीं रह सकता। अतः ध्यान की व्युत्थान दशा में समस्त भौतिक पदार्थों की अनित्यता, संसार की अशरणता एवं विचित्रता, आत्म-तत्त्व की एकता एवं पर द्रव्यों से अत्यन्त भिन्नता, शरीरादि पदार्थों की अपवित्रता, कर्म-बंध हेतुता, कर्म-निरोध-हेतुता, कर्म-क्षय-हेतुता, चौदह राजलोकों की विविधता तथा बोधि-दुर्लभता तथा धर्म-साधक श्री अरिहन्त परमात्मा आदि की दुर्लभता के स्वरूप का चिन्तन करना होता है।

इस प्रकार ध्यान के अभ्यासी साधक चिन्ता एवं भावनाओं को आलंबन बनाकर ध्यान प्रारम्भ करते हैं, ध्यान समाप्त होने पर वे अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं का[२] चिन्तन करते हैं और यदि पुनः ध्यान करने का उत्साह

---

१. **पढमं अणिच्चभावं, असरणयं एगयच्च अन्नत्तं।
संसारमसुभयापिय, विविहं लोगं सहावं च॥ ७३॥
कम्मस्स आसवं संवरं च निज्जरणमुत्तमेयगुणे।
जिणसासणंमिबोहिं च दुल्लहं चिंतए मइअं॥ ७४॥** —*"मरण समाधि पयन्ना"*

२. **झाणोवरमेऽवि मुणी णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो।
होइ सुभावियचित्तो धम्मझाणेण जो पुव्विं॥ ७५॥** —*"ध्यान शतक"*
जो मुनि धर्म ध्यान द्वारा पहले अत्यन्त भावित चित्तवाले होते हैं, वे ध्यान के अन्त में भी श्रेष्ठ अनित्यत्व आदि भावनाओं से भावित होते हैं।

हो तो तद्विषयक चिन्ता तथा भावनाओं का आलम्बन लेकर ध्यान में प्रवेश करे सकते हैं।

वाचक-मुख्य श्री उमास्वातिजी महाराज ने भावना को 'अनुप्रेक्षा' शब्द से अभिहित किया है, अतः भावना का दूसरा नाम अनुप्रेक्षा है।

अनुप्रेक्षा अर्थात् चिन्तन, अनुचिन्तन अथवा बार-बार स्मरण, भावना विशिष्ट प्रकार का चिन्तन है।

चित्त जब ध्येय का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन करने लगता है, और इस तरह उसमें तन्मय होता जाता है। तब अनुप्रेक्षा विशद हुई कही जाती है। इस तरह की अनुप्रेक्षा जब प्रकर्ष प्राप्त कर उत्कृष्ट कोटि में पहुँचती है, तब चित्त-वृत्तियाँ ध्येय में तदाकार हो जाती हैं।

शास्त्रकारों ने अनुप्रेक्षा को अग्नि की उपमा दी है। जिस प्रकार अग्नि स्वर्ण के सारे मैल को जला डालती है, उसी प्रकार अनुप्रेक्षा की अग्नि आत्मा के स्वर्ण के सारे मैल अर्थात् कर्म को जला देती है, जिससे विशुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होती है और क्रमशः निरूपसर्ग अवस्था अर्थात् मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

अनुप्रेक्षा के इस विवरण से स्पष्ट है कि भावना भवनाश करने का एक अमोघ उपाय है। इसीलिए ज्ञानी पुरुषों ने इसे ध्यान-योग की साधना के एक आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार किया है, इसका वर्णन किया है।

बारह भावनाओं का स्वरूप

(१) अनित्य भावना

''प्रियजनों का संयोग एवं सम्बन्ध, धन, सम्पत्ति, विषय-सुख, आरोग्य, देह, यौवन एवं आयु सब्र कुछ अनित्य है।''

जो परिवर्तनशील है, वह अनित्य है, जो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है वह अनित्य है। अजर, अमर और अविनाशी केवल चैतन्य स्वरूप आत्मा है। आत्मा के चारों ओर जो कोई पौद्गलिक पदार्थ हैं, वे समस्त जड़ एवं परिवर्तनशील हैं, उत्पन्न होते हैं, और नष्ट हो जाते हैं। घड़ी भर पूर्व जिन्हें देखना प्रिय लगता है और घड़ी भर के पश्चात् उन्हें देखने की इच्छा नहीं होती। सचमुच, संसार में ही पदार्थों की अनित्यता प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है।

जिस देह पर सर्वाधिक ममता है, वह देह स्थायी नहीं है, अनित्य है। देह का रूप-यौवन, आरोग्य एवं अस्तित्व भी अनित्य है। रूप आज है और कल न भी रहे। यौवन तो चला ही जाने वाला है। रोग तो इस देह के रोम-रोम में भरे हुए हैं और आयु हाथ की अंजली में रहे जल की तरह प्रतिपल घटती जाती है।

इसी तरह स्थूल पदार्थों के साथ सारे सम्बन्ध अनित्य हैं। इतना ही नहीं वरन् माता-पिता, भाई-बहिन आदि के सम्बन्ध भी इस भव तक ही सीमित हैं।

ऐसे नश्वर पदार्थों तथा सम्बन्धों से स्थायी सुख की आशा रखकर उन्हें प्राप्त करने में एवं उनका

उपभोग करने में मग्न रहना निरि मोहान्धता है।

इस अनित्यत्व की भावना द्वारा पर-पदार्थों का ममत्व घटने से जो नित्य है उस आत्मा की तथा उसके शुद्ध ज्ञानादि गुणों की सच्ची उपासना हो सकती है।

(२) अशरण-भावना

इस अशरण-भावना में यह विचार करना अनिवार्य है कि इस संसार में हमारे आत्मा का रक्षक, उसे शरण प्रदान करने वाला कोई नहीं है। रोग आदि कोई दुःख, कोई अन्य आपत्ति, संकट अथवा मृत्यु आने पर संसार का कोई भौतिक साधन अथवा स्नेही, स्वजन, सम्बन्धी आदि हमें उन दुःखों से अथवा विपत्तियों से बचा नहीं सकता।

दुःख, आपत्ति एवं भय से परिपूर्ण इस संसार में '**अरिहन्त-परमात्मा**' एकमात्र शरणभूत हैं, उनके द्वारा उपदिष्ट शुद्ध धर्म है। उनकी शरण अंगीकार करने वाली आत्मा अपने अजर-अमर-अविनाशी पूर्णानन्दमय स्वरूप को अवश्य प्राप्त कर सकती है।

संसार की अशरणता तथा धर्म की शरणता समझने के लिए 'अनाथी मुनि' का प्रसंग अत्यन्त प्रेरक है—

राजगृही के उद्यान में एक मुनिवर ध्यानमग्न हैं। उनका नाम है अनाथी। उनकी देह अत्यन्त सुकोमल है।

ऐसे समय में महाराजा श्रेणिक का वहां आगमन हुआ। वे मुनिवर को वन्दन कर खड़े रहे।

ध्यान पूर्ण होने पर तत्त्व-चिन्तन में मग्न मुनिराज से श्रेणिक ने पूछा यौवनावस्था में आपको वैराग्य का स्पर्श किस प्रकार हुआ?

मुनिराज ने उत्तर दिया—"अशाता वेदनीय कर्म के उदय से मैं बीमार हो गया। अनेक उपचार करने पर भी रोग दूर नहीं हुआ। उस समय मैंने मन ही मन संकल्प किया कि —यदि यह रोग मिट गया तो मैं दूसरे ही दिन दीक्षा (चारित्र) अंगीकार करूँगा।

इस संकल्प के पश्चात् एक ऐसी घटना हुई जिससे मेरे नेत्र खुल गए। इस संसार में जीव को सच्ची शरण केवल धर्म की है। इस त्रिकाला बाधित सत्य में मेरा विश्वास अडिग हो गया, अखण्ड हो गया। घटना इस प्रकार है, सुनिये —

मेरी देह रोगों एवं असह्य दाह-वेदना से ग्रस्त एवं त्रस्त थी फिर भी मेरे प्रति अप्रतिम वात्सल्य की वृष्टि करने वाले मेरे माता-पिता-स्नेही स्वजन एवं मेरी प्राण-प्रिया (प्रियतमा) में से कोई भी न तो मेरा रोग, मेरी पीड़ा मिटा सके और न वे मेरा जरा-सा दुःख बाँट सके।

सचमुच, मेरे तथाकथित समस्त सम्बन्धी उपस्थित हैं फिर भी मैं अशरण हूँ, अनाथ हूँ।

इस अनुभव के पश्चात् मुझे यह सत्य तुरन्त हृदयसात् हो गया कि संसार में कोई किसी का सगा नहीं है, सगा है तो एकमात्र केवली-कथित धर्म। अत: रोग का शमन होते ही मैंने चरित्र अंगीकार किया। लोग मुझे 'अनाथी मुनि' के नाम से पहचानते हैं।

मुनिराज की कथनी सुनकर महाराजा श्रेणिक की जिन भक्ति (धर्म के प्रति श्रद्धा) प्रगाढ़ हो गई।

तात्पर्य यह है कि इस संसार में जीव के तथाकथित सगे अनेक हैं। परन्तु वे सब कहने भर के ही हैं क्योंकि वे स्वयं अशरण हैं। फिर वे दूसरों के लिए शरण-रूप कैसे हो सकते हैं।

अधिक गहराई से सोचने पर तुरन्त समझ में आ जाएगा कि देश, काल और कर्म के त्रिकोण में जकड़े हुए जीव को सच्ची शरण प्रदान करने की क्षमता (सामर्थ्य) केवल देव, गुरु और धर्म में ही है। शेष समस्त शरण नकली, टूटने वाले सहारों के समान हैं।

(३) एकत्व-भावना

स्व-आत्म-हित की साधना में निरन्तर प्रयत्नशील रहने के लिए इस भावना का विषय है, स्व-आत्मा, जो अकेली जन्म लेती है, अकेली मरती है, स्व-कृत शुभ-अशुभ कर्मों के अच्छे-बुरे फल अकेला भोगता है।

इस भावना का मर्म यह है कि स्व-आत्म-हित-साधना में अकेले वीर बनकर मग्न होना, किसी अन्य व्यक्ति की सहायता की अपेक्षा नहीं रखना, सहायता नहीं करने वाले के प्रति दुर्भाव नहीं रखना, परन्तु स्वात्म-वीर्य की स्फुरणा के लिए शास्त्रोक्त मार्ग पर प्रयाण करना।

अन्य सबका चाहे कुछ भी हो, परन्तु एक मेरे आत्मा का कल्याण हो—ऐसा कोई विकृत अर्थ इस भावना की सीमा में नहीं आता, परन्तु एक आत्मा को जानकर समस्त आत्माओं की जाति एक ही है, ऐसा विशुद्ध अर्थ इस भावना से भावित होने पर स्व में सर्व और सर्व में स्व को देखने की विशुद्ध दृष्टि खुलती है।

करोड़ों शत्रुओं के सामने एकल-वीर की तरह संघर्ष कर विजयश्री प्राप्त करने वाले शूरवीर पुरुष का उदाहरण दृष्टिगत रखने का सत्त्व इस भावना द्वारा प्रकट करना है जिससे कि कायरता नष्ट हो तथा धर्म-शूरता रग-रग में व्याप्त हो जाए।

(४) अन्यत्व भावना

इस भावना द्वारा समस्त विजातीय पदार्थों के प्रभाव से सर्वथा परे रहने की महाकला सिद्ध करनी होती है।

सात मंजिलों का मनोहर महल भी अन्तत: पर-द्रव्यों का संयोजन मात्र है। चाहे जैसी सुहावनी

देह भी 'मैं' नहीं हूँ; जो मैं है, वह तो अजर-अमर-अमल-अनुपम-शब्दातीत-तर्कातीत आत्म-द्रव्य है; वही मैं, शेष सब 'मैं' अहंकार के ही आविष्कार हैं।

जातवान् उच्चकोटि का वज्र-रत्न जिस प्रकार सर्वत्र अपना प्रकाश फैलाता है, परन्तु अन्य द्रव्य से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार इस भावना के निरन्तर अभ्यास से पर-द्रव्यों के प्रभाव से मुक्त रहकर आत्मा मुक्ति की ओर अग्रसर होती रहती है।

इस भावना में पर-द्रव्यों को आत्मा से निराले-अलग समझकर उनके साथ व्यवहार करना होता है।

(५) अशुचित्व-भावना

इस देह में, इसमें डाले हुए श्रेष्ठ, शुद्ध खान-पान आदि को भी गन्दे बनाने का सामर्थ्य है। इस देह की सुकोमल चिकनी त्वचारूपी ढक्कन के भीतर रक्त-माँस-पस आदि खदबदा रहे हैं।

सुन्दरी ने अपने भाई का अपनी देह के प्रति प्रगाढ़ राग देखकर साठ हजार वर्ष तक आयंबिल् कर अपनी वही देह भाई भरत के समक्ष प्रस्तुत की तो उसका राग भी नष्ट हो गया।

दूध से धोने पर भी कोयला सफेद नहीं बनता, काला ही रहता है, उसी प्रकार सुगन्धित जल से नित्य स्नान करने पर भी देह में विद्यमान अशुचि नष्ट नहीं होती, बनी रहती है।

यह सोचकर देह के स्वामी आत्मा की दान-शील, तप, आदि के द्वारा सेवा करनी चाहिए।

(६) संसार-भावना

इस भावना में चिन्तन करना कि भाई-बहिन, माता-पिता, पति-पत्नी आदि सांसारिक सम्बन्ध एक भव के लिए ही हैं, शाश्वत नहीं है। अतः उनकी ममता में आत्मा को रंगना भव-परम्परा-वर्द्धक कृत्य हैं।

इस आत्मा की समग्र जीव-लोक के साथ आत्मीयता है। उसे सीमित सम्बन्धों में रुँधने से उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है, और उसे नए-नए जन्म-मरण करने पड़ते हैं।

इस भव के हमारे पिता, गत भव के हमारे पुत्र भी हो सकते हैं। तथा आगामी भव के अन्य सगे-सम्बन्धी भी हो सकते हैं। अतः इस प्रकार के सम्बन्ध को सर्वोच्चता प्रदान करने के स्थान पर उसके मूल-रूप आत्मा के सम्बन्ध को सर्वोच्चता प्रदान करनी चाहिए।

इस भावना में माता-पिता आदि के उपकारों के प्रति उपेक्षा नहीं, बल्कि जो सर्वोच्च धर्म-सगाई है, उसके साथ ही घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की भावना निहित है।

जब तक व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सम्बन्ध का माध्यम सांसारिक सगपण (सम्बन्ध) ही रहता है

तब तक समस्त जीवों के प्रति आत्मीयता जागृत नहीं हो सकती और उसके अभाव में आत्मशुद्धि पूर्णतः नहीं हो सकती।

माता-पिता आदि के उपकारों को न भूलना एक महान् गुण है, परन्तु उससे सार यह ग्रहण करना है कि चारगति रूप इस संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने अनन्त माता-पिता बनाए और उन सबके उपकार उसके सिर पर हैं। इस दृष्टि से सोचने पर समस्त जीवलोक इस जीव का उपकारी बन जाता है।

तात्पर्य यह है कि सांसारिक सम्बन्ध मोह-वश जीव को पीड़ित करते हैं।

जीवलोक के साथ जीव के सम्बन्ध को सुदृढ़ करने के लिए इस भावना का अभ्यास, समस्त देश-कालों में समस्त जीवों के लिए एक-सा हितकर है।

(७) आस्रव-भावना

पाप के मुख्य अठारह स्थान (घर) हैं। आस्रव अर्थात् कर्म-पुद्गलों का आत्मा में आगमन। हिंसा आदि पापों, पाँच इन्द्रियों, चार कषायों तथा मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों (क्रियाओं) के द्वारा कर्माणु आत्मा में प्रविष्ट होते हैं। और वे संसार-भ्रमण का कारण बनते हैं। इस आस्रव के विशेष स्वरूप आदि का चिन्तन करने से उसके निरोध के लिए यथासम्भव प्रयत्न होता है और ध्यान साधना के लिए यह आवश्यक है।

इस भावना का मुख्य उद्देश्य आस्रवों का पूर्णतः त्याग करना है।

जो विचार-वाणी अथवा व्यवहार आत्मा के घर के नहीं हों, पर-घर के हों, पुद्गलाशक्ति-जन्य हों, अहं-केन्द्रित हों, वे सब आस्रव-रूप हैं, आत्मा को मलिन करने वाले हैं।

पूर्ण विशुद्ध परमात्मा के गुणों की पवित्रतम गंगा में नित्य स्नान करने का अभ्यास करने से आस्रवों का समूल त्याग होता है तथा आत्म-स्नेह सुदृढ़ होता है।

(८) संवर-भावना

मन-वचन-काया की जो वृत्ति-प्रवृत्ति कर्म के ग्रहण को रोके वह संवर है।

संवर भावना के लिए समाधियुक्त चित्त एवं वचन तथा काय-योग की स्वस्थता आवश्यक है।

स्व-दोष दर्शन में निपुण साधक इस भावना में मन, वचन, काया को निमग्न कर सकते हैं।

घर की खिड़कियां एवं द्वार बन्द होते हैं, तो भी उन खिड़कियों और दरवाजों की दरार में से बारीक रज घर में प्रविष्ट हुए बिना नहीं रहती। उसी प्रकार वचन एवं काय-योग की स्वस्थता होने पर भी मन यदि प्रभु-दर्शन में मग्न नहीं रहे तो कर्म की रज आत्मा के घर में प्रविष्ट होकर उसके

स्वभाव को कलंकित किए बिना नहीं रहती।

ध्यान के अभ्यास में मन का स्वस्थ तथा राग-द्वेष रहित होना अत्यंत आवश्यक है। संवर भावना द्वारा इनकी प्राप्ति सुलभ होती है।

मुमुक्षु साधक को सदा अपनी समस्त करनी की पक्की खतौनी करनी चाहिए। इस पर जो उपकारी भगवन्तों ने बल दिया है उसका आशय निर्दोष (छिद्र-विहीन) जीवन के प्रति विशेष प्रीति उत्पन्न कराना है।

जिस व्यक्ति को दोषपूर्ण जीवन चुनने की अपेक्षा अनुकूल प्रतीत होता है, उसके संसार की अभिवृद्धि ही होती है।

समस्त दोषों को दूरकर समस्त गुणों को निज अंगभूत बनाने की उत्तम कला संवर-भावना-रत जीवन द्वारा साधी जा सकती है।

संवर-भावना का संक्षिप्त सार यही है कि दोषों को जीवन में प्रविष्ट मत होने दो, प्रवेश द्वार बन्द कर दो, सर्वत्र आत्मा का प्रसार होने दो और अनात्म-भाव से उपर उठो।

(९) निर्जरा-भावना

संवर-भावना से वासित चित्त वाला साधक इस भावना के योग्य सिद्ध होता है।

निःशेष कर्मों को जर्जर कर झाड़ देने का वीर्योल्लास इस भावना की प्रमुख विशेषता है।

अत्यन्त चिकने कर्म जो नीर-क्षीर-वत् आत्मा के असंख्य प्रदेशों में घर किए हुए हैं। उन्हें निर्मूल करने की जो विशिष्ट शास्त्रीय प्रक्रिया है। उसका क्रियान्वयन इस भावना में मग्न मुमुक्षु द्वारा हो सकता है।

अत्यन्त गहराई में उतरकर स्वात्म-शुद्धि के लिए चिन्तन करने वाला साधक ही इस भावना की भव्यता का रसास्वादन कर सकता है।

निधत्त एवं निकाचित कर्मों की तीव्रता के विरुद्ध उतने ही तीव्रतर आक्रमण आवश्यक हैं और इस प्रकार के आक्रमण वे ही कर सकते हैं जिन्हें परमात्म-पद में रूचि है, जो परम-आत्मविशुद्धि के सच्चे ग्राहक हैं।

अपना अणु जितना दोष भी मेरु पर्वत जितना बड़ा प्रतीत हो, और पर का मेरु जितना बड़ा दोष भी अणु जितना छोटा प्रतीत हो, यह इस भावना से अभिभूत साधक की लाक्षणिकता है।

साढ़े तीन करोड़ रोमों में शुद्ध आत्म-स्नेह की प्रतिष्ठा का लक्ष्य रखकर इस भावना में मग्न होना है।

(१०) लोक-स्वभाव भावना

इस भावना में लोक के विशाल स्वरूप का विचार करना है। मन का स्वभाव चंचल है। स्वेच्छानुसार विभिन्न विषयों में सतत् भटकते रहने का इसका जो स्वभाव है उसे इस लोक-भावना के विशाल चिन्तन द्वारा जिनाज्ञानुसार चिन्तन करने वाला बनाकर सुधारना है। यथेच्छ रीति से फिरते रहने वाले मन को जिनाज्ञानुसार शुभ भावनाओं में रममाण करना है।

इस लोक के ऊपरी भाग को ऊर्ध्वलोक, नीचे के भाग को अधोलोक और हम जिस भूमि पर रहे हुए हैं उसे तिर्च्छालोक कहते हैं। इस प्रकार यह लोक तीन भागों में विभाजित है।

यह लोक स्वयं-सिद्ध, नित्य है। इसका कर्त्ता अथवा स्वामी कोई नहीं है। इसमें विद्यमान एक भी जीव अथवा परमाणु का कदापि सर्वथा नाश नहीं होता।

यह लोक षड्द्रव्यात्मक है, अर्थात् जिसमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल ये छः द्रव्य होते हैं, उसे 'लोक' कहा जाता है। जहाँ केवल आकाशद्रव्य ही है, वह 'अलोक' कहा जाता है।

अनन्त ब्रह्माण्ड के मध्य एक पुरुष कमर पर अपने दोनों हाथ टिकाकर और दोनों पाँव नीचे से चौड़े रखकर खड़ा हो। उस आकार का यह लोक होने से यह 'लोक-पुरुष' के नाम से भी पहचाना जाता है।

'रज्जु' असंख्य योजन प्रमाण एक नाप विशेष का नाम है। इस लोक का ऊपर से नीचे तक नाप चौदह रज्जु प्रमाण है।

जैनागमों में 'रज्जु' का नाप एक उपमा द्वारा निम्नानुसार बताया गया है —

कोई विशेष शक्तिशाली देव आँख एक पलक झपके उतने समय में एक लाख योजन चले इतनी तीव्र गति से छः माह तक वह निरन्तर दौड़ता ही रहे और इस प्रकार दौड़ते हुए छः माह में वह जितना अन्तर काटे उसे एक 'रज्जु' अथवा एक 'राज' कहते हैं।

इस भावना में चौदह राजलोक में बसे मनुष्यों, देवों, तिर्यंचों एवं नारकी जीवों के रहने के स्थानों आदि का तथा क्षेत्रों, पहाड़ों, समुद्रों आदि का तथा लोक में विद्यमान अनेक द्रव्यों एवं उनके पर्यायों, जो उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य स्वभाव वाले हैं, उनका शास्त्र-सापेक्षतापूर्वक चिन्तन करना है। इस चिन्तन से चित्त की राग-द्वेषात्मक वृत्तियों का शमन होता है, पर-पदार्थों के प्रति आसक्ति नष्ट हो जाती है, जिससे चित्त निर्मल, शांत एवं स्थिर बनता है।

चौदह राजलोक की जो आकृति है उसके समान ही पुरुष-आकृति वाले हम हैं। इस आकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करके इस आत्मा को चौदह राजलोक-व्यापी बनाने की भावना में ओत-प्रोत होना ही इस भावना का केन्द्रवर्त्ती उद्देश्य है।

केवली समुद्घात के समय आत्मा अपने प्रदेशों को चौदह राजलोक में व्याप्त कर पूर्णत्व की प्रक्रिया की साधना करता है।

पिण्ड में निहित आत्मा को ब्रह्माण्डव्यापी बनाने की अद्भुत कला इस भावना के सतत अभ्यास से सिद्ध की जा सकती है। इसके परिणामस्वरूप पुद्गलाशक्ति क्षीण होती है, आत्मरति दृढ़तर बनती है, ज्ञान-गर्भित वैराग्य प्रबलतर बनता है और ध्यान के विषयभूत आत्मा का प्रभाव दृढ़तापूर्वक अनुभव किया जाता है।

(११) धर्म-स्वाख्यात भावना

इस भावना में अनन्त उपकारी श्री जिनेश्वर भगवान द्वारा प्रकाशित धर्म के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करें।

यह धर्म कैसा है?

यह धर्म समस्त कर्मों का मूलोच्छेदन करने के स्वभाव वाला है। राग-द्वेष-मोह और अज्ञान के वशीभूत होकर अनन्त संसार में परिभ्रमण करते जीवों के तारणहार इस धर्म का आत्मा निर्मल स्नेह परिणाम है।

यह शुद्ध स्नेह परिणत होने पर ही आत्म-वस्तु के शुद्ध स्वभाव कां स्पष्ट अनुभव होता है।

इस भावना में ज्यों-ज्यों प्रगति होती जाती है, त्यों-त्यों अधर्म का जो आत्म-वस्तु का स्वभाव नहीं है। जीव के साथ सम्बन्ध टूटता जाता है।

तात्पर्य यह कि जड़ के प्रति राग और जीव के प्रति द्वेष इस भावना के अभ्यास से नष्ट होता है। तथा अविनाशी आत्मा का स्वभाव अनुभव गोचर होता है।

विश्व-वत्सल श्री जिनेश्वर देवों द्वारा प्रकाशित इस धर्म में श्रुत धर्म एवं चरित्र-धर्म का भी समावेश होता है।

(१२) बोधि-दुर्लभ भावना

इस भावना में चिन्तन करना कि इस जगत् में मनुष्य भव, उसमें भी पन्द्रह कर्म-भूमि में जन्म, उसमें भी अनार्य देश में नहीं परन्तु आर्य देश में जन्म, उसमें भी नीच कुल में नहीं, परन्तु उत्तम आर्य-कुल में जन्म और उसमें भी अखण्ड पाँच इन्द्रिय-पूर्ण आरोग्य एवं दीर्घ आयु उत्तरोत्तर प्रत्येक दुर्लभ है। यह सब प्राप्त हो फिर भी उसमें उत्तम कुल-संस्कार तथा सन्त समागम की रूचि प्राप्त होना, उसमें भी शुद्ध उपदेशक सन्त पुरुष प्राप्त होना, और यह मिलने पर भी उनके पास शुद्ध धर्म-तत्त्व श्रवण करने के लिये मिलना कठिन है।

यह सब मिलने पर भी 'बोधि' अर्थात् 'आत्म-बोध' अर्थात् जिन-धर्म की स्पर्शना होना अत्यन्त दुर्लभ है।

अनादि अनन्त संसार में परिभ्रमण करते इस जीव ने अनेक बार स्वर्ग के सुख भी प्राप्त किए हैं।

यहाँ संसार में मनुष्य-भव आदि उत्तम सामग्री प्राप्त होने पर भी हम क्या प्राप्त करने के पीछे अपना देव-दुर्लभ भव का उपयोग कर रहे हैं?

प्राप्त करने योग्य शुद्ध आत्मा के दर्शन एवं मिलन के लिये दिन-रात श्रम करने की भूख जागृत नहीं हुई।

यह भावना ही इसे जागृत करती है। ध्यान-धारा टूटने पर ध्याता को इन समस्त भावनाओं से चित्त को संपृक्त करना चाहिए।

इन बारह भावनाओं का नित्य चिन्तन करने से भव-दुःख-वर्द्धक वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं और आत्म-सुखदायी स्वस्थता प्राप्त होती है, जिसके फलस्वरूप ध्यान सुलभ होता है, ध्यान के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

पर-वस्तु का विचार तक जिसे व्याकुल कर दे ऐसे पवित्र चित्त की आह्लादक प्रसन्नता की इन भावनाओं द्वारा रक्षा होती है, जिससे 'जयणा' एवं 'उपयोग' स्वभाव-भूत बनते हैं —

तात्पर्यार्थ यह है —चिन्ता का सामान्य अर्थ शास्त्र-चिन्तन अथवा तत्त्व-चिन्तन है।

चराचर जगत् के पदार्थों (द्रव्यों) के बाह्य एवं अभ्यन्तर स्वरूप का चिन्तन जितना विशाल एवं सूक्ष्म होता है, उतना ही विशाल एवं सूक्ष्म ध्यान भी बनता है।

'ध्यान' चित्त की निष्कम्प एवं निश्चल अवस्था है। ऐसी अवस्था में अन्तर्मुहूर्त ४८ मिनट से तनिक कम समय से अधिक नहीं रहा जा सकता।

'चिन्ता' चित्त की चंचल अवस्था है। चिन्तन के समय भी चित्त भिन्न-भिन्न द्रव्यों के विकल्प में व्यस्त होता है, जबकि ध्यान में चित्त निश्चल होता है।

जब मन का स्थिरतापूर्वक ध्यान होता है तब किसी एक ही विषय का चिन्तन हो तो उसे 'चिन्ता' भी कहा जा सकता है और दो ध्यानों के मध्य अर्थात् एक ध्यान समाप्त होने के पश्चात अन्य पदार्थ-विषयक ध्यान में साधक अपना चित्त स्थिर करने के लिए उस विषय का चिन्तन करता है उसे 'ध्यानान्तरिका' कहते हैं।

मार्ग में चलता हुआ पथिक (प्रवासी) दो राह आने पर ठहर कर सोचता है कि अब किस मार्ग पर चलूँ? तत्पश्चात् वह अपने इष्ट स्थान का विचार कर उसके अनुकूल दिशा वाले मार्ग पर चलने लगता है, उसी प्रकार साधक भी दूसरा ध्यान प्रारम्भ करने से पूर्व 'अब मुझे कौन-सा ध्यान करना

है?' उसकी प्रज्ञा की साक्षी से विचार कर आत्म-स्वभाव के अनुकूल ध्यान में स्थिर होता है।

प्रस्तुत प्रकरण में 'चिन्ता' के सात भेद कर उसके स्वरूप की विविधता का दिग्दर्शन कराया गया है। चिन्ता का भावना, योग एवं ध्यान के साथ कार्य-कारण रूप गहरा सम्बन्ध है।

भावना भी ध्यान का पूर्वाभ्यास है। केवल विचार मात्र से कार्य सिद्ध नहीं होता। कार्य-सिद्धि के लिए तदनुरूप प्रवृत्ति अनिवार्य है।

'भावना' क्रियात्मक है, ध्यानाभ्यास की एक प्रवृत्ति है, ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र रूप मोक्ष-साधना का निष्काम भाव से सतत अभ्यास भावना है। भावना से मन, वाणी और काया—तीनों योग निर्मल बनते हैं।

भववर्द्धक परिबलों का भाव (मूल्य-महत्त्व) नहीं रखना बल्कि मोक्ष-प्रद ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि को भाव (मूल्य) प्रदान करना 'भावना' का रहस्य है।

निश्चल, निष्प्रकम्प ध्यान की सिद्धि के लिए मन, वचन और काया इन तीनों योगों की निर्मलता एवं स्थिरता लाना अनिवार्य है। भावना के चार प्रकारों के अभ्यास से उक्त तीनों योगों का शुद्धिकरण होता है।

तत्त्व अथवा परमतत्त्व सम्बन्धी चिन्ता चिन्तन करने के साथ उनकी भावना अर्थात् ज्ञानादि आचारों का परिपालन करने से योग, वीर्य, स्थाम आदि पुष्ट बनते हैं। तथा योग आदि की पुष्टि से 'ध्यान' 'परम-ध्यान' आदि उत्तरोत्तर विशुद्धतर कोटि के बनते हैं।

विशुद्ध ध्यान में योग आदि की पुष्टि एवं शुद्धि कारणभूत हैं और योग की वृद्धि एवं शुद्धि में चिन्ता एवं भावना कारणभूत है।

भावना का फल — (१) ज्ञान-भावना के सेवन से मन शुद्ध होता है। श्रुतज्ञान द्वारा प्राप्त द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप का ज्ञान ध्यान को निश्चल बनाता है।

(२) दर्शन-भावना के सेवन से तत्त्व-परमतत्त्व के प्रति अटूट श्रद्धा, स्थिरता एवं शमादि गुण प्राप्त होते हैं। सम्यग् दर्शन की शुद्धि होती है और साधना में भ्रान्ति का निवारण होता है।

(३) चारित्र-भावना के पालन से पूर्व-संचित कठोर कर्मों की निर्जरा होती है, नए कर्मों का बन्धन नहीं होता और पुण्यानुबंधी पुण्य पुष्ट होता है।

इन तीनों भावनाओं द्वारा ध्यान-शक्ति सहज स्फुरित होती है।

द्रव्य-चारित्र, भाव-चारित्र स्वरूप आत्म-रमणता का कारण है। इसके पालन से ध्यान-रूप भाव-चारित्र अवश्य प्रकट होता है।

(४) जगत् के पदार्थों के स्वरूप की विचित्रता एवं विनश्वरता जान लेने से चित्त भौतिक

कामनाओं तथा आकर्षणों से निःसंग एवं निराशंस बनता है। जिससे ध्यान-साधना में निश्चलता आती है।

इस प्रकार चिन्ता एवं भावना से ध्यान-योग में सरलतापूर्वक प्रवेश संभव होता है, प्रगति होती है तथा क्रमशः उसका प्रकर्ष होता है।

चौबीस प्रकार के ध्यान-मार्गों का निरूपण करने के पश्चात् उनमें प्रदर्शित कतिपय पदार्थों को ग्रन्थकार ने स्वयं स्पष्ट किया है, जिनमें से चिन्ता, भावना एवं अनुप्रेक्षा के स्वरूप पर हम विचार कर चुके हैं।

अब चौबीस ध्यान-भेदों में सबसे विशाल त्रिभुवन व्याप्त 'परम-मात्रा' ध्यान में चौबीस वलयों से परिवेष्टित आत्मा का ध्यान करने का विधान किया है। उन चौबीस वलयों में से कतिपय महत्त्वपूर्ण रहस्यमय वलयों का जो विशेष स्वरूप ग्रन्थकर्त्ता ने स्पष्ट किया है, उन पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

दसवें वलय में जिन सोलह विद्यादेवियों की स्थापना करनी है, उनके नाम निम्नलिखित हैं —

सोलह विद्यादेवियों के नाम

**मूलपाठ — रोहिणी-प्रज्ञप्ति-वज्रशृंखला-वज्राङ्कुशी-अप्रतिचक्रा-
पुरुषदत्ता-काली-महाकाली-गौरी-गान्धारी-ज्वालामालिनी-
मानवी-वैरोट्या-ऽच्छुप्ता-मानसी-महामानसीतिविद्या-देवताः॥**

अर्थ — (१) रोहिणी, (२) प्रज्ञप्ति, (३) वज्रशृंखला, (४) वज्राकुंशी, (५) अप्रतिचक्रा, (६) पुरुषदत्ता, (७) काली, (८) महाकाली, (९) गौरी, (१०) गांधारी, (११) ज्वालामालिनी, (१२) मानवी, (१३) वैरोट्या, (१४) अच्छुप्ता, (१५) मानसी और (१६) महामानसी, ये सोलह विद्यादेवियाँ हैं।

विवेचन — संतिकरं स्तोत्र, तिजयपहूत्त, बृहत्शान्ति, सूरि-मन्त्र, सिद्धचक्र-यन्त्र, ऋषिमंडल स्तोत्र आदि में सोलह विद्यादेवियों का स्मरण किया जाता है।

'अर्हं' की ध्यान प्रक्रिया में भी सोलह विद्यादेवियों द्वारा अभिषेक किये जाने वाले आत्मा का चिन्तन करने का विधान है। इससे समझा जा सकता है कि मन्त्र-साधना एवं ध्यान-साधना में विद्यादेवियों का स्मरण उपकारक सिद्ध होता है।

भवनयोग एवं करणयोग आदि का वर्णन

'परम-मात्रा' ध्यान के चौबीस वलयों में बाइसवां और तेइसवां वलय क्रमशः भवनयोग और करणयोग का है।

ये भवनयोग और करणयोग क्या हैं, उनका विचार यहाँ उनके बताये गए छियानवे-छियानवे भेदों द्वारा किया जाएगा।

सर्वप्रथम ग्रन्थकार महर्षि योग के मुख्य आठ भेदों का वर्णन कर रहे हैं—

भवनयोगादि स्वरूपं चेदम्–

मूलपाठ — "जोगो[१] विरियं[२] थामो[३], उच्छाह[४] परक्कमो[५] तहा चेट्ठा[६]।
सत्ती[७] सामत्थं[८] चिय, चउगुण बारट्ठ छन्नउइ॥"

अर्थ — (१) योग, (२) वीर्य, (३) स्थाम, (४) उत्साह, (५) पराक्रम, (६) चेष्टा, (७) शक्ति और (८) सामर्थ्य — इन सबके प्रणिधान आदि चार-चार भेद हैं, तथा इनके प्रत्येक के जघन्य-मध्यम और उत्कृष्ट इस प्रकार तीन-तीन भेद हैं। अत: ८ × ४ × ३ = ९६ भेद होते हैं।

मूलपाठ — (१) योग — जीव प्रदेशानां कर्मक्षयं प्रति व्यापारणं नियोगिनामिव जीवेन राज्ञेव योग:।

(२) वीर्य — जीवप्रदेशै: कर्मण: प्रेरणं ध्यानाग्नौ चेटिकयेव कचवरस्य।

(३) स्थाम — जीवप्रदेशेभ्य: क्षपणार्थं कर्मप्रदेशानामाकर्षणं दन्तालिकयेव कचवरस्य?

(४) उत्साह — जीवप्रदेशेभ्य: कर्मणामूर्ध्वं नयनं नलिकयेव जलस्य।

(५) पराक्रम — अधोनयनं कर्मण: सच्छिद्रकुतुपात् तैलस्यैव घण्टिकायां वाऽमृतकलाया:।

(६) चेष्टा — स्वस्थानस्य कर्मण: शोषणं तप्तायसभाजनस्यजलस्येव।

(७) शक्ति — जीव कर्मणोर्वियोगं प्रत्याभिमुख्यजननं तिलानामिव-तैलवियोजनं यथा घाणकेन निपीडनम्।

(८) सामर्थ्य — साक्षाज्जीव-कर्मणोर्वियोगकरणं खलतैलयोरिव।

अर्थ — (१) योग —जिस प्रकार राजा अपने अधिकारियों का (कोई कार्य आने पर) क्रियाशील करता है, उस प्रकार जीव जिस ध्यान विशेष से अपने आत्म-प्रदेशों को कर्म-क्षय के लिए सक्रिय बनाता है वह 'योग' कहलाता है।

(२) वीर्य —जिस प्रकार दासी के द्वारा कूड़ा-कर्कट बाहर फिंकवाया जाता है, उस प्रकार जीव जिस ध्यान विशेष से आत्म प्रदेशों द्वारा कर्मों को ध्यानाग्नि में होमने की प्रेरणा देता है, वह 'वीर्य' कहलाता है।

(३) स्थाम —जिस प्रकार (भूमि पर पड़े) कूड़े-कर्कट को दंताली से खींच लिया जाता है, उस प्रकार जीव आत्म-प्रदेशों में से कर्म-दलों को उनका क्षय करने के लिए खींच लाता है, वह 'स्थाम' कहलाता है, अर्थात् जिस ध्यान विशेष से आत्म-प्रदेशों में से कर्म-दलों को खींच लिया जाता है उसे 'स्थाम' कहा जाता है।

(४) उत्साह — जिस प्रकार नली के द्वारा जल को ऊपर चढ़ाया जाता है, उस प्रकार जिस ध्यान विशेष से आत्म-प्रदेशों में से कर्मों को ऊपर ले जाना अर्थात् कर्मों का ऊर्ध्वीकरण करना उत्साह कहलाता है।

(५) पराक्रम —जिस प्रकार छेदवाले पीप में से तेल नीचे डाला जाता है अथवा अमृतकला[१] में से जिस प्रकार घटिका में अमृत झरता है, उस प्रकार ऊपर गये हुए कर्मों को नीचे ले जाना अर्थात् ऊपर चढ़े हुए कर्मों का अधोनयन (नीचे ले जाना) 'पराक्रम' कहलाता है।

(६) चेष्टा —जिस प्रकार के लोहे के तप्त भाजन में रहा हुआ जल सूख जाता है, उस प्रकार अपने स्थान में रहे हुए कर्मों को सुखा देना 'चेष्टा' कहलाता है, अथवा नीचे उतरे हुए कर्मों को शोषने की क्रिया 'चेष्टा' कहलाती है।

(७) शक्ति —जिस प्रकार तिलों में से तेल अलग करने के लिए तिलों को कोल्हू में पेरा जाता है, उस प्रकार जीव एवं कर्मों का वियोग करने के लिए अभिमुख होने को 'शक्ति' कहा जाता है।

(८) सामर्थ्य —जिस प्रकार खली और तेल अलग किये जाते हैं, उस प्रकार कर्म और जीव का साक्षात् वियोग करना 'सामर्थ्य' कहलाता है, अथवा आत्म-प्रदेशों में से कर्मों को सर्वथा अलग करना 'सामर्थ्य' है।

विवेचन — अनन्त ज्ञान, दर्शन, चरित्र आदि गुणों की तरह 'वीर्य' भी आत्मा का एक विशेष गुण है, जो प्रत्येक जीव में न्यूनाधिक अंश में अवश्य विद्यमान होता है।

'योग' शब्द से यहां मोक्ष के साथ जोड़ने वाले शुभ व्यापार (शुभ प्रवृत्ति) और उसमें प्रेरक आत्म-शक्ति विवक्षित है।

ध्यान योग में (निश्चलता) स्थिरता लाने वाला आत्म-वीर्य है। उसकी जिस प्रमाण में प्रबलता होती है, उस प्रमाण में निश्चल ध्यान द्वारा कर्म-क्षय होने से आत्मा शुद्ध, शुद्धतर बनता है।

योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति तथा सामर्थ्य के जनक जो भिन्न-भिन्न आलम्बन हैं, उनका निर्देश तथा विस्तृत विवेचन ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के अन्त में किया है।

---

१. परमाक्षर मात्रा ही 'अमृतकला' है।

अन्ये परां शिखां प्राहुरूर्ध्वाधो व्यापिकां किल।
परमाक्षर मात्रा सा सेवामृतकलोच्यते॥

—*उपमिति भवप्रपंच कथा* प्रस्ताव ८ श्लोक-७४६

योग, वीर्य आदि द्वारा कर्म के क्षय-क्षयोपशम के लिए जो कार्यवाही होती है उसे पाठकगण सरलता-पूर्वक समझ सकें उस हेतु से यहां योग आदि के आलम्बनों आदि का संक्षेप में विचार करेंगे।

योग, वीर्य, आदि के कार्य-कारण भेदों का विचार

(१) योग के कार्य-कारण —योग-शक्ति के प्रभाव से आत्मा अपने प्रदेशों को कर्म-क्षय के लिए सक्रिय करता है, जैसे राजा अपने अधिकारी को राज-कार्य के लिए कार्यशील (क्रियाशील) बनाता है।

आत्मा जब अहिंसा, संयम एवं तप आदि धर्मानुष्ठानों का शुद्ध आशय से सेवन (पालन) करती है, तब उसके प्रभाव से मन, वचन और काय-योग की शुद्धि एवं स्थिरता होने से आत्म-प्रदेशों में ऐसी निश्चलता आती है जिससे कर्म-क्षयकारी कार्य करने की तत्परता प्रकट होती है।

कर्म-क्षय करने की तत्परता में मन, वचन और काय-योग की शुद्धता एवं स्थिरता निमित्तरूप बनती है इसलिए शुद्ध एवं स्थिर मन, वचन और काय-योग को 'योग' के आलम्बन कहा गया है।

योग का कार्य —कर्मक्षय हेतु तत्परता, सक्रियता प्रकट करना।

योग का कारण है —शुद्ध मन, वचन और काया।

(२) वीर्य के कार्य-कारण —वीर्यशक्ति के प्रभाव से आत्मा कर्म-क्षय के लिए तत्पर हुए अपने आत्म-प्रदेशों को प्रेरित करती है, धक्का लगाती है, ताकि आत्म-प्रदेशों में चिपके हुए कर्म-दल उखड़ जाएँ अर्थात् स्थान-भ्रष्ट हो जायें। (जिस प्रकार घर में से कूड़ा-कर्कट दासी द्वारा बाहर निकलवाया जाता है उस प्रकार यह समस्त प्रक्रिया होती है।)

'योग' की शक्ति की अपेक्षा 'वीर्य' की शक्ति अधिक प्रबल होती है, जिसका प्रमुख कारण ज्ञानादि पाँच आचारों का विशुद्ध पालन है।

'वीर्य' के आलम्बन के रूप में ज्ञानाचार आदि पाँच आचार बताये हैं। ज्यों-ज्यों पंचाचार का परिशुद्ध पालन होता है, त्यों-त्यों वीर्य शक्ति की शुद्धता एवं पुष्टता बढ़ती जाती है।

वीर्य का कार्य है कर्म-दल उखाड़ डालना।

वीर्य का कारण-पंचाचार का विशुद्ध पालन (ज्ञानाचार, दर्शनाचार-चारित्राचार, तपाचार, एवं वीर्याचार ये पंचाचार हैं)

(३) स्थाम के कार्य-कारण —स्थाम विशुद्ध ध्यान-रूप है। इसमें योग और वीर्य की अपेक्षा अधिक सामर्थ्य है। इसमें ज्ञान आदि पांच आचारों के सेवन से अपूर्व भावोल्लासयुक्त विशुद्ध आत्म-परिणाम-रूप कारण ही आलम्बन रूप होता है।

अपूर्वकरण (उपशमनाकरण) करते समय जीव को प्रति समय अनन्त गुना विशुद्ध-आत्म-परिणाम

होता है। 'उपशम-सम्यक्त्व' की प्राप्ति के समय जीव शुभ कर्मों का **बंध** करता है, अशुभ कर्म-प्रकृतियों का शुभ में **संक्रमण** करता है। शुभ कर्मों की स्थिति एवं रस में **वृद्धि-उद्वर्तना** करता है, अशुभ कर्मों की स्थिति एवं रस में **हानि अपवर्तना** करता है, अशुभ कर्मों का क्षय करने के लिए उनकी **उदीरणा** करता है, मिथ्यात्व मोहनीय का उपशम करता है और कतिपय शुभ प्रकृतियों की **निधत्त** एवं **निकाचना** भी करता है।

इस तरह विशिष्ट वीर्य-शक्ति अथवा विशुद्ध आत्म-परिणाम के द्वारा उपरोक्त आठों कार्य होते हैं। वह विशिष्ट वीर्य अथवा विशुद्ध आत्म-परिणाम 'स्थाम' योग के आलम्बन-कारण बनते हैं। अर्थात् स्थाम उसका कार्य है।

इस स्थाम शक्ति के प्रभाव से आत्मा अपने प्रदेशों में से अलग हुए उखड़े कर्म-दलों को उसी प्रकार से आकृष्ट करता है, जिस प्रकार दंताली के द्वारा कूड़ा-कर्कट, घास आदि खींच लिया जाता है।

जिस प्रकार इधर-उधर पड़े घास को दंताली की सहायता से एकत्रित किया जाता है, उस प्रकार 'स्थाम' शक्ति के द्वारा ध्यान में ऐसी प्रबलता आती है कि जिससे आत्म-प्रदेशों से बिछुड़े हुए कर्म-दल एकत्रित हो जाते हैं, जिससे उनको क्षय करने का कार्य सरल बन जाता है।

स्थाम के कार्य में सहायक-आलम्बन मूल आठ प्रकार के करण हैं —

(१) बन्धन-करण।
(२) संक्रमण-करण।
(३) उद्वर्तना-करण।
(४) अपवर्तना-करण।
(५) उदीरणा-करण।
(६) उपशमना-करण।
(७) निधत्त-करण।
(८) निकाचना-करण।

'करण' का अर्थ है—आत्मा की विशिष्ट वीर्य-शक्ति अथवा आत्मा का विशुद्ध-परिणाम।

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्य-शक्ति अथवा विशुद्ध आत्म-परिणाम रूप आठ करण 'स्थाम योग' के आलम्बन हैं।

(४) उत्साह के कार्य-कारण — उत्साह शक्ति के प्रभाव से आत्मा एकत्रित किये हुए कर्म-दलों को ऊपर ले जाती है, जिस प्रकार नली द्वारा जल को ऊपर ले जाया जाता है।

'उत्साह' की शक्ति के उद्भव में मुख्य आलम्बन (कारण) हैं—ऊर्ध्वलोक की वस्तुओं तथा

देवलोक आदि के स्वरूप का श्रुत-सापेक्ष चिन्तन।

'स्थाम्' की अपेक्षा उत्साह की शक्ति विशेष होती है।

उत्साह का कार्य है—कर्म स्कन्धों का ऊर्ध्व-नयन।

उत्साह कारण है—ऊर्ध्व-लोक के पदार्थों का श्रुत-सापेक्ष चिन्तन।

(५) पराक्रम के कार्य-कारण —पराक्रम की शक्ति के द्वारा ऊपर चढ़ाए हुए कर्म-स्कन्धों को नीचे लाया जाता है, जिस प्रकार छेद वाली कुण्डी में से तेल-धाराबद्ध प्रवाह में नीचे आता है, अथवा अमृत-कला में से निकलकर घंटिका-जिह्वामूल में अमृत झरता है।

इस पराक्रम शक्ति के प्रकटीकरण में आलम्बन भूत बनता है—अधोलोक के पदार्थों (भवनपति देवों तथा नरक आदि) के स्वरूप का श्रुत-सापेक्ष चिन्तन।

'उत्साह' से अधिक सामर्थ्य 'पराक्रम' में है। इसके द्वारा ऊपर चढ़े हुए कर्मों को नीचे पछाड़ा जाता है, जिससे उनमें फल प्रदान करने का सामर्थ्य नष्ट हो जाता है।

कर्म-पुद्गलों के ऊर्ध्व-नयन तथा अधो-नयन की क्रिया आत्मा के असंख्यात प्रदेश-सूप क्षेत्र में ही होती है।

जिस प्रकार उदीरणाकरण द्वारा अनुदित कर्मदलों को खींचकर उदयावलिका में लाया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी आत्म-ध्यान-जनित अपनी विशिष्ट वीर्य-शक्ति द्वारा कर्मदलों का क्षय करने के लिए उन्हें नीचे पछाड़कर उनकी शक्ति नष्ट कर दी जाती है।

'पराक्रम' का कार्य है —कर्म-स्कन्धों का अधोनयन।

'पराक्रम' का कारण है —अधोलोक के पदार्थों का श्रुत-सापेक्ष-चिन्तन।

(६) चेष्टा के कार्य-कारण —जब 'चेष्टा' की प्रबल शक्ति आत्मा में प्रकट होती है तब इसके प्रभाव से स्व-स्थान में विद्यमान कर्म-स्कन्धों का शोषण हो जाता है, अर्थात् आत्मा इस चेष्टा की शक्ति द्वारा कर्म-दलों को जिस प्रकार अत्यन्त तप्त तवे पर जल डालने से तुरन्त उसका शोषण हो जाता है उस प्रकार 'चेष्टा' ध्यानाग्नि की प्रबलता से आत्म-प्रदेशों में विद्यमान कर्म-दलों का शोषण हो जाता है।

चेष्टा शक्ति को प्रकट करने में मुख्य आलम्बन-रूप बनते हैं —तिर्यग्-लोक के पदार्थों-मनुष्य क्षेत्र-ढ़ाई द्वीपों, असंख्य द्वीप-समुद्रों आदि का श्रुत-सापेक्ष-चिन्तन।

चेष्टा का कार्य है—स्व-स्थान-गत कर्मों का शोषण।

चेष्टा का कारण है —तिर्यग् लोक के पदार्थों का श्रुत-सापेक्ष-चिन्तन। पंचाचारों के विशुद्ध पालन के साथ आत्मा जब ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यग्लोक के पदार्थों को सूक्ष्म चिंतन में एकाग्र बनती है,

तब उसमें उत्साह, पराक्रम एवं चेष्टा रूपी विशेष शक्ति उत्पन्न होने पर आत्म-प्रदेशों पर चिपके हुए कर्म-दल ऊपर-नीचे होकर शोषित होने लगते हैं।

तीनों लोकों के इस चिन्तन में 'लोक स्वरूप भावना' एवं 'संस्थान विचय' धर्म-ध्यान अन्तर्भूत हैं, भावना संवररूप है, वह नये आते हुए कर्मों को रोकती है। और ध्यान निर्जरा स्वरूप होने से उससे कर्मों का समूल क्षय होता है।

यहाँ मोहनीय आदि कर्मों के क्षय के लिए तत्पर साधक को सम्पूर्ण लोक का सम्यक् चिन्तन उत्साह, पराक्रम एवं चेष्टा रूप प्रबल ध्यान-शक्ति उत्पन्न कर कर्म-क्षय में निमित्त बनता है।

(७) शक्ति के कार्य-कारण—जीव से कर्म-प्रदेशों का वियोग करने के लिये अभिमुख होना 'शक्ति' का कार्य है। जिस प्रकार तिलों में से तेल अलग करने के लिये उन्हें कोल्हू में पेरा जाता है, उसी प्रकार यहाँ प्रबल ध्यान-शक्ति के द्वारा कर्मों को आत्मा से विलग किया जाता है।

'शक्ति' का मुख्य आलम्बन (कारण) तत्त्व-चिन्ता तथा परम तत्त्व-चिन्ता है।

(१) जीव आदि तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करना तत्त्व-चिन्ता है।

(२) ध्यान-परम-ध्यान आदि ध्यान-मार्ग के चौबीस भेदों का स्वरूप-चिन्तन करना 'परम तत्त्व-चिन्ता' कहलाता है।

इस प्रकार द्रव्यानुयोग एवं योग-ध्यान-विषयक चिन्तन, मनन, एवं परिशीलन से इस शक्ति का उत्थान एवं विकास होता है।

आत्म-द्रव्यों अथवा उनके गुण-पर्यायों के चिन्तन में ज्यों-ज्यों एकाग्रता सधती जाती है, त्यों-त्यों 'शक्ति-योग' परिपुष्ट एवं शुद्ध बनता है और उसके द्वारा आत्म-प्रदेश निश्चल होने से उसमें विद्यमान कर्म-स्कन्ध, तिलों में से तेल अलग होने की तरह अलग होने लगते हैं।

शक्ति का कार्य है—आत्मा तथा कर्म-प्रदेशों को परस्पर सर्वथा अलग करने के लिये अभिमुख होना।

शक्ति का कारण है—तत्त्व-चिन्ता एवं परम-तत्त्व-चिंता।

(८) सामर्थ्य के कार्य-कारण—तिलों तथा खली की तरह जीव तथा कर्मों का साक्षात् वियोग करना सामर्थ्य योग का कार्य है।

जिस प्रकार तिल और खली दोनों अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार सामर्थ्य-योग-जनित ध्यान विशेष से मोहनीय आदि कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है, तब जीव एवं कर्म-दल सर्वथा अलग हो जाते हैं।

सामर्थ्य-योग में कारण-आलम्बन रूप बनता है—सिद्धायतन एवं सिद्ध भगवान का एकाग्रतापूर्वक चिन्तन।

सिद्धायतन (श्री जिन-चैत्य एवं श्री जिन-प्रतिमा) और सिद्ध भगवानों के स्वरूप का चिन्तन सामर्थ्य-योग (सर्वोत्कृष्ट-योग) को उत्पन्न करता है, पुष्ट करता है, जिस सामर्थ्य-योग द्वारा आत्मा अपने प्रदेशों में स्थित कर्म-दलों को सर्वथा अलग कर सकता है।

इससे एक महत्त्वपूर्ण बात यह फलित होती है कि समस्त प्रकार के चिन्तन, मनन एवं ध्यान में सिद्ध भगवान का, उनके चैत्य एवं प्रतिबिम्ब का चिन्तन, मनन एवं ध्यान सर्वोत्तम है, सर्वाधिक समर्थ है।

श्री जिन-चैत्य एवं श्री जिन-बिम्ब का आलम्बन सिद्ध भगवान के स्वरूप के चिन्तन एवं ध्यान में उपकारक बनता है, अतः सिद्धायतन का चिन्तन एवं ध्यान वास्तव में सिद्ध स्वरूप का ही चिन्तन और ध्यान है।

'सामर्थ्य' का कार्य है —जीव एवं कर्मों का साक्षात् वियोग करना, दोनों को सर्वथा अलग करना।

'सामर्थ्य' का कारण है—सिद्धायतन एवं सिद्ध स्वरूप का चिन्तन।

स्पष्टीकरण—'पंचसंग्रह', 'कम्मपयडी' आदि ग्रन्थों में 'योग'-'वीर्य' आदि शब्दों को एकार्थक नामों के रूप में बताया गया है, उसे सामान्य-स्थूल दृष्टि से समझें। सूक्ष्म दृष्टि से सोचने पर उस हर एक शब्द में कुछ विशेष-अर्थ-संकेत विद्यमान हैं। प्रत्येक के भिन्न-भिन्न कारणों के वर्णन से स्पष्ट किया गया है।

'तत्त्वार्थ-सूत्र' में मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध —इन पांचों शब्दों को एकार्थक कहा गया है, परन्तु सामान्य-स्थूल दृष्टि से, सूक्ष्म दृष्टि से तो वह प्रत्येक शब्द अपना विशेष अर्थ व्यक्त करने वाला है, उदाहरणार्थ —

'मति' वर्तमान में विद्यमान विषय को ग्रहण करती है ।

'स्मृति' भूतकाल के विषय को ग्रहण करती है ।

'चिन्ता' भविष्य काल के विषय को ग्रहण करती है इत्यादि। उस प्रकार यहाँ भी समझें।

इन आठ भेदों का स्थूल दृष्टि से वर्णन किया गया है। अब सूक्ष्म दृष्टि से इन योग आदि के प्रत्येक के बारह-बारह भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं।

मूलपाठ — एतेषामष्टानामपि प्रत्येकं त्रैविध्यं योग-महायोग-परमयोगादिभेदात्जघन्यो योगः, मध्यमो महायोगः, उत्कृष्टः परमयोगः। एवं वीर्यपरमवीर्यादयोऽपि वाच्याः एवं भेदाः॥ २४॥

अर्थ — इन आठों भेदों में से प्रत्येक के योग, महायोग और परम-योग आदि तीन-तीन प्रकार हैं, जिनमें से जो जघन्य होता है, वह 'योग' कहलाता है, मध्यम हो वह 'महायोग' कहलाता है, और जो उत्कृष्ट हो वह 'परमयोग' कहलाता है।

इस प्रकार वीर्य-महावीर्य तथा परम-वीर्य और स्थाम, महास्थाम तथा परम-स्थाम आदि प्रकार समझें।

योग आदि आठ भेदों को इस प्रकार तीन से गुणा करने पर (८×३=२४) उनके चौबीस भेद होते हैं।

मूलपाठ — तेऽपि प्रत्येकं चतुर्धा-प्रणिधान-समाधान-समाधि-काष्ठासमाधिभेदात्।

अर्थ — इन चौबीस भेदों में से प्रत्येक के 'प्रणिधान', 'समाधि', 'समाधान' और काष्ठा—इस तरह चार-चार भेद हैं, जिनका स्वरूप निम्नलिखित है।

प्रणिधान आदि का वर्णन

मूलपाठ — (१) तत्र प्रणिधानमशुभेभ्यो निवर्तनम्।
(२) समाधानं शुभेषु प्रवर्तनम्।
(३) रागद्वेषमाध्यस्थ्यालम्बनं समाधिः।
(४) ध्यानेन मनस एकाग्रतयोच्छ्वासादि निरोधः काष्ठा।
प्रसन्नचन्द्र-भरतेश्वर-दमदन्त-पुष्पभूतयो यथाक्रममत्र दृष्टान्ताः।
एवं चतुर्विंशतिश्चतुर्गुणिता जाताः॥ ९६॥

अर्थ — 'प्रणिधान' अर्थात अशुभ कार्यों से निवृत्त होना।

'समाधान' अर्थात् शुभ कार्यों में प्रवृत्त होना।

'समाधि' अर्थात् राग एवं द्वेष के प्रसंगों में मध्यस्थ भाव (समभाव) रखना।

'काष्ठा' अर्थात् ध्यान के द्वारा मन को एकाग्रता से उच्छ्वास आदि का निरोध करना।

उपरोक्त प्रणिधान, समाधान, समाधि एवं काष्ठा के सम्बन्ध में क्रमशः प्रसन्नचन्द्र-राजर्षि भरत चक्रवर्ती, दमदन्त मुनि तथा पुष्पभूति आचार्य के दृष्टान्त हैं।[१]

इस प्रकार चौबीस को चार से गुणा करने पर २४ × ४ = ९६ प्रकार होते हैं।

विवेचन — आत्मा अनंत शक्ति का स्वामी है। उसमें छिपी हुई शक्तियों को प्रकट करना ही अध्यात्म-योग का कार्य है। साधक ज्यों-ज्यों ध्यान-योग के मार्ग पर अग्रसर होता है, और उसके मन, वाणी एवं तन निर्मल एवं निश्चल बनते हैं, त्यों-त्यों उसमें छिपी हुई (प्रच्छन्न) आत्म-शक्ति क्रमशः प्रकट होती जाती है।

---

१. देखें परिशिष्ट-७

क्रमशः प्रकट होती खिलती हुई इन शक्तियों के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन भाग किए गये हैं।

योग, वीर्य आदि आठों प्रकारों के ऐसे तीन भाग करने से इनके इस तरह चौबीस प्रकार होते हैं।

योग-वीर्य आदि जब जघन्य कोटि के होते हैं तब वे अपने योग, वीर्य-स्थाम-उत्साह-पराक्रम-चेष्टा-शक्ति और सामर्थ्य ऐसे (विशेषणों से रहित) सामान्य-नामों से ही जाने जाते हैं। जब ये शक्तियाँ मध्यम कक्षा तक पहुँचती हैं उसी समय उनके साथ 'महा' विशेषण जोड़कर 'महायोग', 'महावीर्य', 'महास्थाम', 'महाउत्साह', 'महापराक्रम', 'महाचेष्टा', 'महाशक्ति' और 'महासामर्थ्य' —ऐसे नामों से सम्बोधित किए जाते हैं।

जब ये शक्तियाँ उत्कृष्ट कोटि की बनती हैं, तब उनके साथ 'परम' विशेषण लगाकर क्रमशः 'परमयोग', 'परमवीर्य', 'परमस्थाम', 'परमउत्साह', 'परमपराक्रम', 'परमचेष्टा', 'परमशक्ति' और 'परमसामर्थ्य' के नामों से पहचानी जाती हैं।

योग-वीर्य आदि आठ भेदों को जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट इन तीन विभागों से गुणा करने पर इनके (८ × ३ = २४) चौबीस भेद हो जाते हैं, और इनमें प्रत्येक के प्रणिधान, समाधान, समाधि एवं काष्ठा — इस तरह चार-चार प्रकार होते हैं।

इस प्रकार चौबीस भेदों को प्रणिधान आदि चार से गुणा करने पर (२४ × ४ = ९६) छियानवें भेद होते हैं।

प्रणिधान आदि का स्वरूप —प्रणिधान, समाधान-समाधि और काष्ठा—ये शब्द ध्यान-योग तथा अध्यात्म-ग्रन्थों में अत्यन्त प्रचलित हैं। ये शब्द मन, वाणी एवं काया की उत्तरोत्तर अधिकाधिक निर्मलता एवं निश्चलता के द्योतक हैं।

मन, वचन और काया जब अशुभ प्रवृत्तियों में से निवृत्त होते हैं, तब प्रणिधान की भूमिका आती है।

मन, वचन, काया जब शुभ में प्रवृत्त होते हैं, तब समाधान की भूमिका प्रकट होती है।

जब राग-द्वेष के प्रसंगों में भी समत्व सुरक्षित रहता है तब समाधि की कक्षा आती है। जब जीवन में ऐसा समत्व सिद्ध होता है, तब मन की निश्चलता की वृद्धि होने पर उच्छ्वास आदि का भी सहज निरोध 'काष्ठा' की भूमिका है।

प्रणिधान आदि योगों में चारित्र-योग

अब हम विचार करेंगे कि सावद्य-अशुभयोग की निवृत्ति रूप और निरवद्य-शुभयोग की प्रवृत्ति स्वरूप प्रणिधान आदि योगों में चारित्र-योग के मुख्य अंगभूत समिति, गुप्ति, महाव्रत एवं सामायिक-समभाव आदि किस प्रकार समाविष्ट हैं, जिससे इन प्रणिधान आदि योगों की विशिष्टता एवं विशालता हृदयंगम हो सके।

'प्रणिधान' एवं 'समाधान' समिति, गुप्ति आदि उत्तरगुणात्मक तथा पाँच महाव्रतरूप मूल-गुणात्मक

व्यवहार-चारित्र के द्योतक हैं। इस व्यवहार-चारित्र के विशुद्ध पालन से प्रकट होने वाली परम समता के सूचक समाधि और 'काष्ठा' हैं।

मनोगुप्ति चारित्र का प्रमुख अंग है।

त्रिप्रकारात्मक इस मनोगुप्ति के दो प्रकार प्रणिधान आदि में इस प्रकार समाये हुए हैं —'प्रणिधान' में अशुभ कल्पना-जाल का निरोध है, 'समाधान' में शुभ विचारों का प्रवर्तन है, 'समाधि' तथा 'काष्ठा' में स्थिर समता है, जिसके प्रभाव से आत्म-रमणता-रूप[1] तीसरा प्रकार 'उन्मनीकरण' में प्राप्त होता है, जिसका वर्णन आगे किया जाएगा।

इसी तरह से मन, वचन, काया की शुभ प्रवृत्ति-रूप पाँच समिति तथा शुभ प्रवृत्यात्मक एवं अशुभ निवृत्यात्मक तीन गुप्ति भी प्रणिधान एवं समाधान में यथार्थ रूप से आ जाती हैं।

ये पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप 'अष्ट प्रवचन माता' अध्यात्म योग की जननी हैं। जीवन में धर्म अथवा अध्यात्म योग को जन्म प्रदान करने वाली, उनका अच्छी तरह संरक्षण एवं संवर्द्धन करने वाली ये आठ (५ + ३ = ८) माताएँ हैं।

श्री 'पन्नवणा' सूत्र की वृत्ति में 'संयतत्त्व' की[2] (साधुत्व की) व्याख्या करते हुए बताया है कि— यहाँ संयतत्त्व अर्थात् निरवद्य (निष्पाप) योग की प्रवृत्ति और सावद्य (पापयुक्त) योग की निवृत्तिरूप अन्तर चारित्र के परिणाम (अध्यवसाय) से युक्त हो उसे जानें।

साधुधर्म (चारित्रयोग) की यह व्याख्या प्रणिधाण आदि चारों योगों में यथार्थ रूप से घटित होने से प्रणिधान आदि चारित्र स्वरूप हैं, यह स्पष्टतया समझा जा सकता है।

साम, सम और सम्म (सम्यक्) सामायिक के तीन प्रकार भी प्रणिधान आदि में समाविष्ट हैं।

(१) साम, सामायिक मधुर परिणामस्वरूप हैं, जिसमें अशुभ निवृत्ति रूप प्रणिधान एवं शुभ प्रवृत्ति रूप समाधान समाविष्ट हैं।

(२) सम सामायिक तुल्य परिणामस्वरूप है अर्थात् राग-द्वेष के प्रसंगों में समता (माध्यस्थ्य रूप) होने से यह समाधि-रूप है।

---

१. **विमुक्तकल्पनाजालं, समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।**
आत्मारामं मनस्तज्ज्ञैर्मनोगुप्ति रुदाहृता॥ ४१॥

'*योगशास्त्र*'-प्रकाश-१

आर्त्त एवं रौद्र परिणाम रूप कल्पनाओं से रहित, समभाव में स्थिर एवं आत्म-स्वभाव में लीन मन को 'मनोगुप्ति' कहते हैं। इस प्रकार मनोगुप्ति के तीन भेद हैं।

२. **संयतत्त्वमिह निरवद्येतर योगप्रवृत्तिरूपमान्तर-चारित्र परिणामानुषक्तमवगन्तव्यम्।**

–*पन्नवणासूत्र-संयमपद वृत्ति*

(३) सम-सामायिक तन्मयता परिणामस्वरूप होने से यह 'काष्ठा' स्वरूप है।

इस प्रकार सोचने पर स्पष्ट ज्ञात होता है, कि प्रणिधान आदि योग व्यवहार एवं निश्चय—दोनों प्रकार के चरित्र की शुद्धि तथा स्थिरता के द्योतक हैं।

चारित्र की शुद्धता तथा स्थिरता में ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों ध्यान की निश्चलता में वृद्धि होती जाती है और इसके प्रभावस्वरूप कर्म-क्षय का कार्य वेगवान् होता जाता है, समस्त बाह्य आवेग सर्वथा शान्त हो जाते हैं।

मन की चार अवस्थाएँ एवं प्रणिधान आदि

प्रणिधान आदि चारों प्रकारों में क्रमशः मन का व्यापार सर्वत्र सूक्ष्मतर होता है।

प्रणिधान में अशुभ चित्त-वृत्ति का निरोध होता है और समाधान में शुभ चित्त-वृत्ति का प्रवाह चलता है, जिससे चित्त की विक्षिप्त एवं यातायात अवस्था का यहाँ अभाव होता है।

समाधि में राग-द्वेष के प्रसंगों में भी समभाव रहता है, जिससे चित्त की स्थिर एवं आनन्दमय 'श्लिष्ट' अवस्था होती है।

'काष्ठा' में मन अत्यन्त एकाग्र होने से वहाँ श्वासोच्छ्‌वास की गति भी सूक्ष्म हो जाती है, जिससे मन की 'सुलीन' अवस्था होती है, अर्थात् मन की स्थिति अत्यन्त निश्चल एवं परमानन्दमय होती है।

इस तरह मन की चार अवस्थाओं में से श्लिष्ट एवं सुलीन अवस्थाओं का प्रणिधान आदि में सद्भाव होता है।

उपरोक्त 'प्रणिधान' आदि के सम्बन्ध में क्रमशः श्री प्रसन्नचंद्र राजर्षि भरतचक्रवर्ती, दमदन्त मुनि और पुष्पभूति आचार्य के दृष्टान्त हैं।

भवनयोग

मूलपाठ — एते मरुदेव्या इव स्वभावेन जायमाना भवनयोगाः।

अर्थ — पूर्वोक्त (योग, वीर्य आदि) ९६ ध्यान के प्रकार मरुदेवी माता की तरह सहज रूप से उत्पन्न हों, तो वह भवनयोग कहलाता है।

विवेचन — भवनयोग में सहज स्वभाव से (नैसर्गिक रूप से) होने वाले ध्यान-योग का निर्देश हुआ है, जो आत्मा में विद्यमान नैसर्गिक (स्वाभाविक) ध्यान-शक्ति को सूचित करता है।

श्री तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता ने 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' सूत्र के द्वारा सम्यग्-दर्शन गुण को प्रकट करने के मुख्य दो हेतु बताये हैं —(१) निसर्ग और (२) अधिगम।

(१) निसर्ग अन्तरंग हेतु है। किसी जीव में बाह्य हेतु के बिना अपने ही शुभ आत्म परिणाम से सम्यग्-दर्शन गुण प्रकट होता है, वह निसर्ग-सम्यग्-दर्शन है।

(२) अधिगम बाह्य हेतु है। किसी जीव में गुरु-उपदेश आदि बाह्य निमित्त की प्रधानता से अन्तरंग निमित्त से सम्यग्-दर्शन गुण (आदि) प्रकट होता है, वह अधिगम-सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन आदि गुणों को प्रकट करने में भिन्न-भिन्न हेतु बताने का कारण प्रत्येक जीव का भिन्न-भिन्न तथाभव्यत्व है।

जीवत्वेन जीव के रूप में समस्त जीव समान होने पर भी मोक्ष-गमन की योग्यता एवं अयोग्यता के कारण भव्य-जीव तथा अभव्य-जीव ये दो भेद होते हैं।

मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता वाले जीव अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के अनुरूप सामग्री प्राप्त होते ही जो जीव मोक्ष प्राप्त कर सके हैं। वे भव्य-जीव कहलाते हैं।

अभव्य अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिए अयोग्य। मोक्ष-प्राप्ति की सामग्री प्राप्त होने पर भी अभव्य-जीव कदापि मोक्ष प्राप्त नहीं करते।

भव्य एवं अभव्य की तात्त्विक व्याख्या यह है कि एक में किसी समय मोक्ष की रूचि जाग्रत होती है, तो दूसरे में अनन्त काल में भी यह रूचि जाग्रत नहीं होती।

प्रत्येक भव्य जीव में भव्यत्व (मोक्ष प्राप्ति की योग्यता) होने पर भी वह समान नहीं होती। प्रत्येक जीव में भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यता होती है। प्रत्येक जीव की इस व्यक्तिगत योग्यता को तथाभव्यत्व कहते हैं।

मोक्ष-प्राप्ति में प्रत्येक भव्य-जीव में क्षेत्र, काल, भाव आदि की भिन्नता होती है, जिसमें उनका उस प्रकार का तथाभव्यत्व कारणभूत है।

प्रत्येक जीव में तथाभव्यत्व भिन्न-भिन्न होने से सम्यग्दर्शन आदि गुणों की प्राप्ति भी भिन्न-भिन्न हेतुओं से होती है। किसी जीव को सम्यग्दर्शन गुण की प्राप्ति निसर्ग से तो किसी को अधिगम से होती है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पूर्व यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण आदि करण अवश्य होते हैं। ये करणध्यान रूप हैं, जिनमें योग, वीर्य आदि शक्तियाँ अंतर्भूत हैं।

मरुदेवी माता की तरह जिन भव्य-जीवों में सम्यग्दर्शन आदि गुण या विभिन्न-शक्तियाँ सहज स्वाभाविक रीति से बाह्य निमित्तों के बिना आत्मा के तथा प्रकार के विशिष्ट शुभ परिणाम से प्रकट होती हैं, उनमें योग के ये छियानवें प्रकार[1] सहज स्वाभाविक रीति से होते हैं, वे 'भवनयोग' रूप हैं।

प्रत्येक मुक्तिगामी जीव को प्रणिधान योग आदि ९६ प्रकार के योग अवश्य प्राप्त होते हैं, इनके बिना कर्मक्षय का कार्य नहीं हो सकता। मोहनीय आदि कर्मों के क्षय के लिए प्रवृत्त जीव को निर्मल एवं निश्चल ध्यान-योग अपेक्षित है।

---

१. 'भवनयोग' के ९६ भेदों के नाम; *देखें परिशिष्ट-३*

प्रस्तुत में वर्णित छियानवें प्रकार के योग धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान की उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करती हुई विशुद्धता एवं एकाग्रता के सूचक हैं।

सहज योग्यता का कारण

जीव मात्र में बोध-व्यापार रूप 'उपयोग' होता है। उपयोग जीव का सहज स्वभाव है, धर्म है,[१] ध्यान में उपयोग की एकाग्रता है।

जीव को अशुभ (आर्त्त-रौद्र) ध्यान का अभ्यास अनादि काल से है। कोई प्रबल पुष्पोदय जागने पर जीव को मरुदेवी माता की तरह सामान्य निमित्त प्राप्त होने पर सहज रूप से अशुभ ध्यान का निरोध हो जाता है और शुभ ध्यान प्रारम्भ हो जाता है, क्रमशः समाधि एवं परम माध्यस्थ भाव प्रकट होता है और वीर्योल्लास की उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर, चार घाती कर्मों का क्षय होकर केवल ज्ञान प्राप्त होता है।

इस तरह जिन जीवों को ध्यान से सम्बन्धित भेदों-उपभेदों अथवा उनकी प्रक्रिया आदि का विशेष ज्ञान नहीं होने पर भी 'उपयोग' की विशेष निर्मलता होने से ध्यान की शक्ति सहज रूप से स्फुरित होती है, वह 'भवनयोग' है।

इन छियानवें भेदों के यथार्थ बोध-पूर्वक जो जीव इस ध्यान का प्रयोग करते हैं, और नित्य के योग्य पुरुषार्थ द्वारा इसमें प्रगति साधते हैं, उसे 'करणयोग' कहते हैं।

नीचे इसके स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है।

करणयोग

मूलपाठ — एत एवोपेत्याभोगपूर्वकं क्रियमाणत्वात् करणयोगाः।

अर्थ — पूर्वोक्त छियानवें प्रकार समझबूझकर (अनुरूप प्रयत्न के द्वारा) किये जाएँ तो वे 'करणयोग' कहलाते हैं।

विवेचन — जो मुक्तिगामी जीव अधिगम से अर्थात् गुरु के उपदेश-शास्त्राभ्यास आदि द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि गुणों अथवा ध्यान योगों का यथार्थ स्वरूप समझकर उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रकट करने के लिए सच्चा पुरुषार्थ करते हैं, उसे 'करणयोग' कहा जाता है।

अब ग्रन्थकार महर्षि, स्वयं ही छियानवें प्रकार के करण बताने वाले हैं, उनमें 'उन्मनीकरण' की व्याख्या में 'भवन' एवं 'करण' की विशेषता का निर्देश करते हुए कहते हैं कि—

श्री तीर्थंकर भगवान, गणधर भगवान, पूर्वधर महर्षि आदि ध्यान के समस्त भेदों के पूर्ण ज्ञाता होने से वे जब प्रयत्नपूर्वक इन ध्यानों का प्रयोग करते हैं, तब उन्हें 'करण' कहा जाता है। ये ध्यान-प्रयोग जब बाह्य प्रयत्न के बिना सहज रीति से हो जाते हैं, तब उन्हें 'भवन' कहा जाता है।

इस तरह प्रत्येक मुक्तिगामी जीव को अपनी योग्यतानुसार सम्यग् दर्शन आदि गुणों की प्राप्ति में अथवा

---

१. **उपयोगो लक्षणम्॥** *श्री तत्त्वार्थ-सूत्र* २-८. उपयोग आत्मा का लक्षण है।

ध्यानमार्ग में करणयोग अथवा भवनयोग—इन दो में से किसी एक योग का आलम्बन अवश्य होता है, यह स्पष्ट समझा जा सकता है।

सम्यग् दर्शन के स्पर्श से आत्म-विकास प्रारम्भ होता है, जो दो मार्गों से होता है —(१) नैसर्गिक, (२) अधिगमात्मक।

गुरु के उपदेश, शास्त्राध्ययन आदि के आलंबन से आत्मिक विकास साधने वाले जीव बहुसंख्यक होते हैं, निसर्ग से आत्म साधना करने वाले जीव सब कालों में अल्पसंख्यक होते हैं।

इस कारणवश अनन्त उपकारी श्री तीर्थंकर भगवान धर्मदेशना देकर तीर्थ की स्थापना करके मोक्षमार्ग, जीवादि तत्त्वों तथा ध्यान आदि अनुष्ठानों का यथार्थ स्वरूप समझाते हैं, जिसे आदरपूर्वक ग्रहण करके योग्य जीव बोधि, समाधि एवं पूर्ण आरोग्य प्राप्त करते हैं।

यहाँ वर्णित छियानवें प्रकार के करणयोगों के स्वरूप को गुरुगम से समझकर अपनी योग्तानुसार उनकी साधना करने के लिए जो मुमुक्षु आत्मा-प्रयत्नशील बनेंगे, वे अपने जीवन में बोधि समाधि की दिव्य भूमिका प्राप्त करने में अत्यन्त सौभाग्यशाली सिद्ध होंगे।

बारह करणों का रहस्यार्थ

आत्मा इन्द्रियों एवं मन से अदृष्ट है, अगम्य है, अगोचर है। यह सर्वमान्य तथ्य होने पर भी, उसका यथार्थ स्वरूप क्या है—इसका अनुभव कब, किस प्रकार हो सकता है—इसका वास्तविक ज्ञान, मार्गदर्शन सर्वज्ञ कथित जिनागमों (शास्त्रों) के द्वारा प्राप्त होता है।

जो व्यक्ति आत्मा, कर्म, परलोक आदि अदृष्ट पदार्थों का यथार्थ निर्णय शास्त्ररूपी दीपक के आलम्बन बिना अपनी मति अथवा केवल तर्क से ही करने का प्रयत्न करते हैं, वे अन्धकार में ही भटकते रहते हैं। जन्मान्ध व्यक्ति को गन्तव्य ईष्ट स्थान तक पहुँचने के लिए जितनी आवश्यकता आँखों से देखने वाले की सहायता की पड़ती है, उतनी ही नहीं, बल्कि उससे भी अधिक आवश्यकता इन पदार्थों के स्वरूप के यथार्थ बोध के लिए आराधक को शास्त्ररूपी दीपक की पड़ती है।

आत्मा अनुभव-गम्य है, इस अनुभव-ज्ञान तक पहुँचने का पथ-प्रदर्शक शास्त्र है।

शास्त्राभ्यास के द्वारा अखिल शब्द-ब्रह्म को जानकर, शास्त्रदृष्टा महामुनि स्वसंवेद्य एवं परब्रह्म-स्वरूप आत्मा को अनुभवज्ञान के द्वारा जानते हैं।[१]

शुद्ध आत्म-तत्त्व के दर्शन के लिए जितनी अनिवार्यता अनुभवज्ञान की है, उतनी ही श्रुतज्ञान आदि की है।

---

१. **अधिगत्याखिलं शब्दब्रह्म शास्त्रदृशा मुनिः।**
स्वसंवेद्यं परं ब्रह्मानुभवेनाधिगच्छति॥ ८॥

-ज्ञानसार-अनुभवाष्टकम्।

यह तथ्य प्रस्तुत-ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही—चिन्ता भावनापूर्वकः स्थिरोऽध्यवसायः। ध्यान के इस लक्षण द्वारा स्पष्ट की गई है।

शास्त्र अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा के वचनों का संग्रह, जो भटकते हुए मन एवं इन्द्रियों पर शासन कर उनका त्राण करती है। शास्त्र-श्रुतज्ञान, चिन्ताज्ञान और भावना-ज्ञान से भावित साधक को आत्मा में ही अनुभव-ज्ञान का प्रकाश प्रकट होता है।

'चिन्ता' में श्रुतज्ञान का चिन्तन करने का विधान है।

'भावना' में ज्ञान आदि पंचाचारों का अप्रमत्तता से पालन करने की आज्ञा है। इसके दीर्घकालिक अभ्यास से ध्यान की भूमिका प्रारम्भ होती है।

चौबीस ध्यान-भेदों के पश्चात् वर्णित योग, वीर्य, स्थाम आदि के आलम्बनों में भी पंचाचारों के विशुद्ध पालन तथा जीव आदि तत्त्वों के सूक्ष्म चिंतन का विधान है, जो शास्त्रज्ञान तथा उसमें वर्णित साधना-मार्ग का अनुकरण करने का समर्थन करता है।

योग, वीर्य आदि की प्रबलता से जब ध्यान स्थिर और स्थिरतर, विशुद्ध और विशुद्धतर बनता-है, तथा निर्विकल्प समाधिरूप उन्मनीकरण आदि का प्रारंभ होता है, और उन बारह करणों में मन, चित्त आदि बाह्य साधन (आलम्बन) छूटते जाते हैं, उनका निरूपण किया गया है। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है —

(१) **उन्मनीकरण** — इसमें मन का अर्थात् (सामान्य) चिंतन का अभाव होता है।

(२) **निश्चित्तीकरण** — इसमें चित्त अर्थात् त्रिकालविषयक चिन्तन का अभाव होता है।

(३) **निश्चेतनीकरण** — इसमें देह-गत चेतना का अभाव होता है।

(४) **निःसंज्ञीकरण** — इसमें आहार आदि के प्रति आसक्ति का अभाव होता है।

(५) **निर्विज्ञानीकरण** — इसमें विज्ञान की दशा में अर्थात् जाग्रत दशा में भी वस्तु के विज्ञान का अभाव होता है।

(६) **निर्धारणीकरण** — इसमें अविच्युतिरूप धारणा का अभाव होता है।

(७) **विस्मृतीकरण** — इसमें स्मृतिरूप धारणा का अभाव होता है।

(८) **निर्बुद्धीकरण** — इसमें चार प्रकार की बुद्धि का अर्थात् अवाय का अभाव होता है।

(९) **निरीहीकरण** — इसमें ईहा अर्थात् विचारणा का अभाव होता है।

(१०) **निर्मतीकरण** — इसमें मति अर्थात् दस प्रकार के अवग्रहों का अभाव होता है।

(११) **निर्वितर्कीकरण** — इसमें वितर्क का अभाव होता है। (जो ईहा के पश्चात् और अवाय के पूर्व होता है।)

(१२) निरूपयोगीकरण — इसमें उपयोग अर्थात् वासना का अभाव होता है।

पाँच इन्द्रियों एवं मन से होने वाले मतिज्ञान की उत्पत्ति का क्रम अवग्रह, इहा, अवाय और धारणा है, जिनका अभाव उत्क्रम से यहाँ (छठे करण से) बताया गया है।

तनिक अधिक गहराई से सोचने पर स्पष्टतः समझा जा सकता है कि इन बारह करणों में मतिज्ञान के साधनों, पाँच इन्द्रियों एवं चित्त का तथा मतिज्ञान के मुख्य चार प्रकारों (अवग्रह, इहा, अवाय एवं धारणा) के अभाव का निर्देश हुआ है।

वास्तव में साधना का क्रम यही है कि सर्वप्रथम शुभ चिंतन एवं यम-नियम आदि शुभ प्रवृत्ति के द्वारा चित्त को शुद्धतया स्थिर करना। इस प्रकार के चिन्तन तथा प्रवृत्ति जब चित्त के विकारों एवं वासनाओं का शमन हो जाता है, तब ईंधन के अभाव में अग्नि जैसे स्वतः ही शान्त हो जाती है, वैसे शुभ मन (चित्त) आदि का भी उसका कार्य समाप्त होने पर अभाव हो जाता है।

कुम्हार चाक को गतिमान करने के लिए डण्डे का प्रयोग करता है। जब चाक पूर्णतः गतिमान हो जाता है, तब वह डण्डा छोड़ देता है, फिर भी पूर्ववेग के क़ारण चाक निर्धारित समय तक अपने आप चलता रहता है।

इसी तरह ध्यान, परम ध्यान आदि में वेग, प्रबलता, तीव्रता उत्पन्न करने वाले प्रणिधान आदि योग हैं। इन योगों के दृढ़ आलम्बन से ध्यान जब निश्चल बनता है, तब योगजन्य पूर्ववेग के प्रभाव से ही साधक योगी परम निर्विकल्प समाधि अवस्था में पहुँचकर उसमें ही कुछ समय तक तन्मय (तल्लीन) हो जाता है।

प्रस्तुत बारह करण उत्तरोत्तर प्रकर्ष पाने वाली परम निर्विकल्प समाधि की ही अवस्थाएँ हैं।

निर्विकल्प अनुभवदशा तुर्य-दशा है, जिसमें सुषुप्ति, स्वप्न या जागृत दशा असंभव है, लेशमात्र भी संभव नहीं है।

आत्मा का साक्षात्कार अनुभव के द्वारा हो सकता है।

प्रस्तुत बारह करणों में से प्रथम पाँच करणों में क्रमशः मन, चित्त, देहगत चेतना, संज्ञा तथा विज्ञान का अभाव होता है, जिससे उनमें स्वप्न, सुषुप्ति या जागृत दशा का सर्वथा अभाव होने से उत्तरोत्तर विशुद्ध से विशुद्धतर दशा होती है। निर्धारणीकरण आदि शेष सात करणों में मतिज्ञान के प्रकारों (धारणा, अवाय, इहा एवं अवग्रह) का अभाव होने पर भी उस आत्मानुभव का प्रकाश क्रमशः विशुद्धतर होता जाता है।

योग-दृष्टा सूरि-पुरन्दर परम पूज्य आचार्य भगवान् श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज द्वारा रचित योग-सम्बन्धी ग्रन्थों में वर्णित सामर्थ्य-योग, वृत्ति-संक्षेप-योग और निरालम्बन योग का भी इन करणों में अन्तर्भाव होता है।

सामर्थ्य-योग आदि का स्वरूप

जिसका उपाय शास्त्रों में बताया जाने पर भी, तथाप्रकार की शक्ति प्रबलता के कारण जिसका विषय शास्त्रों से भी परे होता है, वह सामर्थ्य-योग उन्मनीकरण आदि निर्विकल्प अवस्थाओं में अच्छी तरह घटित हो सकता है, तथा पर-पदार्थों के संयोग से आत्मा में उत्पन्न होने वाली वैभाविक वृत्तियों का, पुनः उत्पन्न न हो उस प्रकार निरोध करना उस 'वृत्तिसंक्षय-योग' का भी इस उन्मनीकरण आदि में होने वाली मन-चित्त आदि वृत्तियों के अभाव के साथ समन्वय हो सकता है।[१]

आलम्बन के दो प्रकार हैं —

(१) रूपी आलम्बन और (२) अरूपी आलम्बन।

(१) समवसरणस्थ श्री अरिहन्त परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन अथवा श्री जिन-प्रतिमा आदि मूर्त्त आलम्बनों का ध्यान 'रूपी' अर्थात् 'सालम्बन-ध्यान' है।

(२) अमूर्त्त-निराकार सिद्ध भगवान के केवल ज्ञान आदि गुणों का समापत्तिरूप ध्यान सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय होने से 'अरूपी' अर्थात् 'निरालम्बन-ध्यान' है।

अथवा जिस ध्यान का विषय रूपी (मूर्त्त) हो, वह 'सालम्बन', और जिस ध्यान का विषय अरूपी (अमूर्त्त) हो, वह 'निरालम्बन ध्यान योग' कहलाता है।[२]

यह निरालम्बन योग मुख्यतः क्षपक श्रेणी में आठवें अपूर्वकरण गुण-स्थानक को प्राप्त हुए सामर्थ्य-योग वाले योगी को होता है, परन्तु उससे पूर्व परमतत्त्व के लक्ष्य-वेध की पूर्व तैयारी के रूप में जो परमात्म-गुणों का ध्यान होता है, वह भी मुख्य निरालम्बन-योग प्राप्त करानेवाला होने से निरालम्बन योग है; क्योंकि वह ध्यान परमात्म-रूप ध्येय के आकार में परिणाम प्राप्त किया हुआ होता है।

इस तरह निरालम्बन-योग का बारह करणों के साथ समन्वय हो सकता है, अर्थात् बारहों करणों में निरालम्बन योग होता है क्योंकि उनके बारहों प्रकारों में स्थूल आलम्बनों का सर्वथा अभाव होता है।

इस प्रकार ये बारह करण निर्विकल्प चिन्मात्र समाधिरूप अनुभव-दशा के द्योतक हैं, जिस अनुभव-दशा में प्रवाहित प्रशान्त वाहिता की सरिता में निमग्न साधक नित्य परम आनन्द का अनुभव करता है, जिसके प्रभाव से केवल ज्ञान रूपी सहस्ररश्मि (सूर्य) का उदय तुरन्त होने वाला होता है, अतः इस अनुभव-ज्ञान की तुलना 'अरुणोदय' के साथ की गई है।

---

१. **शास्त्रसंदर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचराः।**
शक्त्युद्रेकाद् विशेषेण सामर्थ्यास्योऽयमुत्तमः॥ ५॥ –'*योगदृष्टि समुच्चय*'
अन्यसंयोगवृत्तीनां यो निरोधस्तथा तथा।
अपुनर्भावरूपेण स तु तत्संक्षयो मतः ॥ ३६६॥ –'*योगबिन्दु*'

२. **आलंबणं पि एवं रुविमरुवीं य इत्थ परमुत्ति।**
तग्गुण परिणइरुवो सुहुमोऽणालंबणो नाम॥ १९॥–'*योगविंशिका*'

छियानवें (९६) करणों का स्वरूप

मूलपाठ—करणानि तु ९६ इत्थं ज्ञेयानि।

चित्तं चेयण सन्ना विन्नाणं धारणा सई बुद्धी।
इहा मई वियक्का उवओग-मणाई छन्नउइ॥

मणाइ इति मनः प्रभृतीनि, मन एतेषामादौ कर्तव्यम्।

अर्थ—करण के छियानवें भेद हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(१) मन, (२) चित्त, (३) चेतना, (४) संज्ञा, (५) विज्ञान, (६) धारणा, (७) स्मृति, (८) बुद्धि, (९) इहा, (१०) मति, (११) वितर्क, (१२) उपयोग।

इन बारह वस्तुओं से सम्बन्धित करण के छियानवें भेद होते हैं।

''मणाइ'' अर्थात् मन आदि। इन सब करणों में मन को अग्रस्थान देना।

विवेचन—आत्मा अतीन्द्रिय है, मनसातीत है, विचार के समस्त प्रदेशों से परे है।

ऐसे आत्मा का ज्ञान मन एवं इन्द्रियों से कैसे सम्भव है?

आत्मदर्शन-आत्मानुभव की तीव्र लगन तब ही सफल हो सकती है, जब साधक अपने सम्पूर्ण जीवन व्यापार को सम्यग् ज्ञान और आचरण के द्वारा आत्मानुकूल बना ले, अर्थात् चंचल मन एवं विषयासक्त इन्द्रियों पर क्रमशः पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करे।

ध्यान योग की विशिष्ट साधना के द्वारा जो साधक इन्द्रिय जय तथा मनोजय प्राप्त करने में सफल होता है, वह क्रमशः मनोलय की साधना द्वारा मन की चिंतन प्रवृत्ति का निरोध करके आत्मानुभव के अलौकिक आनन्द का अनुभव कर सकता है।

इन्द्रिय-जय अर्थात् विषय-वैराग्य, मनोजय अर्थात् कषायों का त्याग।

यहाँ वर्णित छियानवें करणों में मन, बुद्धि और इन्द्रियों की प्रवृत्ति का निरोध बताया गया है। यह निरोध जितने अंशों में होता है, उतने ही अंशों में साधक आत्मानुभव का विशेष आनन्द प्राप्त करता है।

आत्मानुभूति में अनन्य साधन रूप बनने से इन छियानवें करणों का करण नाम यथार्थ है।

छियानवें प्रकार के करणयोग में दर्शित प्रणिधान, समाधान, समाधि और काष्ठा की साधना प्रक्रिया के द्वारा साधक की इन्द्रियों, बुद्धि तथा मन क्रमशः अशुभ में से निवृत्त होकर शुभ में प्रवृत्त होकर समता को प्राप्त होते हैं। तथा मानसिक निश्चलता ऐसी सिद्ध होती है कि जिससे साधक अपने उच्छ्वास आदि का भी निरोध करता है।

इस क्रम से जो साधक इन्द्रिय-जय और मनोजय की भूमिका प्राप्त करता है, वही मनोलय अवस्थारूप 'उन्मनीकरण' आदि की दिव्य भूमिकाओं में प्रविष्ट होने और प्रगति करने में समर्थ एवं सफल हो सकता है—ऐसा गर्भित निर्देश 'करणयोग' के पश्चात् किये गए करण के विधान में से प्राप्त होता है।

योग तथा करण में विशेषता

करणयोग एवं भवनयोग में बाह्य आलम्बन होता है, शुभ-शुद्ध मन आदि की प्रवृत्ति होती है।

करण में आलम्बन का अभाव होता है, मन आदि की प्रवृत्ति का निरोध होता है।

योग कारणरूप है, उन्मनीकरण आदि साध्य का साधन है।

करण कार्य-कारणरूप है, करण-योग का कार्य है और आत्मानुभूतिरूप साध्य का साधन कारण भी है।

योग में छियानवें प्रकार करण-योग के और छियानवें प्रकार भवनयोग के इस प्रकार दोनों मिलकर एक सौ बानवें प्रकार होते हैं।

अड़तालीस प्रकार उन्मनीकरण आदि के और अड़तालीस प्रकार उन्मनीभवन आदि मिलकर करण के छियानवें प्रकार होते हैं।

इस 'ध्यान-विचार' में मुख्यतया तीन बातों का वर्णन किया गया है—

(१) चौबीस ध्यान-मार्ग के भेद, जो ध्यान-योग के साधना-स्वरूप हैं।

(२) छियानवें योग प्रकार (करणयोग-भवनयोग) सविकल्प समाधिरूप हैं, अर्थात् समता-योग की साधना स्वरूप हैं।

(३) छियानवें करण भेद निर्विकल्प परम समाधि स्वरूप हैं। यहाँ 'करण' शब्द महासमाधि का द्योतक है। वृत्ति-संक्षय-योग, सामर्थ्य-योग तथा निरालम्बन-योग का अन्तर्भाव इन 'करणों' की भूमिका में होता है।

मन, चित्त, आदि बारह वस्तुओं का निरोध और प्रत्येक के जघन्य आदि चार भेदों तथा 'करण' एवं 'भवन' रूप दो मुख्य विभागों आदि का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

(१) उन्मनीकरण

मूलपाठ—तत्राद्यं मनोविषयं करणमष्टधा

(१) उन्मनीकरणं, (२) महोन्मनीकरणं,
(३) परमोन्मनीकरणं, (४) सर्वोन्मनीकरणं,
(५) उन्मनीभवनं, (६) महोन्मनीभवनं,
(७) परमोन्मनीभवनं, (८) सर्वोन्मनीभवनं॥

अर्थ—उन प्रथम मनोविषयक करण के निम्न आठ भेद हैं—

(१) उन्मनीकरण, (२) महोन्मनीकरण, (३) परमोन्मनीकरण, (४) सर्वोन्मनीकरण, (५) उन्मनीभवन, (६) महोन्मनीभवन, (७) परमोन्मनीभवन, (८) सर्वोन्मनीभवन।

मूलपाठ—मनसोऽशनं चिन्तनम् तदभावोऽनशनम्।
उत् प्राबल्येन गतमिव चिन्ताऽभावान्नष्टमिव मनो यस्यां सा उन्मना,
उन्मना क्रियतेऽनेन उन्मनीकरणं मनोमृत्युरित्यर्थः,
एतज्जघन्यम्। द्वितीयमेतदेव मध्यमं, तृतीयमुत्कृष्टं,
चतुर्थं जघन्यादिभेदत्रयसंलीनतात्मकम्।[१]
भवनचतुष्टयमप्येवम्॥

अर्थ—चिन्तन मन का भोजन है। उक्त चिन्तन का अभाव मन का अनशन (उपवास) है।

जिस स्थिति में प्रबलता से मन चला गया हो, अथवा चिन्ता के अभाव से मानो मन नष्ट हो गया है, ऐसी अवस्था जो ध्यान द्वारा प्रकट की जा सके, उसे 'उन्मनीकरण' कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो जिसके मन की मृत्यु जघन्य कोटि की हो, तो उसे 'उन्मनीकरण' कहते हैं। यही उन्मनीकरण यदि मध्यम कोटि का हो, तो दूसरा 'महोन्मनीकरण', उत्कृष्ट कोटि का हो, तो तीसरा परमोन्मनीकरण, और इन तीनों के मिश्रणयुक्त हो, तो चौथा सर्वोन्मनीकरण कहा जाता है। 'भवन' के चार प्रकार भी उन्मनीभवन, महोन्मनीभवन, परमोन्मनीभवन और सर्वोन्मनीभवन—उन्मनीकरण की तरह क्रमशः समझने चाहिए।

विवेचन—करणों की तरह मुख्य वस्तुओं में प्रथम स्थान मन का है। मन का आहार चिन्तन है। चिन्तन का अभाव मन का अनशन अर्थात् उपवास है।

चिन्तन रहित मन की अवस्थाओं को 'उन्मना' अवस्था कहते हैं। यह अवस्था पूर्वोक्त ध्यानों के दीर्घकालीन अभ्यास से सिद्ध होती है।

जिस अवस्था-विशेष से 'उन्मना' अवस्था में पहुँचा जाता है, उसे 'उन्मनीकरण' अर्थात् मन की (द्रव्य) मृत्यु कहते हैं। अमनस्कयोग एवं मनोलय आदि इसके पर्यायवाची हैं।

योगशास्त्र आदि ग्रन्थों में मन की चार अवस्थाएं बताई गई हैं, जिनके नाम हैं—(१) विक्षिप्त, (२) यातायात, (३) श्लिष्ट और (४) सुलीन।

इनमें से प्रथम दो अवस्थाएं ध्यान के प्राथमिक अभ्यास काल में होती हैं। ध्यान के अभ्यास में ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों स्थिरता की वृद्धि होने पर मन क्रमशः श्लिष्ट एवं सुलीन अवस्था को प्राप्त होता जाता है।

श्लिष्ट अवश्था में साधक का मन आनन्दमय होता है। और सुलीन अवस्था में मन पूर्णतः निश्चल होने पर साधक को परमानन्द की अपूर्व अनुभूति होती है। इन दोनों अवस्थाओं में मन अपने ध्येय में स्थिर एवं सुस्थित होता है। तनिक भी विषयान्तर में नहीं जाता।

---

१. पाठान्तर—**संतुलनात्मकम्।**

ऐसे ध्येयनिष्ठ एवं परमानन्द-लीन साधक ही मन पर क्रमशः पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करके उन्मनीकरण अवस्था में पहुँचते हैं, और तत्पश्चात् उन्हें विशुद्ध आत्म-तत्त्व की अनुभूति होती है।

विचारों के पूर्णविराम को 'मनोलय' भी कहा जाता है।

मनोगुप्ति का तीसरा भेद 'आत्मरमणता' उन्मनीकरण में घटित हो जाता है। मन का लय होने से मुनि आत्मरमणता को प्राप्त करता है।

हिमालय के उत्तुंग शिखर पर जिस प्रकार कौए नहीं पहुँच सकते, उसी प्रकार अरूपी आत्मा में एकाकार बने हुए मन में अनात्म-विषयक विचाररूपी कोई वायस (कौआ) नहीं जा सकता।

मन-चित्त आदि की प्रवृत्ति का जितने अंशों में निरोध होता है, तदनुसार उन-उन करणों के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद पड़ते हैं तथा साधक के जीवन में तत्त्वानुभूति भी उतने ही परिमाण में होती है।

चिन्तन-प्रवृत्ति के निरोध की प्राथमिक भूमिका जघन्य उन्मनीकरण है। यही उन्मनीकरण जब मध्यम कोटि का होता है, तब 'महोन्मनीकरण' कहलाता है और उत्कृष्ट कोटि का होने पर 'परमोन्मनीकरण' कहलाता है। जिस साधक के जीवन में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट—इन तीनों भेदों वाली उन्मनीकरण की अवस्था प्राप्त हुई हो, उसे चौथा प्रकार, जिसमें जघन्य आदि तीनों भेदों का सम्मिश्रण है, सर्वोन्मनीकरण कहलाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि मनोलय की भूमिका में प्रविष्ट होने वाले साधक के जीवन में ये उन्मनीकरण आदि करण प्राथमिक कक्षा में सामान्य कोटि के होते हैं। तत्पश्चात् उत्तरोत्तर उनके अभ्यास में वृद्धि होने पर वे मध्यम कोटि के बनते हैं और उपशम अथवा क्षपक श्रेणी आदि उच्च भूमिका में ये करण उत्कृष्ट कोटि के होते हैं।

आगे कहे जाने वाले 'चित्त' आदि ग्यारह करणों के जघन्य आदि भेद उन्मनीकरण की तरह ही समझें।

उन्मनीकरण आदि 'करण' के भेदों में मन-चित्त आदि का ज्यों-ज्यों क्रमशः लय होता जाता है, त्यों-त्यों निष्कल आत्मा का विशेष विशुद्ध अनुभव होता जाता है।

करण एवं भवन की व्याख्या

मूलपाठ—नवरं उपेत्य यत् क्रियते आभोगपूर्वकं तीर्थंकरादिवत् तत्करणम्।
यत् त्वनाभोगेनैव स्वयमुल्लसति मरुदेव्यादिवत् तत् भवनम्॥ १ ॥

अर्थ—श्री तीर्थंकर भगवानों की तरह 'करण' का स्वरूप जानकर प्रयत्नपूर्वक किया जाए, वह 'करण' कहलाता है, और मरुदेवी माता की तरह उपयोग (प्रयत्न) किये बिना अपने आप ही जो प्रकट हो, वह 'भवन' कहलाता है।

विवेचन—प्रत्येक मुक्तिगामी जीव को पूर्वों का प्रणिधान आदि योगों की तरह निर्विकल्प ध्यानरूप यह उन्मनीकरण आदि की अवस्था प्राप्त होती है। क्योंकि ये उन्मनीकरण आदिकरण प्रणिधान आदि योगों के फल हैं।

मन-चित्त आदि के निरोध की अवस्था समझ एवं प्रयत्नपूर्वक तथा सहज रीति से दोनों प्रकार से प्राप्त हो सकती है।

श्री तीर्थंकर भगवान आदि परम ज्ञानी पुरुषों की तरह जो साधक निर्विकल्प अवस्था का ज्ञान (मार्गदर्शन) गुरुओं, शास्त्रों आदि द्वारा प्राप्त कर उसके यथार्थ अभ्यास द्वारा मन-चित्त आदि का निरोध करते हैं, उसे 'उन्मनीकरण' आदि कहा जाता है।

मरुदेवी माता की तरह जो साधक सहज रीति से निर्विकल्प दशा आदि की भूमिका प्राप्त करते हैं, उसे 'उन्मनीभवन' आदि कहते हैं।

इस तरह मन, चित्त, चेतना आदि बारह वस्तुओं के निरोध की प्रक्रिया दोनों प्रकार से होती है, अतः उनके 'करण' एवं 'भवन' मुख्य दो विभाग होते हैं, और जघन्य आदि भेदों से उनके प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं, जिनका आगे वर्णन किया जाएगा।

(२) निश्चित्तीकरण

मूलपाठ—द्वितीयं चित्तविषयं करणमष्टधा-निश्चित्तीकरणमित्यादि ४।
निश्चित्तीभवनमित्यादि ४।
चित्तं-त्रिकालविषयं चिन्तनम्, तदभाव उच्छ्वासाद्य-भावहेतुः ॥ २ ॥

अर्थ—दूसरा करण चित्त-विषयक है, जिसके निम्नानुसार आठ प्रकार हैं—

(१) निश्चित्तीकरण, (२) महानिश्चित्तीकरण, (३) परमनिश्चित्तीकरण, (४) सर्वनिश्चत्तीकरण, (५) निश्चित्तीभवन, (६) महानिश्चित्तीभवन, (७) परमनिश्चित्तीभवन, (८) सर्व-निश्चित्तीभवन।

चित्त अर्थात् तीन कालों से सम्बन्धित चिन्तन, जिसका अभाव होने से वह उच्छ्वास आदि के अभाव का कारण होता है।

विवेचन—चित्त का निषेध करना दूसरा निश्चित्तीकरण है।

मन एवं चित्त सामान्यतया एकार्थक नाम होने पर भी दोनों का पार्थक्य उन दोनों का कार्य-भेद सूचित करता है।

सामान्य चिन्तन-प्रवृत्ति मन का कार्य है और तीन 'काल'-विषयक चिन्तन-प्रवृत्ति चित्त का कार्य है।

चित्त का निरोध होने से साधक तीनों काल-सम्बन्धी चिन्तन-प्रवृत्ति से मुक्त हो जाता है।

जिस प्रकार वाष्प-जल का सूक्ष्म स्वरूप है, उसी प्रकार चित्त मन का सूक्ष्म स्वरूप है। चित्त का अभाव होने से श्वासोच्छ्वास आदि का भी सहज रूप से अभाव होता है।

मन और प्राण का परस्पर सम्बन्ध है। जहाँ मन की प्रवृत्ति होती है, वहाँ प्राण की भी गति होती है। जहाँ प्राण की गति होती है, वहां मन की प्रवृत्ति होती है। मन की प्रवृत्ति के अभाव में प्राण की गति भी स्वतः शान्त हो जाती है।

प्राणायाम आदि की प्रक्रिया द्वारा प्राणवायु धारण करना बहुत कठिन होता है। वह प्राणवायु भी इस निश्चित्तीकरण द्वारा सहज रीति से शान्त (स्थिर) हो जाता है।

(३) निश्चेतनीकरण

मूलपाठ—तृतीयं चेतनाविषयं निश्चेतनीकरणमित्यादि सर्वशरीरगत चेतनाद्यभावरूपं, रागाद्यभावहेतुः॥३॥

अर्थ—तीसरा चेतनाविषयक निश्चेतनीकरण आठ प्रकार का है। वह समग्र शरीर में निहित चेतना के अभाव रूप है और वह राग आदि के अभाव का कारण बनता है।

विवेचन—पूर्ववर्णित दोनों करणों के समस्त प्रकारों में विशुद्ध आत्मानुभव करता हुआ योगी जब तीसरे निश्चेतनीकरण की अवस्था में पहुँचता है, तब वह अपनी चेतना शक्ति को स्वात्म-स्वरूप में इस प्रकार केन्द्रित कर देता है, जिससे उसका सम्पूर्ण शरीर—मानो चेतनारहित हो गया है, उसका शरीर निश्चेष्ट हो जाता है, हाथ-पाँव आदि अंग शिथिल हो जाते हैं, इन्द्रियों के विकार एवं स्व-विषय को ग्रहण करने की उसकी शक्ति लुप्त हो जाती है, अर्थात् सम्पूर्ण देह काष्ठवत् बन जाती है। इस दशा में कोई पशु देह को काष्ठ का ठूंठ समझकर उससे अपना शरीर घिसता है, तो भी साधक का ध्यान भंग नहीं होता।

देह एवं इन्द्रियों की चेतना के साथ के अनुसन्धान से इष्ट-अनिष्ट प्रसंगों अथवा पदार्थों के कारण जो राग-द्वेष आदि वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे भी इस दशा में (चेतना आत्मगत होने से) उत्पन्न नहीं हो सकती।

जिस प्रकार सागर में डाली गई नमक की डली सागर में मिल जाती है, उसी प्रकार से चेतना आत्मा में मिल जाती है क्योंकि वह चेतन की ही ज्योति है।

निश्चेतनीकरण की अवस्था में योगी पुरुष अपनी आत्मा को देह एवं इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न अनुभव करते हैं। ऐसे भेदज्ञान परिणत महात्मा के देह की जीवित चमड़ी उतार ली जाए अथवा उनके सिर पर धधकते अंगारों से भरा पात्र रख दिया जाए, तो भी वे आत्म-ध्यान से च्युत नहीं होते, वे परम समतारस के अखण्ड प्रवाह में ही निरन्तर अवगाहन करते रहते हैं।

आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव से चेतना का सम्बन्ध सर्वथा छूट जाने पर योगी अदृश्य आत्मा के सहजानन्द की अनुभूति करता है।

इसके प्रभाव से अनुकूल अथवा प्रतिकूल रहने वाले व्यक्ति अथवा वस्तु के प्रति रोष अथवा तोष उत्पन्न नहीं होता। जिस प्रकार व्योम में विहरते वायुयान पर यदि कोई व्यक्ति पृथ्वी पर खड़ा रहकर पत्थर मारे, तो वह उस तक नहीं पहुँचता, वैसे ही इस कक्षा पर स्थिर योगी को राग-द्वेष नाममात्र के लिए भी स्पर्श नहीं करते।

'**योगशास्त्र**' के 'अनुभव-प्रकाश' में बताया गया है कि 'अमनस्कदशा का' उदय होने पर योगी को अपनी देह मानो आत्मा से अलग हो गई हो, अथवा जलकर भस्म हो गई हो अथवा तो मानो आकाश

में निरालम्ब उड़ गई हो, विलीन हो गई हो, ऐसा अनुभव होता है।[१]

'अमनस्कदशा' का यह वर्णन 'निश्चेतनीकरण' की भूमिका को स्पष्ट करता है।

'मैं देह नहीं, परन्तु मुक्त आत्मा हूँ'—यह प्रतीति देह-भाव नष्ट होने पर ही होती है।

ध्याता को देह की निश्चेष्ट निश्चेतन अवस्था का अनुभव इस करण में होता है। अतः इसे 'निश्चेतनीकरण' कहते हैं। जिसके आठ भेद निम्नानुसार हैं—

(१) निश्चेतनीकरण,

(२) महानिश्चेतनीकरण,

(३) परमनिश्चेतनीकरण,

(४) सर्वनिश्चेतनीकरण,

(५) निश्चेतनीभवन,

(६) महानिश्चेतनीभवन,

(७) परमनिश्चेतनीभवन,

(८) सर्वनिश्चेतनीभवन।

जो है, है और है ही, उस शाश्वत आत्मा में समग्र चेतना का विलीनीकरण अथवा पूर्णतः समा जाना, इस करण का सूचितार्थ है।

उन्मनीकरण तथा निश्चित्तीकरण अवस्था के पश्चात् इस अवस्था के योग्य बना जाता है।

(४) निःसंज्ञीकरण

मूलपाठ—एवं निःसंज्ञीकरण मित्यादि ८,
आहारादिगृद्ध्य-भावरूपम्।
अनेन प्रमत्तादीनामाहारं गृह्यतामपि गृद्ध्यभावः॥ ४॥

अर्थ—चौथा निःसंज्ञीकरण आदि आठ प्रकार से है, और वह आहार आदि की लोलुपता के अभावरूप है।

---

१. **विश्लिष्टमिव प्लुष्टमिवोड्डीनमिव प्रलीनमिव कायम्।**
अमनस्कोदयसमये योगी जानात्यऽसत्कल्पम्॥ ४२॥

—'*योगशास्त्र*' पृ० १२

तुलना करें —

निष्पन्नाखिलमिव शून्यमनसः स्वतः स्थितिस्तत्क्षणात्।
निश्चेष्टश्लथ पाणिपादं करणग्रामो विकारोज्झितः।
निर्मूलप्रविनष्टमारुततया निर्जीवकाष्ठोपमो।
निर्वातस्थितदीपवत् सहजवान् यस्याः स्थितेर्लक्ष्यते॥ ९९॥

—'*अमनस्क योग*'

इस करण की भूमिका में ध्यानमग्न प्रमत्त मुनियों को आहार आदि ग्रहण करने पर भी उसमें आसक्ति नहीं होती।

विवेचन—संज्ञा का अर्थ अनुस्मरण है। अतीत काल में अनुभव किए हुए पदार्थों को देखने पर, 'यह वस्तु वहीं है', जिसे मैंने पहले देखा था, अनुभव किया था—इस प्रकार का ज्ञान अनुस्मरण अर्थात् संज्ञा कहा जाता है।

'निःसंज्ञीकरण' में संज्ञा का अभाव होने से, आहार की लोलुपता-आसक्ति का भी अभाव होता है।

प्रत्येक संसारी जीव को आहार आदि की संज्ञाएँ न्यूनाधिक अंशों में होती ही है। उक्त संज्ञा के वशीभूत जीव को सुन्दर स्वादिष्ट भोजन आदि की सामग्री देखते ही रस-लोलुपता जागती है, अनुभूत आहार आदि के रसों का अथवा उपभोगों का अनुस्मरण होता है। इन पौद्गलिक सुखों की स्मृति, रति में परिणत होकर जीव को अधोगामी बनाती है। आत्मिक सुख से वंचित करती है।

आत्मा के रस का विषय आत्मा ही है, पर-पदार्थ नहीं।

साधक-जीवन में आहार आदि संज्ञाओं पर भी नियन्त्रण रखे बिना साधना में शुद्धि एवं स्थिरता नहीं आती।

संज्ञा जय के लिए तो निरन्तर अभ्यास-रत साधक ही साधना में उत्तम प्रगति कर सकता है। जिस ध्यान विशेष से संज्ञा का विलीनीकरण होता है, सो यह 'निःसंज्ञीकरण' है।

दो गहरी खाइयों के नीचे बाँधे हुए सूत के डोरे पर चलकर खाई को पार करना उतना कठिन कार्य नहीं है, जितना कठिन परम विशुद्ध आत्म-ध्यान की साधना की सिद्धि करने का कार्य।

फिर भी मानवभव में ही यह साधना सम्भव है, इस शास्त्र-सत्य में अटल निष्ठावान् महानुभाव ऐहिक लालसाओं से चौंधियाए बिना इस मार्ग पर दृढ़ मनोबल के साथ चलकर वांछित दिशा में अग्रसर होते रहते हैं।

प्रमत्त, अप्रमत्त आदि गुणस्थानक की भूमिका पर स्थित मुनियों को आहार आदि ग्रहण करने पर उसमें तनिक भी आसक्ति नहीं होती क्योंकि उन्होंने संज्ञा पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है।

आत्मानुभव के अमृतरस का पान करने वाले साधक मुनि को इन्द्रिय-जनित सुखों की आसक्ति (लोलुपता) सम्भव ही कहाँ से हो?[१]

---

१. **समदैरिन्द्रियभुजगै रहिते विमनस्कनवसुधाकुण्डे।**
मग्नोऽनुभवति योगी, परामृतास्वादमसमानम्॥ ४३॥
—'*योगशास्त्र*', पृष्ठ १२

तुलना करें—
अमनस्के क्षणात् क्षीणं, काम क्रोधादिबन्धनम्।
नश्यति करणस्तंभं देह गेहं श्लथं भवेत्॥ ८२॥
इन्द्रियग्राहनिर्मुक्ते, निर्वाते-निर्मलामृते।
अमनस्कहृदेस्नातः, परमामृतमुपाश्नुते॥५२॥
—'*अमनस्कयोग*'

निःसंज्ञीकरण आदि आठ भेद निम्नलिखित हैं—

(१) निःसंज्ञीकरण	(५) निःसंज्ञीभवन
(२) महा-निःसंज्ञीकरण	(६) महा-निःसंज्ञीभवन
(३) परम-निःसंज्ञीकरण	(७) परम-निःसंज्ञीभवन
(४) सर्व-निःसंज्ञीकरण	(८) सर्व-निःसंज्ञीभवन।

(५) निर्विज्ञानीकरण

मूलपाठ—निर्विज्ञानीकरणमित्यादि (८) विज्ञानाभावरूपं,
यथा सुषुप्तावस्थायां न किमप्यनुभूतमपि वस्तु वेद्यते।
एवमत्र जाग्रतोऽपि वस्तुविज्ञानाभावः॥५॥

अर्थ—निर्विज्ञानीकरण आदि आठ भेद हैं, जो विज्ञान के अभावरूप हैं। जिस प्रकार जागृत अवस्था में अनुभव की हुई किसी भी वस्तु का वेदन (ज्ञान) नींद में नहीं होता, उसी प्रकार इस करण की भूमिका में जागृत अवस्था में भी वस्तु के विज्ञान का अभाव होता है।

विवेचन—मन, चित्त, चेतना एवं संज्ञा का अभाव होने पर साधक का तत्त्व-संवेदन तीव्रतर तथा और सूक्ष्मतर होता जाता है।

बाह्य पदार्थ विषयक ज्ञान-प्रवृत्ति का निरोध होने से इस करण में साधक की अनुभूति पहले के चार करणों की अपेक्षा अधिक विशुद्ध एवं प्रबल होती है। जिसके कारण साधक-योगी को जागृत अवस्था में भी सोये हुए पुरुष की तरह अनुभूत बाह्य वस्तु का अथवा प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार तक का ज्ञान नहीं रहता, वह तो आत्म-स्वभाव में मग्न रहता है।

ध्यानाग्नि के प्रचण्ड ताप में जलकर भस्म होने वाले कर्मों का अभाव ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों अधिकाधिक विशुद्ध बनते आत्मा का प्रभाव इतना तो बढ़ता जाता है, कि उसे प्राप्त किये हुए साधक-योगी को एक उसका ही ज्ञान, भान और संवेदन निरन्तर रहता है। सोते, बैठते, उठते, वह तदाकार रहता है।

एक साधक महात्मा ने कहा है कि—प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप या संकल्प-विकल्प-रूप बाह्य व्यवहार में जो सुषुप्त होता है, अर्थात् उपयोग रहित होता है। वही साधक आत्म-स्वभाव में मग्न होता है। जो बाह्य व्यवहार में उलझा हुआ होता है, वह आत्मानुभव के विषय में सुषुप्त होता है।[1]

लय अवस्था में योगी को बाह्य वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता। इस बात के समर्थन में पूज्य हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने भी बताया है कि "जो योगी जागृत अवस्था में भी सुषुप्त पुरुषों की तरह स्वस्थतापूर्वक

---

१. **व्यवहारे सुषुप्तो यः, स जागर्त्यात्मगोचरे।**
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन्, सुषुप्तस्वात्मगोचरे॥ ९४॥
—*'समाधिशतक'*

आत्मभाव में रह सकता है, वह तन्मय अवस्था को प्राप्त हुए एवं श्वासोच्छ्वास की क्रिया से विराम प्राप्त योगी, सिद्ध आत्माओं से तनिक भी कम नहीं है, अर्थात् मुक्तात्माओं की तरह वे इस परमानन्द का अनुभव करते हैं।"[१]

संसार के लोग जागृत एवं सुषुप्त—इन दो अवस्थाओं में निरन्तर रहते हैं, परन्तु लय अवस्था में पहुँचे हुए योगी इन दोनों अवस्थाओं से परे होते हैं। वे सदा आत्म-स्वभाव में रहते हैं। संसारी जीवों की जागृति एवं सुषुप्ति दोनों अवस्थाओं से वे सर्वथा परे होते हैं।

इन दोनों अवस्थाओं का अभाव होने पर लय-अवस्था प्रकट होती है और उस समय परमानन्दमय आत्म-तत्त्व की अनुभूति होती है।

अनेक धर्मयुक्त वस्तुओं का उन-उन विशिष्ट धर्मों के रूप में, अनेक प्रकार से ज्ञान होना, विज्ञान कहलाता है। इस करण में इसका अभाव होता है।

निर्विज्ञानीकरण आदि आठ भेद निम्नलिखित हैं—

(१) निर्विज्ञानीकरण	(५) निर्विज्ञानीभवन
(२) महा-निर्विज्ञानीकरण	(६) महा-निर्विज्ञानीभवन
(३) परम-निर्विज्ञानीकरण	(७) परम-निर्विज्ञानीभवन
(४) सर्व-निर्विज्ञानीकरण	(८) सर्व-निर्विज्ञानीभवन

(६) निर्धारणीकरण

मूलपाठ—निर्धारणीकरणमित्यादि ८ (अष्टधा)
धारणाऽविच्युतिरूपा, तदभावः॥ ६॥

उक्तं च—

चित्तं तिकालविसयं चेयणपच्चक्ख सन्नमणुसरणं।
विन्नाणणेगमेयं कालमसंखेयरं धरणा॥

—*दशवैकालिक, भाष्य* गाथा-१९

अर्थ—निर्धारणीकरण आदि आठ भेद हैं। 'धारणा' अर्थात् (पदार्थ के ज्ञान की) अविच्युति, उसका अभाव निर्धारणीकरण है।

कहा है कि, 'चित्त' भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों के अर्थों को सामान्य रूप से जानता है।

'चेतना' प्रत्यक्ष वर्तमानकालीन अर्थों से परिचित है।

---

१. **यो जाग्रदावस्थायां स्वस्थः, सुप्त इव तिष्ठति लयस्थः।**
श्वासोच्छ्वासविहीनः, स हीयते न खलु मुक्तिजुषः॥ ४७॥
—'*योगशास्त्र*'; पृष्ठ-१२

'संज्ञा' अनुस्मरण को कहते हैं—जो पदार्थ पहले देखा हो।

'विज्ञान' अनेक प्रकार का है। अनेक धर्म वाले पदार्थ में उस विशिष्ट धर्म के रूप में जिस प्रकार का ज्ञान होता है, उसे विज्ञान कहते हैं।

'धारणा' असंख्यात एवं संख्यात काल के सम्बन्ध में होती है।

इस करण में धारणा के प्रथम प्रकार 'अविच्युति' का अभाव होता है।

विवेचन—जैन दर्शन में ज्ञान के पाँच भेद बताए हैं—

(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्यवज्ञान और (५) केवलज्ञान।

इनमें मन एवं इन्द्रियों की सहायता से होने वाले बोध को मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान के मुख्य चार भेद हैं—(१) अवग्रह, (२) इहा, (३) अपाय और (४) धारणा।

'कुछ है'—इस प्रकार का अव्यक्त ज्ञान 'अवग्रह' है।

यह अमुक वस्तु होनी चाहिए—ऐसा संभवात्मक ज्ञान 'इहा' है।

'यह अमुक वस्तु ही है'—इस प्रकार का निर्णयात्मक ज्ञान 'अपाय' है।

वस्तु का निर्णय होने के पश्चात् उसका 'उपयोग' बना रहे—वह धारणा है।

इस 'धारणा' के तीन भेद हैं—(१) अविच्युति, (२) वासना, और (३) स्मृति। पदार्थ का निर्णय होने के पश्चात् उसका उपयोग बना रहे उसे 'अविच्युति' धारणा कहते हैं। अविच्युति धारणा के द्वारा अर्थात् उपयोग के सातत्य से आत्मा पर उस विषय के संस्कार पड़ते हैं। ये संस्कार ही 'वासना धारणा' हैं।

आत्मा पर पड़े हुए संस्कार उस प्रकार के निमित्त मिलते ही पुनः जागृत हो जाते हैं। जिससे पूर्व-अनुभूत पदार्थ अथवा प्रसंग का स्मरण होता है, उसे 'स्मृति-धारणा' कहते हैं।

स्मृति का कारण वासना (संस्कार) है। जिसके संस्कार आत्मा पर नहीं पड़े हों, उसका कभी स्मरण नहीं होता और वासना सतत उपयोग स्वरूप अविच्युति धारणा से उत्पन्न होती है।

धारणा के तीन भेदों में से प्रथम भेद 'अविच्युति धारणा' का अभाव इस करण में होता है। पूर्ववर्णित 'निर्विज्ञानीकरण' में बाह्य वस्तुओं के ज्ञान का अभाव होने से उसके पश्चात् के इस 'निर्धारणीकरण' में अन्तर्मुहूर्त काल तक बने रहने वाले पदार्थ-ज्ञान के उपयोग का अर्थात् 'अविच्युतिकरण' में अन्तर्मुहूर्त काल तक बने रहने वाले पदार्थ-ज्ञान के उपयोग का अर्थात् अविच्युति धारणा का अभाव होता है, जिसके कारण साधक को आत्मानुभव की लीनता में विशेष वृद्धि होती है।

धारणा के शेष दो भेदों—स्मृति और वासना के अभाव का आगे के करणों में वर्णन किया जाएगा।

निर्धारणीकरण के आठ भेद निम्न प्रकार हैं—

(१) निर्धारणीकरण,	(५) निर्धारणीभवन
(२) महा-निर्धारणीकरण,	(६) महा-निर्धारणीभवन
(३) परम-निर्धारणीकरण,	(७) परम-निर्धारणीभवन
(४) सर्व-निर्धारणीकरण,	(८) सर्व-निर्धारणीभवन

(७) विस्मृतिकरण

मूलपाठ—विस्मृतीकरणमित्यादि ८ (अष्टधा)॥ स्मृतिर्धारणाया द्वितीयो भेदः। यतः-अविच्युति-स्मृति-वासना-भेदात् त्रिधा धारणा वर्ण्यते ॥ ७॥

अर्थ—विस्मृतीकरण आदि आठ भेद हैं। स्मृति धारणा का दूसरा भेद है क्योंकि धारणा अविच्युति, स्मृति तथा वासना के भेद से तीन प्रकार की है; इनमें से दूसरे प्रकार रूप स्मृति का अभाव इस करण में विवक्षित हैं।

विवेचन—जिस प्रक्रिया द्वारा पूर्वानुभूत पदार्थ अथवा प्रसंग का स्मरण होता है उसे 'स्मृति' कहते हैं। जिस-जिस वस्तु अथवा व्यक्ति का सम्पर्क जिन संयोगादि द्वारा भूतकाल में हो चुका है उस-उस वस्तु एवं व्यक्ति के जो संस्कार आत्मा पर पड़े हुए होते हैं, वे संस्कार उस-उस प्रकार के निमित्त मिलते ही पुनः जागृत हो जाते हैं।

इससे पूर्ववर्णित करण में अविच्युति-रूप धारणा का अभाव होने पर भी अभी तक पूर्वानुभूत पदार्थों के संस्कारों के कारण उनकी स्मृति की भी सम्भावना थी। इस सातवें करण में उसका अभाव होने से आत्मानुभव दृढ़तर बनता है और आत्मानुभूति अधिक समृद्ध होती है।

विस्मृतिकरण आदि आठ भेद इस प्रकार हैं—

(१) विस्मृतीकरण	(५) विस्मृतीभवन
(२) महा-विस्मृतीकरण	(६) महा-विस्मृतीभवन
(३) परम-विस्मृतीकरण	(७) परम-विस्मृतीभवन
(४) सर्व-विस्मृतीकरण	(८) सर्व-विस्मृतीकरण

(८) निर्बुद्धीकरण

मूलपाठ—निर्बुद्धीकरण मित्यादि ८ (अष्टधा) बुद्धिः औत्पातिक्यादिश्चतुर्धाऽवायरूपा, अवायस्तु निश्चय उच्यते॥ ८॥

अर्थ—निर्बुद्धिकरण आदि आठ भेद हैं। यहां बुद्धि शब्द से औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी एवं पारिणामिकी चार प्रकार की बुद्धि से तात्पर्य है और वह अपायरूप है।

अवाय अर्थात् निश्चय। इसका अभाव निर्बुद्धिकरण में होता है।

विवेचन—छठे तथा सातवें करण में धारणा के प्रथम और तृतीय भेद का अर्थात् अविच्युति एवं स्मृति का निरोध बताया गया है। प्रस्तुत करण में धारणा से पूर्व होने वाला 'अवाय' जो निश्चयात्मक ज्ञान-स्वरूप है, उसका निरोध बताया गया है।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के समस्त भेदों में क्रमशः अवग्रह एवं इहा के पश्चात् अवाय होता है, परन्तु श्रुतअनिश्रित

मतिज्ञान के चार भेदों में जो औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी एवं परिणामिकी चार प्रकार की बुद्धि है, सो मतिज्ञान, मतिज्ञानावरणीय के विशिष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण वह अपाय निश्चयात्मक-रूप ही होती है, जिससे उस में अवग्रह आदि की अपेक्षा नहीं रहती।

प्रस्तुत में जो अपाय-रूप औत्पातिकी आदि चार प्रकार की बुद्धि का विधान है, जो अश्रुत-निश्रित मतिज्ञान के ही चारों भेद हैं। उनका अभाव इस करण में बताया गया है। बुद्धि के अभाव से यहाँ मतिज्ञान का तीसरा प्रकार जो 'अवाय' है, उसका अभाव अपेक्षित है।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान अर्थात् पहले जो ज्ञान दूसरों द्वारा अथवा शास्त्र-ग्रन्थों से अर्जित किया हुआ हो, परन्तु व्यवहार-काल में उसका उपयोग न हो, उदाहरणार्थ 'घड़ा लाओ' यह कहा जाए तब 'घड़ा लाना' माने क्या?—यह विचार किये बिना ही घड़ा लाया जाए उसे श्रुतनिश्रित मतिज्ञान कहते हैं।

पहले कदापि जाना हुआ न हो, फिर भी मतिज्ञानावरणीय के विशेष प्रकार के क्षयोपशम से जो मति उत्पन्न हो, उसे अश्रुत निश्रित कहते हैं। इसके निम्नलिखित चार भेद हैं—

(१) **औत्पातिकी**—कोई विशेष प्रसंग अथवा प्रश्न उपस्थित होने पर उसको हल करने में एकाएक उत्पन्न होने वाली बुद्धि। ऐसे बुद्धिशालियों में अभयकुमार, महाकवि कालिदास, बीरबल आदि मुख्य हैं।

(२) **वैनयिकी**—गुरुजनों आदि की सेवाभक्ति से उत्पन्न होनेवाली बुद्धि; जैसे—निमित्तज्ञ शिष्य।

(३) **कार्मिकी**—निरन्तर अभ्यास-पुरुषार्थ करते रहने से प्राप्त होने वाली बुद्धि; जैसे चोर और किसान की बुद्धि।

(४) **परिणामिकी**—समय व्यतीत होते अनेक प्रकार के अनुभवों से प्रकट होती हुई बुद्धि; जैसे कि वज्रस्वामी की बुद्धि।

निर्बुद्धीकरण आदि आठ भेद इस प्रकार हैं—

(१) निर्बुद्धीकरण	(५) निर्बुद्धीभवन
(२) महा-निर्बुद्धीकरण	(६) महा-निर्बुद्धीभवन
(३) परम-निर्बुद्धीकरण	(७) परम-निर्बुद्धीभवन
(४) सर्व-निर्बुद्धीकरण	(८) सर्व-निर्बुद्धीभवन

(९) निरीहीकरण

मूलपाठ—निरीहीकरण मित्यादि ८ (अष्टधा)॥

ईहा विचारणा किमयं स्थाणुः पुरुषो वेति॥ ९॥

अर्थ—ईहा अर्थात् विचारणा, अर्थात् यह ठूँठ हैं अथवा पुरुष? ऐसा विचार होना ईहा, (जिस ध्यान-भूमिका में) इसका अभाव होता है, उस ध्यान को 'निरीहीकरण' कहते हैं।

विवेचन—अवग्रह में इन्द्रियों एवं विषय का सम्पर्क होने पर 'कुछ है', ऐसा अव्यक्त बोध होता है। तत्पश्चात् 'यह क्या है?' ऐसी जिज्ञासा होती है। इस जिज्ञासा को संतुष्ट करने के लिए होने वाली विचारणा ईहा कहलाती है।

आठवें करण में निर्णयात्मक ज्ञान का अर्थात् 'अवाय' के अभाव का कथन था। इस नवें करण में 'अवाय' के पूर्व होने वाली वस्तु के निर्णय के लिए विचारणा का अर्थात् ईहा का भी अभाव होता है।

आत्मा के अनुभव-ज्ञान में ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है, त्यों-त्यों परोक्ष ज्ञान-रूप मतिज्ञान आदि का अभाव होता जाता है, 'निरीहीकरण' की भूमिका में साधक को जीव आदि पदार्थों के निर्णय के लिए किसी प्रकार की इहा-रूप विचारणा नहीं करनी पड़ती।

निरीहीकरण आदि आठ भेद इस प्रकार हैं—

(१) निरीहीकरण	(५) निरीहीभवन
(२) महा-निरीहीकरण	(६) महा-निरीहीभवन
(३) परम-निरीहीकरण	(७) परम-निरीहीभवन
(४) सर्व-निरीहीकरण	(८) सर्व-निरीहीभवन।

(१०) निर्मतीकरण

मूलपाठ—निर्मतीकरण मित्यादि ८ (अष्टधा)॥ मतिरवग्रहो दशधा॥ १०॥

अर्थ—जिस ध्यान-भूमिका में मति का अभाव होता, है, उसे 'निर्मतीकरण' कहते हैं। 'मति' शब्द से यहाँ दस प्रकार का अवग्रह समझें। पाँच इन्द्रियों, छठा मन इनका अर्थावग्रह तथा मन और चक्षु को छोड़ शेष चार इन्द्रियों से होने वाला व्यञ्जनावग्रह—इस तरह दस भेद होते हैं।

विवेचन—यहाँ 'मति' शब्द दस प्रकार के अवग्रह का वाचक है। इन्द्रियों एवं मन के साथ पदार्थ का सम्पर्क होने पर जो अव्यक्त बोध होता है, उसे 'अवग्रह' कहते हैं।

अवग्रह के दो मुख्य भेद हैं—

(१) व्यञ्जनावग्रह और (२) अर्थावग्रह।

किसी भी पदार्थ का ज्ञान उपकरणेन्द्रिय[१] और विषय का परस्पर सम्बन्ध होने से ही होता है, अत: उपकरणेन्द्रिय एवं विषय का पारस्परिक सम्बन्ध और संयोग व्यंजन कहा जाता है। उपकरणेन्द्रिय एवं विषय का परस्पर सम्बन्ध होने पर जो अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान होता है, वह 'व्यञ्जनावग्रह' कहलाता है।

व्यञ्जनावग्रह होने के पश्चात् 'कुछ' है ऐसा सामान्य ज्ञान होता है वह 'अर्थावग्रह' कहलाता है। व्यञ्जनावग्रह में ज्ञान की तनिक भी अभिव्यक्ति नहीं होती। अर्थावग्रह में 'कुछ है' ऐसी सामान्य ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है।

इहा, अपाय तथा धारणा के ज्ञान-व्यापार में इन्द्रियों एवं विषयों का संयोग अपेक्षित नहीं होता। इनमें मुख्यतया मानसिक एकाग्रता अपेक्षित है, जबकि अव्यक्त ज्ञान-रूप 'अवग्रह' में इन्द्रियों एवं विषयों के संयोग की अपेक्षा रहती ही है।

---

१. प्रत्येक इन्द्रिय में विद्यमान अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति को उपकरणेन्द्रिय कहते हैं।

मतिज्ञान पाँच इन्द्रियों एवं मन की सहायता से उत्पन्न होता है, त्वचा, रसना, नाक, आँख और कान—ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द का मतिज्ञान होता है।

मतिज्ञान में सर्वप्रथम विषय-वस्तु के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है। तत्पश्चात् इन्द्रियों के साथ जुड़े हुए ज्ञान-तंतु तुरन्त मन को खबर देते हैं। मन आत्मा को खबर देता, है, जिससे आत्मा में उस विषय का मतिज्ञान उत्पन्न होता है। इनमें चक्षुओं एवं मन के द्वारा होने वाले मतिज्ञान में व्यञ्जनावग्रह नहीं होता, वरन् सीधा ही अर्थविग्रह होता है, क्योंकि चक्षुओं एवं मन के ज्ञान-व्यापार में पदार्थ के संयोग की आवश्यकता नहीं रहती।

चक्षु एवं मन पदार्थ के संयोग (सम्बन्ध) के बिना अपने विषय का बोध कर सकते हैं। आँख से दूर रखी हुई वस्तु को आँख देख सकती है। हजारों-लाखों मील दूर की वस्तु का मन-चिन्तन कर सकता है।

परन्तु स्पर्शनेन्द्रिय आदि चार इन्द्रियां अपने विषय के साथ सम्बन्ध होने पर ही उसका बोध कर सकती हैं।

इसी कारण चक्षुओं एवं मन को अप्राप्यकारी तथा स्पर्शनेन्द्रिय आदि चार को प्राप्यकारी कहा जाता है।

'मति' शब्द से यहाँ दस प्रकार के अवग्रह का अभाव विवक्षित है। वे दस प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) स्पर्शनेन्द्रिय अर्थावग्रह	(६) मन अर्थावग्रह
(२) रसनेन्द्रिय अर्थावग्रह	(७) स्पर्शनेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह
(३) घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह	(८) रसनेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह
(४) चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह	(९) घ्राणेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह
(५) श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह	(१०) श्रोत्रेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह।

मन एवं इन्द्रियों का बाह्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध सर्वथा छूट जाने पर साधक को आत्म-स्वरूप में अत्यन्त निश्चलता प्राप्त होती है।

निर्मतीकरण आदि निम्नलिखित आठ भेद इस प्रकार हैं—

(१) निर्मतीकरण	(५) निर्मतीभवन
(२) महा-निर्मतीकरण	(६) महा-निर्मतीभवन
(३) परम-निर्मतीकरण	(७) परम-निर्मतीभवन
(४) सर्व-निर्मतीकरण	(८) सर्व-निर्मतीभवन।

(११) निर्वितर्कीकरण

मूलपाठ—निर्वितर्कीकरण मित्यादी ८ (अष्टघा)॥ ईहोत्तर कालभावी,
अवायात् पूर्व ऊहो वितर्कः।
"अरण्यमेतत् सविताऽस्तमागतः" इत्यादि॥ ११॥

अर्थ—निर्वितर्कीकरण आदि आठ भेद निम्नलिखित हैं—

(१) निर्वितर्कीकरण	(५) निर्वितर्कीभवन
(२) महा-निर्वितर्कीकरण	(६) महा-निर्वितर्कीभवन
(३) परम-निर्वितर्कीकरण	(७) परम-निर्वितर्कीभवन
(४) सर्व-निर्वितर्कीकरण	(८) सर्व-निर्वितर्कीभवन।

वितर्क अर्थात् जो ईहा होने के पश्चात् तथा अपाय (निश्चय) से पूर्व (तर्क) होता है, उसे 'वितर्क' कहते हैं।

उदाहरणार्थ, यह अरण्य है, सूर्यास्त हो चुका है, इस समय यहाँ मनुष्यों के होने की संभावना नहीं है। इन कारणों से प्राय: पक्षियों वाला एवं रति-पति कामदेव के शत्रु शिव के नाम वाला यह पदार्थ (स्थाणु-वृक्ष ठूँठ)[१] होना चाहिए।

विवेचन—इस करण में वितर्क का अभाव होता है। वितर्क का अर्थ है सुन्दर युक्तिपूर्वक विचार करना; इसका दूसरा नाम है 'ऊहा'।

'ईहा' के पश्चात् और 'अवायं' से पूर्व वितर्क होता है। उसका ही यहाँ 'वितर्क' शब्द से ग्रहण हुआ है।

'प्रमाणनय तत्त्वालोक' ग्रन्थ में परोक्ष प्रमाण के पाँच प्रकारों में 'तर्क' का एक स्वतंत्र प्रमाण के रूप में निर्देश किया है। उसका कारण यह है कि तर्क-ज्ञान को यदि प्रमाण नहीं माना जाए तो अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति नहीं हो सकती। तर्क से धुँए एवं अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध निश्चित हो जाने के बाद ही धुएँ एवं अग्नि का अनुमान लगाया जा सकता है —यह है तर्क का कार्य।

आइए 'तर्क' क्या है, अब इस पर विचार करें।

'जहाँ-जहाँ धुँआ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है' इस प्रकार एक (हेतु) के सद्भाव में दूसरे का सद्भाव होना, इस अविनाभाव सम्बन्ध को 'व्याप्ति' कहते हैं।

यह अविनाभाव सम्बन्ध तीनों कालों के लिए होता है। जिस ज्ञान से इस सम्बन्ध का निर्णय होता है उसे 'तर्क' कहते हैं।

तर्क का ज्ञान उपलंभ और अनुपलंभ से उत्पन्न होता है। धुँए के सद्भाव में अग्नि का सद्भाव एक साथ देखना उपलंभ है और अग्नि के अभाव में धुँए का अभाव जानना अनुपलंभ है।

---

१. **अरण्यमेतत् सविताऽस्तमागतो, न चाधुना संभवतीह मानवः।**
प्रायस्तदेतेन खगादिभाजा, भाव्यं रतिप्रियतमारिनाम्ना॥ पत्र॥ ७८॥

—*विशेषावश्यक भाष्य:* श्री कोट्याचार्य टीका

संस्कृत में 'ठूँठ' को स्थाणु कहते हैं और शिवजी का दूसरा नाम भी 'स्थाणु' है। महादेव ने रति के पति कामदेव को मार डाला अत: वह कामदेव के शत्रु हैं, इसलिए उक्त श्लोक में 'रतिप्रियतमारिनाम्ना' पद में रति के पति के शत्रु समान नाम (स्थाणु) वाले के रूप में वृक्ष के ठूँठ का उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार बार-बार उपलंभ एवं अनुपलंभ होने से उस पदार्थ के सम्बन्ध का अर्थात् व्याप्ति का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह तर्क है।

मतिज्ञान के भेद-रूप इहा एवं अपाय के मध्य 'तर्क' का स्थान होने से यह भी मतिज्ञान का ही एक प्रकार है। इहा में होने वाले संभावनात्मक ज्ञान को निर्णयात्मक रूप प्रदान करने के लिए जिन युक्ति-प्रयुक्तियों का विचार होता है वह तर्क है।

''अरण्यमेतत्...'' इस श्लोक में जो बात आलंकारिक भाषा में प्रस्तुत की गई है, वह यह है—

''कोई व्यक्ति जंगल में गया और वहीं सन्ध्या हो गई। उस समय दूर से वृक्ष का ठूँठ दृष्टिगोचर होने पर उसके मन में स्वाभाविक रूप से शंका उत्पन्न हुई कि—'यह ठूँठ होगा या पुरुष?' फिर वह तर्क-वितर्क करने लगा—एक तो यह जंगल है, सूर्य भी इस समय अस्त हो गया है, अत: इस स्थान पर और इस समय मनुष्य के होने की संभावना नहीं है। अत: यह पक्षियों वाला वृक्ष का ठूँठ ही होना चाहिए।''

इसमें पुरुष नहीं होने की संभावना को दृढ़ बनाने के लिए जिन युक्तियों का विचार किया गया है, वही तर्क है।

जो साधक निर्विकल्प समाधि में आत्मा के परमानन्द का अनुभव करता है, वह तर्क-वितर्क से भी परे हो गया होता है, इसका समर्थन इस 'निर्वितर्कीकरण' द्वारा होता है।

इस कारण में तर्क-वितर्क का सम्पूर्ण अभाव होने से देह से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का पूर्ण निश्चय ही नहीं अपितु साक्षात्कार अर्थात् अनुभव पूर्ववर्णित करणों से अधिक निश्चल होता है।

(१२) निरूपयोगीकरण

मूलपाठ—उपयोगो वासनारूपस्तदभावो निरूपयोगीकरणम्॥ १२॥

महा-परमादि विशेषणानि तथैव जघन्य संयोगज भेदानि भावनीयानि।

करण-भवनभेदोऽपि तथैव ९६॥ एवं करणानि ९६॥

अर्थ—वासनारूप 'उपयोग' का अभाव निरूपयोगी करण है।

इस करण के तथा पूर्व वर्णित समस्त करणों के 'महा-परम' आदि विशेषणों से तथा उनके जघन्य आदि संयोग से होने वाले भेदों को भी समझ लें, और करण एवं भवन के भेद भी पूर्ववत् जान लें।

निरूपयोगीकरण आदि आठ भेद निम्नलिखित हैं—

(१) निरूपयोगीकरण	(५) निरूपयोगीभवन
(२) महा-निरूपयोगीकरण	(६) महा-निरूपयोगी भवन
(३) परम-निरूपयोगीकरण	(७) परम-निरूपयोगीभवन
(४) सर्व-निरूपयोगीकरण	(८) सर्व-निरूपयोगीभवन।

इस प्रकार करण के १२ × ८ = ९६ (छियानवें) भेद (प्रकार) हैं।

विवेचन—इससे पूर्ववर्णित समस्त करणों में मतिज्ञान एवं उसकी उत्पत्ति के साधनों का उत्क्रम से अभाव बताया गया है।

यहाँ 'उपयोग' शब्द से 'वासना' का ग्रहण हुआ है। इसका कारण यह है कि किसी भी विषय का सतत उपयोग अन्तर्मुहूर्त तक बना रहता है, परन्तु बार-बार एक ही विषय में आत्मा का उपयोग रहने से उस विषय के संस्कार आत्मा पर पड़ जाते हैं। इस संस्कार को ही 'वासना' कहते हैं।

यह वासना कतिपय जीवों को संख्यात वर्षों तक और कतिपय जीवों को असंख्यात वर्षों तक भी हो सकती है।

यह वासना के तीन भेदों में से अविच्युति एवं स्मृति का काल अन्तर्मुहूर्त का कहा गया है, जबकि वासना का काल संख्यात वर्षों तक का बताया गया है।

मतिज्ञान के सब भेदों में वासना की स्थिति (काल-मर्यादा) सर्वाधिक होने से ही उसका अभाव अन्तिम करण में बताया गया हो ऐसा ज्ञात होता है।

अनादिकाल से अविद्या एवं मिथ्यात्व (विपरीत बुद्धि) के अधीन बना जीवात्मा अपनी देह को ही अपना स्वरूप मानकर अर्थात् 'यह दिखाई देने वाली देह ही मैं हूँ' इस प्रकार जड़ देह में चैतन्य स्वरूप आत्मा की विपरीत बुद्धि कर देह के सुख में सुखी और देह के दुःख में दुःखी होता आया है। देह के जन्म, जीवन तथा मरण में अपना जन्म, जीवन और मरण मानता, अनुभव करता आया है।

जन्म-जन्मान्तरों से चली आ रही देह में आत्म-भ्रान्ति का यह संस्कार इतना अधिक दृढ़ हो गया है कि देह से भिन्न आत्म-तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का बोध तक इसे कभी नहीं होता।

जिस भव्यात्मा को भव-स्थिति का परिपाक होने से सद्गुरु का समागम होता है, वह उनके मुँह से आदरपूर्वक धर्म श्रवण करता है, तथा उस पर नियमित मनन करता है। तत्पश्चात् उसे देह से भिन्न आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है। और उसमें आत्म-स्वरूप की प्रतीति करने की कुछ रूचि प्रकट होती है। उस रूचि के अनुसार वह आत्म-प्रतीति-कारक धर्मानुष्ठानों का आसेवन करता है।

देह के साथ एकता का अविवेक जो अनेक जन्मों से परिपुष्ट बना होता है, उसके भेद-नाश करोड़ों जन्मों की धर्म-साधना के पश्चात् भी असम्भव होता है। इसका कारण यह है कि अन्तस्थ अविवेक के गूढ़ संस्कार उसे शुद्ध-भाव से धर्माराधना करने का संयोग प्रदान नहीं करते।

दीर्घकालीन कोई कुटेव जिस प्रकार मनुष्य पर अपना प्रभुत्व जमा लेती है, उसी प्रकार यह अविवेक मनुष्य को देह भाव में ही जकड़े रखता है।

फिर भी जिस भव्यात्मा में आत्मानुभूति की तीव्र ललक उत्पन्न होती है, और उसे सफल करने के लिए वह परमात्म-भक्ति, सद्गुरु-सेवा, शास्त्राभ्यास, जीव-मैत्री-परोपकार आदि गुणों में तथा यम, नियम आदि के पालन में सच्चा पुरुषार्थ करता है, तब देव-गुरु की कृपा से वह ध्यान-योग में प्रविष्ट होता है। और फलतः ध्यानाभ्यास में अग्रसर होकर अपूर्वकरण-रूप महासमाधि की भूमिका में पदार्पण करता है तब कहीं जाकर उस साधक को देह से भिन्न परमानन्दमय आत्मानुभूति के दो-चार सुभग पल मिल जाते हैं, अर्थात् आत्मिक आनन्द की आंशिक अनुभूति हो पाती है।

आत्मा में विद्यमान अनादिकालीन अविवेक के उन संस्कारों से विवेक के ये ताजे तथा प्राथमिक संस्कार किस प्रकार संघर्ष कर सकते हैं? अतः अविवेक की झंझावात आते ही विवेक रूपी दीपक की ज्योति बुझ जाती है और जीवात्मा पुनः भ्रान्त-दशा में थपेड़े खाने लगता है।

इस प्रकार विवेक-अविवेक के बीच घर्षण बहुत समय तक चलता रहता है। जो साधक कुसंस्कारों के विरुद्ध निरन्तर सचेत रहता है, अर्थात् उनके जाल में नहीं फँसता वह विवेक के दिव्य प्रकाश द्वारा बहिरात्म-भाव का त्याग कर अन्तरात्म भाव में स्थिर बनकर, परमात्म-स्वरूप की भावना से अपनी आत्मा को भावित करने में सफल होता है।

परमात्मा का जो सत्-चित्-आनन्दमय पूर्ण शुद्ध स्वरूप है, सत्ता से ऐसा ही स्वरूप मेरी आत्मा का है, परमात्मा तथा मेरे आत्मा में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। जो भेद प्रतीत होता है वह भी सोचाधिक है और दोनों का निरूपाधिक स्वरूप समान है, मौलिक है।

इस तरह स्वात्मा में परमात्म-भाव का अभेद-प्रणिधान ज्यों-ज्यों दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों ध्याता-आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में 'सोऽहं, सोऽहं' का अन्तर्नाद गूँज उठता है।

तात्पर्य यही है कि देह-दृष्टि द्वारा आत्मा को देखना घोर अविवेक पूर्ण है।

आत्मा का यथार्थ दर्शन परमात्मा के चक्षुओं से ही होता है। यह चक्षु उक्त प्रणिधान की परिपूर्ण परिणति के प्रबल प्रभाव से खुलती है और उस समय 'भोर भयो' का मर्म अनुभव-गोचर होता है।

जिस भव्यात्मा में अपुनर्बन्धक अवस्था से बीज रूप में ध्यान-योग का प्रारम्भ हुआ होता है, वह सम्यग्-दर्शन, अविरत, विरत, प्रमत्त, अप्रमत्त आदि गुणस्थानकों में उत्तरोत्तर विकासशील अवस्था में प्राप्त कर लेता है।

उन्मनीकरण आदि ग्यारह करणों की भूमिका तक के विकसित ध्यान-योग में साधक को क्रमशः विशुद्ध-विशुद्धतर आत्मानुभूति का प्रकाश प्राप्त होता जाता है।

ग्यारह गुण-स्थानकों में उपशम श्रेणी पर आरूढ़ चौदह पूर्वधर आदि महामुनि चारित्र की निर्मल आराधना के साथ सुविशुद्ध ध्यान की भाव-धारा में अग्रसर होने में यदि तनिक-सी भी सावधानी खो देते हैं, तो अवशिष्ट मोह के सूक्ष्म संस्कार उनकी साधना में विक्षेप डाल देते हैं, और भ्रान्ति के जाल में फँसाकर उन्हें गुणश्रेणी से भ्रष्ट कर देते हैं।

यद्यपि एक बार भी जिस भव्यात्मा को आत्मा का आंशिक अनुभव हो चुका होता है (सम्यग् दर्शन की स्पर्शना हो चुकी होती है) वह मोह-वश भ्रान्त हो जाए, तो भी उसके आत्मा की पूर्ण-शुद्ध अवस्था का प्रकटीकरण अर्द्धपुद्गल-परावर्त्त-काल में अवश्य होता ही है।

उपशम एवं क्षयोपशमिक भाव की अवस्था औदयिक भाव की शक्ति बढ़ने पर चली जाती है, परन्तु जब सूक्ष्म संस्कार-रूप-दर्शन-मोह का सर्वथा नाश होता है, तब पतन की सम्भावना नहीं रहती। क्षायिक भाव का सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मानुभूति में बाधक दर्शन-मोह का क्षय होने के पश्चात् साधक बहुत निकट भविष्य में ही पूर्ण-शुद्ध आत्म-स्वरूप का स्वामी बनता है।

निरूपयोगी करण की भूमिका में वासना रूप उपयोग का अर्थात् आत्मा पर पड़े हुए मोह आदि के संस्कारों का अभाव हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप देह में पुनः आत्म-भ्रान्ति होने की सम्भावना नहीं रहती। आत्मा स्वयं को आत्मज्ञान द्वारा स्वयं में ही अनुभव करे ऐसी उच्च स्थिति का इस करण में निर्माण होता है।

पूर्ववर्णित करणों में सत्तागत मोह आदि के संस्कारों के उद्बोधन की जो सम्भावना खड़ी थी वही यहाँ निर्मूल होती है।

ध्यान के भेदोपभेदों की विशालता

मूलपाठ—करणैर्गुणिता ध्यान (२४) भेदाः २३०४।

एते करणयोगैः षण्णवतिसंख्यैर्गुणिताः २,२१,१८४ ॥

भवनयोगैरप्येवं भेदाः, उभयं ४,४२,३६८ ॥

उक्तं च—

''चत्तारि सयसहस्सा बायालीसं भवे सहस्साइं।
तिन्नि सया अड़सट्ठा नेया छउमत्थझायाणं॥''

अर्थ—उपरोक्त करण के १२ × ८ = ९६ (छियानवें) भेदों के साथ ध्यान के चौबीस भेदों का गुणा करने पर ९६ × २४ = २३०४ होते हैं। इनसे छियानवें करणयोगों को गुणा करने पर २,२१,१८४ भेद सामने आते हैं। इसी प्रकार से २३०४ का छियानवें भवनयोगों से गुणा करने पर २,२१,१८४ भेद होते हैं।

इन दोनों के योग से कुल ४,४२,३६८ ध्यानं भेद होते हैं।

कहा भी है—

''चार लाख, बयालीस हजार, तीन सौ अड़सठ छद्मस्थ ध्यान के भेद जानें।''

विवेचन—आत्मा की मुख्य दो शक्तियाँ हैं (१) योग (क्रिया) शक्ति एवं (२) उपयोग (ज्ञान) शक्ति।[1] प्रणिधान आदि छियानवें योग भेदों में प्रधानतः योग (क्रिया) शक्ति की एवं उन्मनीकरण आदि ९६ करणों में प्रधानतः उपयोग (ज्ञान) शक्ति की उत्तरोत्तर विशेष प्रबलता होती है।

ध्यान-साधना में प्रयुक्त इन दोनों प्रकार की शक्तियों की मन्दता एवं तीव्रता के अनुसार ध्यान में मन्दता-तीव्रता होती है। योग एवं उपयोग शक्ति के इस तारतम्य से ध्यान के कुल ४,४२,३६८ भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं—ध्यान के चौबीस भेदों का ९६ प्रकार के प्रणिधान योग आदि के साथ तथा ९६ प्रकार के उन्मनीकरण आदि के साथ सम्बन्ध होने से २४ ध्यान भेदों का ९६ प्रकार के करणों के साथ गुणा करने पर २४ × ९६ = २३०४ भेद होते हैं। इन २३०४ का करणयोगों के साथ गुणा करने पर २३०४ × ९६ = २,२१,१८४ भेद होते हैं।

इसी तरह २४ (ध्यान) × ९६ (करण)=२३०४ भेदों को ९६ प्रकार के भवन-योगों के साथ गुणा करने पर भी २३०४ × ९६ (भवनयोग)=२,२१,१८४ होते हैं और ये दोनों मिलकर कुल ध्यान भेद ४,४२,३६८ होते हैं।

---

१. **योगोपयोगौ जीवेषु।**—*तत्त्वार्थ सूत्र*॥ ४४-५॥

यह विशाल भेद संख्या भिन्न-भिन्न प्रकार के साधकों की अपेक्षाकृत् अच्छी तरह घटित हो सकती है। समुदित २४ ध्यान-भेदों की अपेक्षाकृत् ध्यान के कुल ४,४२,३६८ भेदों का विचार किया गया है। अब इनमें से एक-एक ध्यान-भेद की अपेक्षा से होने वाले १८,४३२ भेदों का विचार करेंगे जिससे समुदित २४ ध्यान-भेदों को समझने में सरलता रहेगी। चौबीस ध्यान-भेदों में प्रथम भेद 'ध्यान' (आज्ञा-विचयादि-रूप धर्मध्यान) का ९६ प्रकार के यत्नपूर्वक होने वाले करणयोग से गुणा करने पर १ × ९६ = ९६ भेद होते हैं। इनका ९६ प्रकार के उन्मनीकरण आदि के साथ गुणा करने पर ९६ × ९६ = ९२१६ भेद होते हैं।

इसी प्रकार सहज भाव उद्भूत होने वाले भवनयोग के अपेक्षाकृत् ९२१६ भेद होते हैं। १×९६ (भवनयोग)=९६×९६ (करण)=९२१६ होते हैं। इन दोनों के योग से एक ध्यान के कुल १८४३२ भेद होते हैं, जिनमें करणयोग की अपेक्षा से होने वाले ९६ ध्यान भेद इस प्रकार हैं—

(१) जघन्य अशुभ योग से निवृत्त साधक का (आज्ञाविचयादि-रूप) धर्मध्यान-प्रणिधान-योग-युक्त ध्यान है।

(२) मध्यम अशुभोदय से निवृत्त साधक का (आज्ञाविचयादि-रूप) धर्मध्यान प्रणिधान-महायोग युक्त ध्यान है।

(३) उत्कृष्ट अशुभोदय से निवृत्त साधक का (आज्ञाविचयादि-रूप) धर्मध्यान प्रणिधान-परमयोग युक्त ध्यान है।

(४) जघन्य शुभ योग में प्रवृत्त साधक का धर्मध्यान समाधान-योग युक्त ध्यान है।

(५) मध्यम शुभ योग में प्रवृत्त साधक का धर्म-ध्यान समाधान-महायोग युक्त ध्यान है।

(६) उत्कृष्ट शुभयोग में प्रवृत्त साधक का धर्म-ध्यान समाधान-परमयोग युक्त ध्यान है।

(७) जघन्य मध्यस्थ भाव से युक्त साधक का धर्म-ध्यान समाधियोग-युक्त ध्यान है।

(८) मध्यम मध्यस्थ भाव से युक्त साधक का धर्म-ध्यान समाधि-महायोग युक्त ध्यान है।

(९) उत्कृष्ट मध्यस्थ भाव से युक्त साधक का धर्म-ध्यान समाधि-परमयोग युक्त ध्यान है।

(१०) जघन्य उच्छ्वास निरोध से युक्त साधक का धर्म-ध्यान काष्ठा-योग युक्त ध्यान है।

(११) मध्यम उच्छ्वास निरोध से युक्त साधक का धर्म-ध्यान काष्ठा-महायोग युक्त ध्यान है।

(१२) उत्कृष्ट उच्छ्वास निरोध से युक्त साधक का धर्म-ध्यान काष्ठा-परमयोग युक्त ध्यान है।

योग के मुख्य आठ प्रकार हैं, जिनमें प्रथम प्रकार 'योग' के उपरोक्त बारह भेद हैं। इसी तरह से शेष सात प्रकार—वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति और सामर्थ्य की अपेक्षा से भी प्रत्येक के उपरोक्त वर्णनानुसार बारह-बारह भेद समझें।

इस तरह प्रथम ध्यान (धर्म-ध्यान) योग आदि आठ का बारह-बारह प्रकारों के साथ गुणा करने पर ८ × १२ = ९६ प्रकार का होता है। वह प्रयत्लपूर्वक होने वाले करण-योगों की अपेक्षा से समझें।

इन ९६ ध्यान-प्रकारों में उत्तरोत्तर योग शक्ति की प्रबलता होती है; अर्थात् 'योग' की अपेक्षा वीर्य की शक्ति अधिक प्रबल होती है और वीर्य से स्थाम अधिक प्रबल होता है। इस उत्तरोत्तर संवर्धनशील प्रबलता में मुख्य कारण उसके विशिष्ट आलम्बन हैं।

९६ करणों की अपेक्षा से ९२१६ ध्यान-भेद

करण-योग की अपेक्षाकृत प्रथम 'ध्यान' के जिन ९६ भेदों का विचार किया, उनके प्रत्येक के ९६ प्रकार उन्मनीकरण आदि की अपेक्षाकृत् होने के कारण कुल ९२१६ भेद निम्नानुसार होते हैं—

(१) पूर्वोक्त ९६ ध्यान-भेद जब जघन्य प्रकार की निर्विकल्प अवस्था में आते हैं, तब ये उन्मनीकरण युक्त कहलाते हैं।

(२) पूर्वोक्त ९६ ध्यान-भेद जब मध्यम प्रकार की निर्विकल्प अवस्था में आते हैं, तब वे महोन्मनीकरण युक्त कहलाते हैं।

(३) पूर्वोक्त ९६ ध्यान-भेद जब उत्कृष्ट प्रकार की निर्विकल्प अवस्था में आते हैं, तब वे परमोन्मनीकरण युक्त कहलाते हैं।

(४) पूर्वोक्त ९६ ध्यान-भेद जब मिश्र प्रकार की निर्विकल्प अवस्था में आते हैं, तब वे सर्वोन्मनीकरण युक्त[१] कहलाते हैं।

(५) पूर्वोक्त ९६ ध्यान-भेद जब जघन्य प्रकार की निर्विकल्प अवस्था में आते हैं, तब वे उन्मनीभवन युक्त कहलाते हैं।

(६) पूर्वोक्त ९६ ध्यान-भेद जब मध्यम प्रकार की निर्विकल्प अवस्था में आते हैं, तब वे महोन्मनीभवन युक्त कहलाते हैं।

(७) पूर्वोक्त ९६ ध्यान-भेद जब उत्कृष्ट प्रकार की निर्विकल्प अवस्था में आते हैं, तब वे परमोन्मनीभवन युक्त कहलाते हैं।

(८) पूर्वोक्त ९६ ध्यान-भेद जब मिश्र प्रकार की निर्विकल्प अवस्था में आते हैं, तब वे सर्वोन्मनीभवन युक्त कहलाते हैं। कुल ७६८

प्रथम उन्मनीकरण के जिस प्रकार आठ प्रकारों के साथ पूर्वोक्त ९६ ध्यान भेदों का गुणा करने से कुल ७६८ होते हैं, उसी प्रकार से निश्चित्तीकरण आदि प्रत्येक करण की अपेक्षाकृत् ७६८-७६८ भेद होते हैं।

पूर्वोक्त ९६ ध्यान प्रकारों का दूसरे निश्चित्तीकरण के ८ भेदों से गुणा करने पर ७६८ भेद होते हैं।

पूर्वोक्त ९६ ध्यान प्रकारों का तीसरे निश्चेतनीकरण के ८ भेदों से गुणा करने पर ७६८ भेद होते हैं।

पूर्वोक्त ९६ ध्यान प्रकारों का चौथे निःसंज्ञीकरण के ८ भेदों से गुणा करने पर ७६८ भेद होते हैं।

पूर्वोक्त ९६ ध्यान प्रकारों का पाँचवें निर्विज्ञानीकरण के ८ भेदों से गुणा करने पर ७६८ भेद होते हैं।

पूर्वोक्त ९६ ध्यान प्रकारों का छठे निर्धारणीकरण के ८ भेदों से गुणा करने पर ७६८ भेद होते हैं।

पूर्वोक्त ९६ ध्यान प्रकारों का सातवें विस्मृतीकरण के ८ भेदों से गुणा करने पर ७६८ भेद होते हैं।

---

१. प्रयत्नपूर्वक होने वाले करणयोग के ९६ ध्यान-प्रकारों में निर्विकल्प अवस्था दोनों तरह से प्राप्त हो सकती है; अर्थात् उन्मनीकरण के आठ भेदों में प्रथम चार भेद प्रयत्नपूर्वक प्राप्त होने वाली ध्यान की निर्विकल्प अवस्था के सूचक हैं और उन्मनीभवन आदि चार भेद प्रयत्न किए बिना सहज भाव से प्रकट होने वाली ध्यान की निर्विकल्प अवस्था के द्योतक हैं, तथा सर्वोन्मनीकरण एवं सर्वोन्मनीभवन में दोनों भेद जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट—इन तीनों प्रकारों के मिश्रण वाला होता है। शेष समस्त करणों में भी इसी तरह समझें।

पूर्वोक्त ९६ ध्यान प्रकारों का आठवें निर्बुद्धीकरण के ८ भेदों से गुणा करने पर ७६८ भेद होते हैं।
पूर्वोक्त ९६ ध्यान प्रकारों का नवें निरीहीकरण के ८ भेदों से गुणा करने पर ७६८ भेद होते हैं।
पूर्वोक्त ९६ ध्यान प्रकारों का दसवें निर्मतीकरण के ८ भेदों से गुणा करने पर ७६८ भेद होते हैं।
पूर्वोक्त ९६ ध्यान प्रकारों का ग्यारहवें निर्वितर्कीकरण के ८ भेदों से गुणा करने पर ७६८ भेद होते हैं।
पूर्वोक्त ९६ ध्यान प्रकारों का बारहवें निरूपयोगीकरण के ८ भेदों से गुणा करने पर ७६८ भेद होते हैं।
कुल ९२१६ भेद होते हैं।

भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ भेद

प्रयत्नपूर्वक होने वाले करण योग की अपेक्षा से जिस प्रकार प्रथम 'ध्यान' भेद के कुल ९२१६ भेद होते हैं, उसी तरह से बिना प्रयत्न के सहज रूप से होने वाले भवनयोग की अपेक्षाकृत प्रथम 'ध्यान' भेद के ९२१६ भेद होते हैं।

धर्म ध्यान भवनयोग = उन्मनीकरण

१ × ९६ = ९६ × ९६ = ९२१६

इस तरह करणयोग एवं भवनयोग की अपेक्षा से होने वाले ९२१६ और ९२१६ भेद मिलकर कुल १८४३२ भेद प्रथम 'ध्यान' के होते हैं। उसी तरह से शेष परम-ध्यान, शून्य, परमशून्य आदि तेईस भेदों के भी प्रत्येक के १८४३२ भेद निम्न प्रकार से होते हैं—

परम-ध्यान आदि २३ ध्यानों की अपेक्षा से ध्यान भेद

(२) परमध्यान के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।
(३) शून्य के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।
(४) परम शून्य के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।
(५) कला के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।
(६) परम कला के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।
(७) ज्योति के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।
(८) परम ज्योति के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।
(९) बिन्दु के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।
(१०) परम बिन्दु के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।

(११) नाद के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।

(१२) परमनाद के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।

(१३) तारा के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।

(१४) परमतारा के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।

(१५) लय के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।

(१६) परमलय के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।

(१७) लव के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।

(१८) परमलव के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।

(१९) मात्रा के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।

(२०) परममात्रा के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।

(२१) पद के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।

(२२) परमपद के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।

(२३) सिद्धि के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।

(२४) परमसिद्धि के करणयोग की अपेक्षा से ९२१६ और भवनयोग की अपेक्षा से ९२१६ = १८४३२ भेद जानें।

इस प्रकार २४ × १८४३२ = ४,४२,३६८ कुल भेद होते हैं, जिनमें छद्मस्थ जीवों की अपेक्षा से संभावित समस्त ध्यान-प्रकारों का समावेश हो जाता है।

(१) योग के आलम्बन

मूलपाठ— योगो विरयं० इत्यादि यो योग उक्तस्तस्यालम्बनानि २९० ॥
तत्र मनोयोगः, 'जणवयसम्मय' इत्यादि भाषाः ४२,
'कालतियं' इत्यादि १६, उभयं ५८,
तत आसां मनश्चिन्तनावसरे मनोयोगत्वम् ५८,
भाषणावसरे भाषायोगत्वम् ५८ ॥
औदारिककाययोगे द्वात्रिंशद्भेदो जीव भेदात्-

अर्थ—'योगो विरियं' इत्यादि गाथा द्वारा जो योग कहा गया है, उसके २९० आलम्बन है, जिसमें मनोयोग इस प्रकार समझें।

[१]जणवय-सम्मय-ठवणा नामे रूवे पडुच्च सच्चे अ।
ववहार-भाव-जोगे दसमे ओवम्म सच्चे अ॥ २७३॥
कोहे माणे माया लोभे पेज्जे तहेव दोसे अ।
हासभए अक्खाइय उवधाए निस्सिआ दसमा॥ २७४॥
उप्पन्नविगयमीसग जीवमजीवे अ जीवअज्जीवे।
तहऽणंतमीसगा खलु परित्त अद्धा अ अद्धद्धा[२]॥ २७५॥
आमंतणि आणवणी जायणि तह पुच्छणी अ पन्नवणी।
पच्चक्खाणी भासा, भासा इच्छाणुलोमा अ॥ २७६॥
अणभिग्गहिआ भासा, भासा अभिग्गहम्मि बोद्धव्वा।
संसयकरणी भासा, वायऽअव्वायडा चेव॥ २७७॥

—*श्री दशवैकालिक निर्युक्ति* पृष्ठ ४१६

इन गाथाओं के अनुसार भाषा के ४२ प्रकार तथा 'कालतिय'[३] इत्यादि गाथा के अनुसार १६ प्रकार होते हैं।[४] ये दोनों मिलकर ५८ प्रकार बन जाते हैं। इन समस्त प्रकारों का मन से चिन्तन करते

१. इस गाथा के अर्थ के लिए देखें *परिशिष्ट-८*

२. २७५वीं गाथा के अतिरिक्त ये सब गाथाएँ 'श्री पन्नवणासूत्र' के ग्यारहवें भाषा-पद में, १६५वें सूत्र में भी हैं।

३. '*श्री वृहत्कल्पसूत्र*' की श्री मलयगीरिसूरि विरचित टीका में यह गाथा दृष्टिगोचर होती है। उक्त पाठ के लिए देखें *परिशिष्ट-८*

४. '*श्री बृहत्कल्पसूत्र*' की श्री मलयगीरिसूरिकृत टीका में वचन के सोलह भेद निम्न प्रकार हैं—

तानि च षोडशवचनान्यमूनि—
लिंगतियं वचनतियं, कालतियं तह परुक्ख पच्चक्खं।
उवणयऽवणयचउक्कं, अज्झत्थियं तु सोलसमं॥

अस्या (अ) क्षरगमनिका—'लिंगत्रयम्' इयं स्त्री, अयं पुमान्, इदं कुलम्।
'वचन त्रिकम्'—एकवचनं, द्विवचनं, बहुवचनमिति।
'कालत्रिकम्'—अकरोत्, करोति, करिष्यति च।'
'परोक्ष वचनं' यथा स इति।
'प्रत्यक्ष वचनं' एष इति।
'उपनयः'—स्तुतिः।
'अपनयः'—निन्दा तयोश्चतुष्कमुपनया-उपनयचतुष्कम्,—यथा रूपवती स्त्रीत्युपनयवचनम्। कुरूपा स्त्रीत्यपनयवचनम्, रूपवती स्त्री किन्तु दुःशीलेत्युपनयाऽपनयवचनम्, कुरूपा स्त्री किन्तु सुशीलेत्यपनयोपनयवचनम्। तथा अन्यच्चेतसि निधाय विप्रतारकबुद्ध्या अन्यद् बिभणिषुरपि सहसा यच्चेतसि तदेव यद् वक्ति तत् षोड़शमध्यात्मवचनम्॥ १६४॥

पीठीका, पृष्ठ ५०

समय ५८ प्रकार का मनोयोग बनता है और बोलते समय ५८ प्रकार का भाषायोग बनता है।

मूलपाठ—पुढ़वी-दग-अगणि-मारुय-वणनस्सइऽणंता पणिंदिया चउहा।
वणपत्तेया विगला दुविहा सव्वे वि बत्तीसं॥

तत्र पृथिव्यम्-तेजो-वाय्वनन्तकायिकाः सूक्ष्म-बादरपर्याप्ताऽपर्याप्त भेदाश्चतुर्धा। संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्ताऽर्याप्त भेदात् पंचेन्द्रियाश्चतुर्धा। प्रत्येकवनस्पति-विकलेन्द्रियाः पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदाः।

वैक्रियं पञ्चविंशतिधा। सप्तानां नारक भेदानां पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदेन चतुर्दश। वायुकायिकानां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च एकैकम्। देवानां चतुर्विधानां पर्याप्तापर्याप्त भेदेनाष्टौ-एवं २५।

आहारकं चैकविधम्। एवं कायत्रयस्यापि भेदाः ५८। एतदन्तर्गतत्वात् तैजस्यापि ५८। एवं कार्मणस्यापि ५८। एवआलम्बनानि॥ २९०॥

अत्र मनःप्रभृतीनि योगप्रसादारोहणालम्बनानि यथा वा रङ्गदानाय वस्त्रे पाशः क्रियते।

अर्थ—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, साधारणवनस्पति और पंचेन्द्रिय इन सबके चार-चार प्रकार हैं। प्रत्येक वनस्पति एवं विकलेन्द्रिय (दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय) के दो-दो प्रकार हैं। सब मिलकर ३२ भेद होते हैं। (६ × ४ = २४; (१ + ३) = ४ × २ = ८; २४ + ८ = ३२ कुल भेद होते हैं।)

अथवा पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजकाय, वायुकाय एवं अनन्तकाय—ये पाँचों सूक्ष्म तथा बादर और पर्याप्त तथा अपर्याप्त इस प्रकार चार भेदों के अनुसार २० प्रकार हैं।

पंचेन्द्रिय के संज्ञी, असंज्ञी पर्याप्त एवं अपर्याप्त—ये चार भेद हैं।

प्रत्येक वनस्पतिकाय तथा विकलेन्द्रिय—अर्थात् दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय इन चारों के पर्याप्त एवं अपर्याप्त—इस प्रकार दो भेद होने से आठ प्रकार हैं। (२०+४+८ = ३२)

अर्थ : तीन लिंग—पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग। जैसे पुरुष, स्त्री और कुल।
तीन वचन—एकवचन, द्विवचन, बहुवचन, जैसे एक पुरुष, दो पुरुष, अनेक पुरुष।
तीन काल—वर्तमानकाल, भूतकाल, भविष्यकाल, जैसे करता है, किया, करेगा।
परोक्ष वचन—जैसे 'वह'। प्रत्यक्ष वचन—जैसे 'यह'।
उपनय वचन (प्रशंसा वचन)— जैसे 'यह रूपवती स्त्री है।'
उपनय वचन (निन्दा करना)— जैसे 'यह स्त्री कुरूपा है।'
उपनय-अपनय वचन— जैसे 'यह स्त्री रूपवती है, परन्तु दुःशीला है।'
अपनय-उपनय वचन— जैसे 'यह स्त्री कुरूपा है, परन्तु सुशीला है।'
अध्यात्म वचन —मन में भिन्न सोचकर दूसरे को ठगने की भावना से अन्य बात कहने की इच्छा हो, फिर भी अचानक जो मन में हुआ हो, वही बात सहसा मुँह से निकल जाए।
इन १६ भेदों का उल्लेख *श्री पन्नवणा सूत्र* के भाषापद १९३वें सूत्र में भी है।

वैक्रिययोग के २५ प्रकार हैं। नारकी जीवों के सात भेद हैं। उनके प्रत्येक के पर्याप्त एवं अपर्याप्त एवं दो भेद होने से कुल १४ भेद होते हैं।

वायुकाय का एक भेद है।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच एवं मनुष्य का एक-एक भेद है।

भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक—इन चार प्रकार के देवों के पर्याप्त एवं अपर्याप्त दो भेद होने से आठ भेद हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर २५ प्रकार होते हैं। (१४ + १ + २ + ८ = २५)।

आहारक का एक प्रकार है। इस तरह तीनों काय—औदारीक, वैक्रिय, आहारक के मिलाकर ५८ भेद होते हैं। तेजस् शरीर उसके अन्तर्गत होने से उसके भी ५८ प्रकार हैं। इसी तरह कार्मण शरीर के भी ५८ भेद हैं। कुल मिलाकर ५८ (मनोयोग)+५८ (वाग् योग)+५८ (औ० काययोग)+५८ (वै० काययोग)+५८ (आ० काययोग)=२९० आलम्बन हैं।

यहाँ मोक्षसाधक को योग-प्रासाद पर चढ़ने के लिए मन, वाणी एवं काया आदि आलम्बन रूप हैं। जिस प्रकार वस्त्र पर रंग चढ़ाने के लिए उसे पहले पाश (कड़प) दिया जाता है।

विवेचन—योग, वीर्य आदि मुख्य आठ प्रकार के जिन योगों का वर्णन पहले किया जा चुका है, उनके भिन्न-भिन्न आलम्बनों का स्वरूप यहाँ बताया जा रहा है।

आलम्बन का अर्थ क्या? इसका स्पष्टीकरण इसके लिये दिए गये उदाहरणों से सोचें।

जिस प्रकार वस्त्र पर रंग चढ़ाने के लिए प्रथम कड़प दिया जाता है, अर्थात् चावल आदि चिकने पदार्थों के पानी में भिगोकर वस्त्र को दृढ़तापूर्वक बाँधा जाता है (ताकि उस पर रंग अच्छी तरह चढ़ सके, रहे तथा उसकी चमक खिल उठे) उसी प्रकार योग-प्रासाद पर अस्खलित रूप से आरोहण किया जा सके, वहाँ स्थिर रहा जा सके, इसके लिए (शुभ एवं स्थिर मन आदि) आलम्बन आवश्यक है।

प्रथम 'योग' के तीन आलम्बन हैं, मन, वचन और काया। इनके उपभेद २९० हैं। इनमें मनोयोग के ५८ भेद हैं। वाग् (भाषा) योग के ५८ भेद हैं। 'जनपदसत्य' आदि ४२ प्रकार एवं काल-त्रिक आदि १६ प्रकार मिलकर ५८ प्रकार होते हैं।

इन समस्त प्रकारों का मन से चिन्तन करते समय ५८ प्रकार का मनोयोग होता है, और उच्चारण करते समय ५८ प्रकार का वाग्-योग होता है।

भाषा बोलने के पहले उस प्रकार का विचार आता है, फिर शब्दों का उच्चारण होता है। इस कारण ही 'जनपदसत्य' आदि ५८ प्रकार चिन्तन की दृष्टि से मनोयोग के प्रकार कहलाते हैं और भाषा की दृष्टि से वाग्-योग के प्रकार कहलाते हैं।

काययोग के १७४ प्रकार हैं। जीवों के ३२ भेदों की अपेक्षाकृत औदारिक शरीर के २५ प्रकार होते हैं, आहारक शरीर का एक प्रकार है।

इस तरह तीनों शरीरों के मिलकर (३२+२५+१) = ५८ प्रकार होते हैं।

तेजस् शरीर और कार्मण शरीर—दोनों सूक्ष्म हैं और वे उपरोक्त तीनों शरीरों के साथ ही संपृक्त होने के कारण इन दोनों शरीरों के भी ५८-५८ भेद होते हैं। पाँचों शरीरों के कुल १७४ प्रकार होते हैं, तथा तीनों योगों के कुल ५८ + ५८ + १७४ = २९० प्रकार होते हैं।

वस्त्र रंगने के लिए जिस प्रकार प्रथम कड़प पाशरूप आलम्बन आवश्यक है, उसी प्रकार से योगरूपी महल पर चढ़ने के लिए मन आदि आलम्बन आवश्यक है।

योग शब्द के अनेक अर्थ हैं। यहाँ 'योग' शब्द 'आत्मवीर्य' के अर्थ में है, अर्थात् योग का अर्थ है—वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम आदि से पुद्गल के आलम्बन द्वारा प्रवर्तमान वीर्य विशेष जो आत्म-सामर्थ्यरूप है, तथा उसका कार्य आत्म-प्रदेशों को कर्म-क्षय के लिए क्रियाशील बनाना है।

प्रत्येक संसारी जीव को वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम आदि से प्रकट हुई आत्म-शक्ति का उपयोग करने के लिए पुद्गल के आलम्बन की आवश्यकता होती है। नदी, तालाब अथवा सरोवर के जल का उपयोग, जिस प्रकार नाली-नहर आदि द्वारा भिन्न-भिन्न तरीकों से होता है, उसी प्रकार प्रत्येक संसारी जीव में निहित योग-शक्ति का उपयोग मन, वचन और काया के विभिन्न आलम्बनों से होता है।

आत्मा में निहित वीर्यशक्ति एक होते हुए भी उसका उपयोग करने के तीन साधन होने से उसके भी तीन प्रकार हो गये हैं।

(१) काया के आलम्बन से होने वाला वीर्यशक्ति का उपयोग—काययोग कहलाता है।

(२) वचन के आलम्बन से होने वाला वीर्यशक्ति का उपयोग—वचनयोग कहलाता है।

(३) मन के माध्यम से होने वाला वीर्यशक्ति का उपयोग—मनोयोग कहलाता है।

संज्ञी जीवों को मन, वचन एवं काया—तीनों योग होने से, तीनों योग की निर्मलता एवं निश्चलता के अनुपात में उन्हें योग की शुद्धि और स्थिरता होती है।

इन ग्रन्थकार महर्षि ने ध्यान की व्याख्या में मन आदि की शुद्धि के लिए सात प्रकार की प्रशस्त चिन्ता एवं चार प्रकार की शुभभावना का विधान किया है।

इस प्रकार पवित्र, शुद्ध एवं स्थिर बने, मनोयोग, वचनयोग एवं काययोग को यहाँ प्रणिधान आदि 'योग' के आलम्बनों के रूप में वर्णित किया है, जो यथार्थ है।

(२) वीर्य-योग के आलम्बन

मूलपाठ—वीर्ययोगालम्बनानि-ज्ञानाचार ८, दर्शनाचार ८, चारित्राचार ८, तपाचार १२, वीर्यचार ३६ एवं ७२॥

अर्थ—वीर्ययोग के आलम्बन ज्ञानाचार के ८, दर्शनाचार के ८, चारित्राचार के ८, तपाचार के १२ और वीर्याचार के ३६ प्रकार—इस तरह कुल वीर्ययोग के ७२ प्रकार के आलम्बन हैं।

विवेचन—'वीर्य' आत्मिक सामर्थ्य विशेष है। आत्म-प्रदेशों के द्वारा कर्म-दलों को ध्यानाग्नि में डालने-होमने के लिए प्रेरित करना वीर्ययोग का कार्य है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य के विषय में आचरण करना आचार कहलाता है। आचार ज्ञानादि पाँच प्रकार का है, उसका यथार्थ स्वरूप समझकर सम्यग् विधिपूर्वक पालन करने से वीर्ययोग की पुष्टि एवं शुद्धि होती है। आत्मिक सामर्थ्य रूप वीर्य-योग के उत्थान तथा विकास में यह आचार-पालन परम आलम्बन रूप होता है।

ज्ञानाचार आदि आचारों का नाम-निर्देश तथा उनका संक्षिप्त वर्णन यहाँ दिया जा रहा है। विस्तृत विवरण ज्ञानी पुरुषों से अथवा अन्य ग्रन्थों से जान लें।

ज्ञानाचार के आठ प्रकार

काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह अनिण्हवणे।
वंजण-अत्थ-तदुभये, अट्ठविहो नाणमायारो॥ १॥

काल विनय, बहुमान, उपधान, अनिन्हवन, व्यञ्जन, अर्थ और तदुभय—आठ प्रकारों का ज्ञानाचार होता है।

(१) **काल**—शास्त्रों में निर्दिष्ट स्वाध्याय के निश्चित समय पर श्रुतज्ञान का पठन-पाठन, पुनरावृत्ति आदि करना चाहिए।

(२) **विनय**—ज्ञानी, ज्ञान तथा ज्ञान के उपकरणों—पुस्तक, पन्नों, पृष्ठों आदि का उचित आदर करना, ज्ञान-दाता गुरु का विनय करना, खड़े होकर उनके सामने जाना, आसन देना, प्रणाम-वन्दन करना और उनकी आज्ञा पालन करना आदि।

(३) **बहुमान**—ज्ञानी गुरुओं आदि के प्रति आन्तरिक प्रेमपूर्ण सद्भाव तथा आदरभाव रखना चाहिए।

(४) **उपधान**—ज्ञानी की उपासना के लिए सूत्रों के पठन-पाठन के अधिकारी (पात्र) बनने के लिए शास्त्रोक्त तपोमय अनुष्ठान करने चाहिए।

(५) **अनिन्हवन**—गुरु एवं सिद्धान्त आदि का अपलाप (निन्दा) नहीं करना। जिन गुरु ने शास्त्रों का अध्ययन कराया हो, उनका नाम छिपाना नहीं चाहिए। इसके साथ-साथ न तो सिद्धान्तों की निन्दा करनी चाहिए, न ही शास्त्र-विरुद्ध प्रतिपादन करना चाहिए।

(६) **व्यञ्जन**—सूत्रों की अक्षर-रचना के प्रति कृतज्ञ रहना चाहिए। सूत्रों में मात्रा और अनुस्वार आदि घटाना-बढ़ाना नहीं चाहिए। एक अक्षर भी आगे-पीछे नहीं हो, ऐसी पूर्ण सावधानीपूर्वक स्पष्ट एवं शुद्ध सूत्रोच्चार करना चाहिए।

(७) **अर्थ**—शब्द के बोध्य विषय को 'अर्थ' कहते हैं। सूत्रों के तात्पर्य के मूल भाव को सुरक्षित रखते हुए शब्द का वास्तविक अर्थ करना अर्थ-शुद्धि है।

(८) **तदुभय**—शब्द एवं अर्थ दोनों की शुद्धता सुरक्षित रखते हुए शास्त्राध्ययन कर शास्त्रोक्त सत्य को जीवन में भावित करना चाहिए। ज्ञान के ये आठ आचार ज्ञानोपासना के आठ अंग हैं। इनका पालन करने से ज्ञान-गुण की वृद्धि एवं शुद्धि होती है।

दर्शनाचार के आठ प्रकार

निस्संकिअ निक्कंखिअ, निव्वितिगिच्छा अमूढ़दिट्ठी अ।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ॥ २॥

निःशंकता, निष्कांक्षता, निर्विचिकित्सा, अमूढ़ दृष्टिता, उपबृंहणा, स्थिरीकरण, वात्सल्य, एवं प्रभावना—ये दर्शनाचार के आठ प्रकार हैं।

(१) निःशंकता—'तमेव सच्चं णिस्संकं जं जिणेहिं, पवेइयं'' श्री जिनेश्वरदेवों ने जो कहा है, वही सत्य है, शंकारहित है'—शास्त्र-वचनों में ऐसी दृढ़ श्रद्धा रखना, तनिक भी शंका नहीं करना प्रथम दर्शनाचार है।

(२) निष्कांक्षता—कांक्षा अर्थात् इच्छा-अभिलाषा। श्री जिनेश्वर भगवान के प्रति अटूट श्रद्धा रखना, किसी अन्यमत की, मिथ्या-दर्शन की अभिलाषा नहीं करना, तथा धर्म के बदले किसी भी प्रकार के भौतिक फल की इच्छा नहीं करना। यह दोनों प्रकार की कांक्षा, इच्छा ध्येय से विचलित करती है, अतः इसका त्याग करना चाहिए।

(३) निर्विचिकित्सा—हितकर वस्तु पर भी ऐसा मतिविभ्रम रखना कि यह हितकर होगी या नहीं? विचिकित्सा है। जिस प्रकार जिन-शासन सर्व हितकर है, धर्म की आराधना सर्व वांछितफल प्रदान करने वाली है, फिर भी उसमें प्रवृत्ति करने से 'मुझे फल प्राप्त होगा या नहीं?' इस प्रकार धर्म के फल पर सन्देह उत्पन्न होना विचिकित्सा है, इससे रहित होना निर्विचिकित्सा है।

निर्विचिकित्सा एक अर्थ है—मुनि महात्माओं के मलिन वस्त्र, गात्र आदि देखकर उनकी निन्दा, उनसे घृणा नहीं करना। और दूसरा अर्थ है—धर्म के फल में सन्देह उत्पन्न करके विचलित चित्त नहीं बनना।

(४) अमूढ़-दृष्टिता—जिस व्यक्ति में खरे-खोटे को परखने की दृष्टि न हो, वह 'मूढ़-दृष्टि' कहलाता है। किसी का बाहरी ठाठ, आडम्बर, वाणी-विलास अथवा चमत्कार देखकर उस पर मुग्ध नहीं होना, श्री जिनेश्वर कथित् सत्य-मार्ग पर स्थिर-चित्त रहना और जिनशासन की लोकोत्तरता पर दृढ़ विश्वास रखना, अमूढ़-दृष्टिता है।

(५) उपबृंहणा—जिन शासन चतुर्विध संघ तथा उनके साधनों, अनुष्ठानों आदि की सर्वांग सुन्दर व्यवस्था, अद्‌भुतता (विलक्षणता) की प्रशंसा करना, गुणी पुरुषों के गुणों की योग्य प्रशंसा करना, समानधर्मी के गुणों की प्रशंसा करके उनकी वृद्धि करना।

(६) स्थिरीकरण—धर्म-मार्ग से विचलित होने वाले व्यक्ति को धर्म में स्थिर रखने का प्रयास करना।

(७) वात्सल्य—समान धर्म व्यक्ति के प्रति हृदय से प्रेम रखना, उसके प्रति हित का भाव रखना

तथा जिनशासन के प्रत्येक अंग—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका, मन्दिर, मूर्ति, आगम, तीर्थ आदि के प्रति प्रेम-भाव धारण करना।

(८) **प्रभावना**—लोगों पर धर्म का प्रभाव पड़े, और उनकी धर्माचरण की भावना हो, वैसे कार्य करना तथा जिनशासन के प्रति प्रेम, सन्मान की वृद्धि हो, तदनुसार शासनोन्नति के उत्तम कार्य करना।

दर्शनाचार के इन आठ आचारों का पालन करने से दर्शन-गुण की पुष्टि तथा स्थिरता होती है।

चारित्राचार के आठ प्रकार

पणिहाण-जोग-जुत्तो, पंचहिं समिइहिं, तीहिं गुत्तीहिं।
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होई नायव्वो॥ ३॥

चित्त की समाधिपूर्वक पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों के द्वारा (अर्थात् पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप आठ प्रवचन माता का पालन करने से) चारित्राचार आठ प्रकार का होता है।

समिति का अर्थ है सम्यग् प्रवृत्ति। यह पाँच प्रकार की होती है। गुप्ति का अर्थ है प्रशस्त निग्रह अथवा निवृत्ति। यह तीन प्रकार की होती है। दोनों निम्नानुसार हैं—

(१) **इर्या-समिति**—अचित्त पृथ्वी पर साढ़े तीन हाथ लम्बी दृष्टि रखकर किसी जीव को आघात, पीड़ा, वेदना न हो ऐसी सावधानी रखकर गमनागमन करना।

(२) **भाषा-समिति**—हित, मित, मधुर एवं निरवद्य वचन बोलना, कठोर मार्मिक भाषा का प्रयोग नहीं करना, तथा खुले मुँह नहीं बोलना।

(३) **एषणा-समिति**—वस्त्र, पात्र, आहार आदि शास्त्र-विधि के अनुसार ४२ दोष टालकर ग्रहण करना आदि।

(४) **आदान-निक्षेप-समिति**—वस्त्र, पात्र, उपकरण आदि जयणा सावधानीपूर्वक लेना तथा रखना।

(५) **पारिष्ठापनिका-समिति**—मल, मूत्र, श्लेष्म, आदि निर्जीव भूमि पर जयणा-उपयोगपूर्वक त्याग करना-परठना।

(६) **मनोगुप्ति**—मन का प्रशस्त निग्रह। मन को दुष्ट संकल्पों में अथवा अशुभ विचारों में प्रवृत्त होने नहीं देना, समभाव में स्थिर रहना।

(७) **वचनगुप्ति**—वाणी का संयम; मौन पालन, विशेष आवश्यकता के बिना नहीं बोलना।

(८) **कायगुप्ति**—काया का प्रशस्त निग्रह; देह के हलन-चलन पर अंकुश रखना। सामान्यतया समिति शुभ प्रवृत्ति-प्रधान है, तथा गुप्ति शुभ में प्रवृत्ति एवं अशुभ से निवृत्ति स्वरूप है।

इन आठ आचारों का यथार्थ पालन करने से आत्मा के चारित्र-गुण का विकास होता है।

तपाचार के बारह प्रकार

अणसणमूणोअरिया, वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ॥ ३५॥
पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं उस्सग्गोऽवि अ, अब्भिंतरओ तवो होई॥ ३६॥

तप के छः बाह्य, एवं छः अभ्यन्तर मिलकर बारह भेद होते हैं—

बाह्य तप के छः भेद—(१) अनशन—आहार का त्याग करना। नौकारशी से लगाकर एकासन, आयंबिल, उपवास यावत् मासक्षमण आदि तप अनशन स्वरूप है।

(२) उणोदरी—अपने नित्य खुराक से कम भोजन ग्रहण करने का विविध प्रकार से नियम रखना।

(३) वृत्ति-संक्षेप—वृत्ति अर्थात् द्रव्य अथवा आहार-पानी की वस्तुएँ; उन्हें घटाना, खान-पान की वस्तुओं की संख्या घटाकर सीमित करना।

(४) रस-त्याग—शरीर के धातुओं को जो तत्त्व पुष्ट करते हैं, उन्हें 'रस' कहते हैं—जैसे दूध, दही, घी, तेल, गुड़ एवं पकवान। इनका अमुक सीमा में अथवा सम्पूर्ण त्याग करना।

(५) काय-क्लेश—कष्ट सहन करना; मन एवं इन्द्रियों के विकारों का समझपूर्वक दमन करना कायिक कष्ट का प्रयोजन है।

(६) संलीनता—इन्द्रियों एवं कषायों पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से देह के अंग संकुचित करना—मन, वाणी एवं काया की असत्-प्रवृत्ति रोकना-संकुचित करना।

यह छः प्रकार का बाह्य (स्थूल) तप आभ्यंतर तप का हेतु है। बाह्य तप के सेवन से देह के प्रति ममत्व एवं आहार की लालसा घटती है। परिणामतः इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है और शारीरिक रोगों का अभाव होता है। संयम की क्रिया एवं योग-साधना में स्फूर्ति उल्लास की वृद्धि होने से निकाचित प्रायः दुष्ट कर्मों की निर्जरा इत्यादि अनेक लाभ होते हैं।

अभ्यन्तर तप के छः भेद—(१) प्रायश्चित्त—अपराधों (दोषों) की शुद्धि करने वाला, पाप का छेद करने वाला 'आलोचना' आदि नौ प्रकार का प्रायश्चित्त तप है।

(२) विनय-ज्ञानी, गुणी, उपकारी आदि का मोक्ष के साधनों का यथाविधि आदर, सम्मान, भक्ति, आराधना करना।

(३) वैयावृत्त्य-आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी तथा ग्लान आदि की सेवा-सुश्रूषा करना।

(४) स्वाध्याय—आत्म-हितकर शास्त्रों, ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन करना तथा वाचना,

पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा एवं धर्मकथारूप पाँच प्रकार के स्वाध्याय में तत्पर रहना।

(५) ध्यान—ध्यान अर्थात् चित्त की एकाग्रता। विविध विषयों में भटकते चित्त की किसी एक विषय में स्थिरता (एकाग्रता) ध्यान है। चार प्रकार के ध्यानों में से प्रथम दो अशुभ ध्यानों—आर्त्त एवं रौद्रध्यानों का परित्याग करके धर्म एवं शुक्ल ध्यानों में तत्पर होना।

(६) कायोत्सर्ग—पाप-शुद्धि, विघ्न-जय आदि शुभ संकल्पपूर्वक काया की ममता का परित्याग करके काया को स्थान से (स्थिर खड़े रहकर), वाणी को मौन से तथा मन को निश्चित किए हुए ध्यान से स्थिर करना।

यह छः प्रकार का आभ्यन्तर तप, मन एवं आत्मा की विशेष शुद्धि करने वाला है।

वीर्याचार के ३६ प्रकार

जीव के सामर्थ्य, आत्म-शक्ति अथवा आत्मबल को 'वीर्य' कहते हैं।[१]

उक्त ज्ञान आदि चारों आचारों के छत्तीस प्रकारों की मन, वचन एवं काया की शक्ति को छिपाये बिना यथाशक्ति पालन करना, आचरण करना ही वीर्याचार के ३६ प्रकार हैं।

इन पाँच आचारों के पालन में रत्नत्रयी,[२] सामयिक, दान, शील, तप एवं भावरूप धर्म की आराधना का समावेश होने से इनके द्वारा समग्र जिन-शासन की आराधना होती है।

ध्यान-साधना में आवश्यक मन, वाणी एवं काया की स्थिरता का बल आचार-पालन से ही विकसित होता है। आत्म-वीर्य की पुष्टि एवं योगों की स्थिरता में आचार-पालन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। इस अपेक्षा से आचार-पालन ध्यान का मूल है—यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है।

(३) स्थामयोग के आलम्बन

मूलपाठ : स्थाममालम्बनानि—"बंधण-संकमणुव्वटणा य अपवट्टणा उदीरणया।
उपसामणा-निहत्ती-निकायणा च त्ति करणाइं"॥ २॥

—*कम्मपयड़ी*, गाथा २

अर्थ—स्थामयोग के आठ आलम्बन इस प्रकार हैं—

(१) बंधनकरण, (२) संक्रमणकरण, (३) उद्वर्तनाकरण, (४) अपवर्तनाकरण, (५) उदीरणाकरण, (६) उपशमनाकरण, (७) निधत्तिकरण और (८) निकाचनाकरण।

विवेचन—स्थाम एक विशिष्ट आत्म-सामर्थ्य स्वरूप है। जिस सामर्थ्य विशेष से जीव अपने आत्म-प्रदेशों पर

---

१. **वीरियं ति बलं जीवस्स लक्खणं।**— *विशेषावश्यकभाष्य*, गाथा- २१९२.

२. सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र—इन तीन गुणों को 'रत्नत्रयी' कहते हैं।

चिपके हुए कर्म-दलों का क्षय करने के लिए उन्हें खींच लाए अर्थात् कर्म-दलों का अल्प-काल में सरलता से क्षय हो जाए उस प्रकार की भूमिका अदा करने वाले आलम्बन को 'स्थामयोग' कहते हैं।

उपरोक्त बंधनकरण आदि आठ करण स्थामयोग के आलम्बन हैं, अर्थात् ये बंधनकरण आदि करण जब विशुद्ध कोटि के बनते हैं, तब उनकेआलम्बन से स्थामयोग का उत्थान होता है।

स्थामयोग आत्मिक सामर्थ्यस्वरूप है और करण भी आत्मा का एक विशिष्ट वीर्य-परिणाम-अपूर्व प्रयत्न-विशेष है। जब साधक आत्मा में इस प्रकार अपूर्व प्रयत्न-अपूर्व वीर्य परिणाम प्रकट होता है, तब उसके आलम्बन से स्थामयोग रूप एक विशिष्ट प्रकार के आत्मिक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव होता है, और उसके द्वारा प्रणिधान, समाधान, समाधि एवं काष्ठारूप योग (ध्यान) अधिक प्रबल एवं विशुद्ध कोटि के बनते हैं।

आठ करणों का स्वरूप

बंधन आदि करणों के विस्तृत स्वरूप का '**कर्म-प्रकृत्ति**', '**पंचसंग्रह**' आदि ग्रन्थों में वर्णन किया गया है। यह तथ्य जिज्ञासुओं को गुरु-गम द्वारा वहाँ से जान लेना चाहिए। यहाँ आठ करणों का संक्षेप में विचार निम्नानुसार किया गया है—

(१) बंधनकरण—जीव मिथ्यात्व अविरति आदि हेतुओं द्वारा कर्म-योग पुद्गलों को आत्म-प्रदेशों के साथ जिस वीर्य-प्रयत्न विशेष से बाँधता है, उसे 'बंधनकरण' कहते हैं।

(२) संक्रमणकरण—एक कर्म स्वरूप में रहे हुए प्रकृति, स्थिति, रस एवं प्रदेशों का अन्य सजातीय कर्म के रूप में रूपान्तर जिस प्रयत्न विशेष से होता है, उसे संक्रमणकरण कहते हैं, जैसे अशातावेदनीय कर्म के परमाणुओं का शातावेदनीय कर्म के रूप में परिणमन होना।

(३) उद्वर्तनाकरण—जिस परिणति अथवा प्रयत्न-विशेष से कर्म की स्थिति अथवा उसके रस में अभिवृद्धि होती है, उसे उद्वर्तनाकरण कहते हैं।

(४) अपवर्तनाकरण—जिस परिणाम अथवा प्रयत्न विशेष से कर्म की स्थिति अथवा उसके रस में हानि होती है, उसे अपवर्तनाकरण कहते हैं।

(५) उदीरणाकरण—उदय अप्राप्त कर्म-दलों को जिस परिणाम अथवा प्रयत्न-विशेष से उदयावलिका में लाकर उदयाभिमुख किया जाता है, उसे 'उदीरणाकरण' कहते हैं।

(६) उपशमनाकरण—जिस परिणाम अथवा प्रयत्न विशेष से कर्मों को उदय, उदीरणा, निधत्ति, एवं निकाचनाकरण के अयोग्य बनाया जाए, उसे 'उपशमनाकरण' कहते हैं।

(७) निधत्तिकरण—जिस परिणाम अथवा प्रयत्न विशेष द्वारा कर्मों को उद्वर्तना तथा अपवर्तना के अतिरिक्त कोई अन्य करण नहीं लगे ऐसे किए जाते हैं, उसे 'निधत्तिकरण' कहते हैं।

(८) निकाचनाकरण—जिस परिणाम अथवा प्रयत्न विशेष द्वारा कर्मों को कोई भी करण न लगे, वैसे किए जाते हैं, उसे 'निकाचनाकरण' कहते हैं।

ये बंधन आदि आठों करण कब और किस प्रकार अपूर्व कोटि के बनते हैं, यह समझने के लिए जब जीव सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तब वह कैसे-कैसे लक्षणों (गुणों) से युक्त होता है, और उस समय कर्मों की स्थिति आदि भी कितनी अल्प प्रमाण वाली होती है, इस प्रकार की ज्ञान प्राप्ति आवश्यक होने के कारण यहाँ हम उसका संक्षेप में विचार करेंगे।

प्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति—मोक्ष का मार्ग जीव के लिए अनादिकाल से दुर्लभ है। मिथ्यात्व आदि दोषों के कारण जीव अपने सहज शुद्ध स्वरूप को ही जान नहीं पाता। उसके प्रति श्रद्धा भी नहीं रख सकता। जैन-शासन में सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र के समुदाय को मोक्षमार्ग कहा गया है।

कारण तथा कार्य का परस्पर संबन्ध है। एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं, तब वो कार्य होता है। सम्यग् दर्शनादि मोक्ष के उपाय कारण हैं। यह सम्यग्-दर्शन भी काललब्धि के बिना नहीं होता। कोई भी कर्म युक्त भव्यात्मा अधिक से अधिक कुछ न्यून अर्ध-पुद्गल-परावर्त-काल शेष रहता है, तब प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करने योग्य बनता है। परन्तु अधिक काल शेष हो, तो नहीं बनता। यह एक काललब्धि है। दूसरी काललब्धियों का सम्बन्ध कर्म की स्थिति से संयुक्त है। उत्कृष्ट स्थिति के कर्म शेष रहे, अथवा कोड़ा-कोड़ी सागरोपम से अधिक स्थिति वाले कर्म शेष रहे हों तो प्रथम सम्यक्त्व का लाभ (प्राप्ति) नहीं होता। भव की अपेक्षा से भी काललब्धि होती है। जो भव्य हो, संज्ञी हो, पर्याप्त हो, प्रति समय अनन्त-गुणी विशुद्धि धारक हो, उसे प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

काललब्धि की तरह अन्य पाँच लब्धियाँ भी '**कर्म-प्रकृति**' में बताई गई हैं। सम्यक्त्व प्राप्ति से पूर्व यथा-प्रवृत्ति आदि तीन करण करना अनिवार्य है। उन तीन करणों की योग्यता पाँच लब्धियों के द्वारा प्रकट होती हैं। वे पाँच लब्धियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) क्षयोपशम, (२) विशुद्धि, (३) देशना-श्रवण, (४) प्रायोग्य और (५) उपशम।

(१) क्षयोपशम लब्धि—सत्ता में रहे हुए कर्मों के अनुभाग-रस-स्पर्द्धकों की प्रति समय अनन्त-गुण-हीन उदीरणा करना अर्थात् जिस काल में अशुभ ज्ञानावरणीय आदि कर्म-समूह की प्रति समय अनन्तगुणहीन घटती हुई उदीरणा हो, उसे क्षयोपशम-लब्धि कहते हैं।

जिस लब्धि के प्रभाव से तत्त्वों का विचार किया जा सके, वैसा ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षयोपशम होता है।

(२) विशुद्धि लब्धि—उक्त क्षयोपशम लब्धि से अशुभ कर्मों का रस घटने से संक्लेश की हानि तथा उसकी प्रतिपक्षी विशुद्धि की वृद्धि होती है। उस प्रथम लब्धि-जनित शाता आदि शुभ कर्मों के बंध में निमित्तभूत एवं अशाता आदि कर्मों के बंध का विरोधी जीव के शुभ परिणाम की प्राप्ति को ही विशुद्धि-लब्धि कहते हैं।

जिस भाव में संसार के प्रति निर्वेद (वैराग्य) होता है और जीवात्मा के प्रति प्रेम, आत्म-हित तथा जीवादि तत्त्वों का विचार हो, वह भाव ही विशुद्धि-लब्धि है। कषाय मन्द होने पर विशुद्धि-लब्धि होती है।

(३) देशना-श्रवण-लब्धि—उक्त भाव के द्वारा जीव को मोक्षमार्ग में परिणत आचार्य आदि सद्गुरुओं का योग तथा सर्वज्ञ कथित, गुरु-उपदिष्ट छः द्रव्यों एवं जीव आदि नौ पदार्थ रूप तत्त्वोपदेश को ग्रहण-धारण करने की जो शक्ति प्राप्त होती है, वह देशना-श्रवण लब्धि कहलाती है।

यह लब्धि जिन वचन की प्रगाढ़ रूचि-स्वरूप होती है। यह जिस प्रकार सद्गुरु के उपदेश से उद्भूत होती है, उसी प्रकार उपदेश आदि के निमित्त बिना पूर्वभव के उस प्रकार के संस्कारों के बल से भव-प्रत्ययरूप भी होती है; तथा नरक आदि गति में यह पूर्व संस्कारों से ही होती है।

इस तत्त्वोपदेश का ग्रहण जीव को भव-अटवी में तथा उसकी तत्त्व-जिज्ञासा को शान्ति प्रदान करता है, जिससे उसमें स्वात्म-स्वरूप में एकाग्रता उत्पन्न करने का भाव जागृत होता है।

(४) प्रायोग्य-लब्धि—जीव अपने स्वरूप का परोक्ष ज्ञान प्राप्त कर उसके प्रकटीकरण के लिए भाव उत्पन्न करता है, संकल्प के साथ उस दिशा में पुरुषार्थाभिमुख बनता है, तब जीव की कर्म-सत्ता की स्थिति क्षय होकर अन्त-कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण ही शेष रह जाती है। अब जो नया बंध पड़ेगा, वह भी ऐसे विशुद्ध भाव के कारण इतने ही प्रमाण वाला पड़ेगा। कतिपय पाप-प्रकृतियों का बंध रुक जाता है और अशुभ कर्म-प्रकृति का रस (अनुभाव) भी घट जाता है। केवल दो स्थानिक रसों में अवस्थित हो जाता है। इस प्रकार की अवस्था का सृजन होना प्रायोग्य-लब्धि है।

ये चार लब्धियाँ भव्य एवं अभव्य दोनों को प्राप्त हो सकती हैं। उनमें भव्य जीव को श्रद्धा आदि गुणों की परिणतिरूप विशिष्ट परिणमन हो सकता है। जिस प्रकार मूँग के दाने में सीझने की योग्यता होती है, जिससे वह क्रमशः सीझकर परिपक्व बनता है; उस प्रकार भव्य जीव श्रद्धा आदि गुण को परिपक्व कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अभव्य जीव का स्वरूप से सत्ता से सिद्ध सदृश होते हुए भी सख्त मूँग के दाने की तरह उसे उस प्रकार की श्रद्धा आदि गुणों की परिणति नहीं होती, अतः वह कर्मक्षय करके मुक्त नहीं हो सकता।

ये चार लब्धियाँ प्राप्त हो जाने पर भी जीव को सम्यक्त्व प्राप्त हो ही जाए, ऐसा नियम नहीं है। इन चार लब्धियों में से क्रमशः तत्त्व-विचार विकसित होता जाता है, फिर भी तत्त्व-विचारक को सम्यक्त्व प्रकट हो जाए ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि विपरीत विचार उत्पन्न होने अथवा भिन्न विचारों में भटक जाने के कारण संभव है कि तत्त्व की प्रतीति एवं तत्त्व का निर्णय न भी हो। तो इस स्थिति में सम्यक्त्वरूप तत्त्व की अन्तःरूचि किस प्रकार प्रकट हो अथवा बनी रहे?

(५) उपशम-लब्धि—प्रायोग्य लब्धि वाले का प्रयत्न तत्त्व विचार करने तक सीमित होता है,

परन्तु यह पाँचवीं उपशम-लब्धि प्रकट होने के पश्चात् जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति अवश्य होती है। मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशमन करने की शक्ति ही उपशमकरण लब्धि है। इस लब्धि में जीव के परिणामों की विशुद्धि की समय-समय पर अनन्तगुनी वृद्धि होती रहती है, जिसका काल अन्तर्मुहूर्त का है।

ये पाँचों लब्धियाँ संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त भव्य जीवों को होती है।

पाँच लब्धियुक्त जीवों की विशेषताएं—

- इन लब्धियों वाले जीव शुभ प्रकृति के बंधक होते हैं।
- उत्तरोत्तर समय में अनन्तगुने विशुद्ध परिणामों से युक्त होते हैं।
- शुभ प्रकृति के रस की अनन्तगुनी-अनन्तगुनी वृद्धि करते हैं और दो स्थानिक में से बढ़ाकर चार स्थानिक करते हैं।
- अशुभ प्रकृति के रस को चार स्थानिक में से घटाकर दो स्थानिक करते हैं।
- वे आयुष्यकर्म के बंधक नहीं होते अर्थात् आयुष्य-वर्जित सात कर्मों की अन्ततः कोड़ा-कोड़ी स्थिति की सत्तावाले होते हैं।
- मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान तथा विभंगज्ञान—इन तीन अज्ञान-रूप साकार उपयोग में प्रवृत्त होते हैं।
- तीन योगों में से किसी एक योग में प्रवृत्त होते हैं।
- तीन शुभ लेश्याओं में से किसी एक लेश्या में प्रवृत्त होते हैं।
- प्रति अन्तर्मुहूर्त में अशुभ कर्मों को भी उत्तरोत्तर पल्योपम के संख्यातवें भाग में न्यून बाँधते होते हैं।

इन योग्यताओं से युक्त जीव सम्यक्त्व प्राप्त करने से पूर्व (१) यथाप्रवृत्तिकरण, (२) अपूर्वकरण, (३) अनिवृत्तिकरण—ये तीन करण करते हैं। ये तीनों करण आत्मा की उत्तरोत्तर अधिक विशुद्ध कोटि की अवस्थाएं हैं, ध्यान की भूमिकाएं हैं। इनका काल अलग-अलग तथा समुदित रूप में अन्तमुर्हूर्त प्रमाण बताया गया है।

उक्त तीन करणों की अवस्थाओं से गुजरने के पश्चात् जीव अन्तमुहूर्त की स्थिति-युक्त 'अन्तरकरण' (उपशान्त अद्धा) में प्रवेश करता है। यहाँ 'मिथ्यात्व मोहनीय' का सर्वथा उपशमन हो जाने से प्रथम समय में ही उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। उस समय आत्मा को ऐसे अपूर्व कोटि के आनन्द की अनुभूति होती है, जो पहले कभी नहीं हुई।

विशुद्धि का तारतम्य—प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण के पहले समय में परिणामों की जो विशुद्धि होती है, इसकी अपेक्षा दूसरे समय की विशुद्धि अनन्तगुनी विशेष होती है। इसी प्रकार अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में भी पूर्व-पूर्व के समय की अपेक्षा पश्चात् के समय में उत्तरोत्तर अनन्तगुनी अधिक आत्म-विशुद्धि होती है। विशुद्धि की वृद्धि का यह क्रम तीनों करणों के चरमोत्कर्ष, परम-समय तक होता है।

यथा प्रवृत्तिकरण एवं अपूर्वकरण—इन दो करणों में एक साथ प्रवेश करने वाले जीवों में भी परस्पर विशुद्धि तारतम्य होता है। कोई जीव जघन्य विशुद्धि युक्त होता है, तो कोई मध्यम, तो और कोई उत्कृष्ट विशुद्धि युक्त। विशुद्धि के इस तारतम्य को सामान्यतया छः विभागों में विभाजित किया जा सकता है, जिन्हें षट्स्थान-पतित विशुद्धि कहते हैं। जो इस प्रकार हैं—

किसी एक जीव का विशुद्धि स्थान, दूसरे जीव के विशुद्धि-स्थान की अपेक्षा (१) अनन्तभाग अधिक, (२) असंख्यात भाग अधिक तथा (३) संख्यात भाग अधिक हो सकता है; तथा (४) संख्यात गुना अधिक, (५) असंख्यात गुना अधिक और (६) अनन्त गुना अधिक भी हो सकता है।

तीसरे अनिवृत्तिकरण में विशुद्धि का ऐसा तारतम्य नहीं होता। इस तीसरे करण में प्रविष्ट, समान समय में रहे हुए समस्त जीवों के अध्यवसाय एवं विशुद्धि-स्थान परस्पर समान ही होते हैं, अनन्त भाग अधिक आदि कोई भेद उनमें नहीं होते।

उपशम एवं क्षपक श्रेणी में होने वाले अपूर्वकरण आदि का स्वरूप भी **कर्म प्रकृति, पंच संग्रह** आदि ग्रन्थों से समझा जा सकता है।

अतः यह स्पष्ट है कि ये यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण उत्तरोत्तर स्थिर एवं विशुद्ध अध्यवसाय-परिणामस्वरूप होने से ध्यानात्मक है। इनमें बताये हुए विशुद्धि के तारतम्य का विचार करने से ध्यान के बहु-संख्यक भेदोपभेदों का विस्तार भी भली-भाँति घटित हो जाता है और 'योग असंख्य जिन कह्या' पंक्ति का तात्पर्य भी हृदयंगम हो जाता है।

इस प्रकार आठ करणों के आलम्बन के फलस्वरूप स्थाम-योग का प्रादुर्भाव होने से आत्मा अपने प्रदेशों में व्याप्त कर्म-दलों को खींच लाता है अर्थात् अल्पकाल में सरलता से क्षय हो जाए ऐसी भूमिका-युक्त बनाता है।

(४) उत्साह, (५) पराक्रम और (६) चेष्टा-योग के आलम्बन

मूलपाठ — उत्साहस्य ऊर्ध्वलोकवस्तुचिन्ता।

पराक्रमस्य अधोलोकचिन्ता। चेष्टायाः तिर्यग्लोक चिन्तनम्॥

अर्थ — ऊर्ध्वलोक की वस्तुओं की चिन्ता उत्साह का आलम्बन है, अधोलोक की वस्तुओं की चिन्ता पराक्रम का आलम्बन है और तिर्यग्लोक की वस्तुओं की चिन्ता चेष्टा का आलम्बन है।

विवेचन — आत्मा अनन्तवीर्य-शक्ति महासागर है। उस जिस प्रकार के आलम्बन प्राप्त होते हैं, उनके अनुरूप वीर्य-शक्ति उल्लसित होकर अपना कार्य करती है।

उत्साह, पराक्रम एवं चेष्टा आत्मा की वीर्य-शक्ति के सामर्थ्य विशेष के ही विशिष्ट प्रकार हैं। ऊर्ध्वलोक, अधोलोक एवं तिर्यग्लोक के पदार्थों के चिन्तन के आलम्बन से क्रमशः उत्साह आदि तीनों योग उल्लसित होते हैं।

इन तीनों योगों में उत्साह-योग का कार्य आत्मप्रदेशों में स्थित कर्मों को ऊपर ले जाना है, पराक्रम-योग का कार्य ऊपर आये हुए कर्म-दलों को पुनः नीचे ले जाना है और चेष्टा-योग अपने स्थान पर रहते हुए कर्म-प्रदेशों को सुखा डालने का कार्य करता है।

ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यग्-लोक के स्वरूप का विस्तृत वर्णन '**बृहत् संग्रहणी**', '**लोकप्रकाश**' आदि ग्रन्थों में किया गया है। अतः इसे वहाँ से गुरु-गम द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ उनके सम्बन्ध में केवल संक्षेप में विचार किया गया है।

लोकपुरुष

सम्पूर्ण लोक चौदह रज्जुप्रमाण है। और पुरुष के आकार का होने के कारण उसे 'लोक पुरुष' कहते हैं, अर्थात् समतल भूमि पर दोनों पाँव चौड़े करके, दोनों हाथ कमर पर रखकर सीधे खड़े हुए पुरुष की मुद्रा के समान लोक का आकार है।

तात्पर्य यह है कि मानव-आकृति लोकपुरुष की आकृति की लघु आवृत्ति है, परन्तु उसमें स्थित आत्मा के असंख्य प्रदेशों का पूर्ण प्रगटीकरण एवं शुद्धिकरण चिन्तन को लोक-स्वरूप के यथार्थ चिन्तन में ढ़ालने से होता है। इस तरह 'पिण्डे सो ब्रह्माण्डे' उक्ति संगत ठहरती है।

समग्र लोक का स्वयं में समावेश करने वाले चिन्तन तथा ध्यान 'सर्वत्र सुखी भवतु लोकः' पद के सतत जाप तथा चिन्तन-मनन से स्वतः उद्भूत होता है।

अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं काल —इन छः द्रव्यों से यह लोक परिपूर्ण (व्याप्त) है।

अनन्त करुणावन्त भगवन्तों ने जीवों पर उपकार करने के शुद्ध आशय से इस लोक के तीन विभाग कर उसके स्वरूप का यथार्थ वर्णन किया है।

ये तीन विभाग हैं — ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्च्छालोक।

अधोलोक

चौदह रज्जुप्रमाण इस लोक का नीचे का सात रज्जु प्रमाण जो आधा भाग है वह अधोलोक है, जिसकी आकृति लोकपुरुष के चौड़े किये हुए दो पांवों के समान है।

इस अधोलोक में क्रमश: नीचे-नीचे फैली हुई छत्र के आकार की रत्नप्रभा आदि नाम की सात नरक भूमियाँ हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी पिण्ड एक लाख अस्सी हजार योजन प्रमाण मोटा है। इसके ऊपर तथा नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर शेष एक लाख अठहत्तर हजार योजन में तेरह प्रतर होते हैं, उनमें तीस लाख नरकावास (नारकी जीवों के उत्पत्ति-स्थान) हैं।

इन तेरह प्रतरों (परतों) के बारह अन्तरों में भवनपति देवों के भवन मंडप के समान आवास है।

ऊपर के शेष बचे एक हजार योजन के दल में से एक सौ योजन ऊपर-नीचे के छोड़कर शेष आठ सौ योजनों में आठ व्यन्तरदेवों की जातियाँ रहती हैं और ऊपर छोड़े हुए एक सौ योजन में दस-दस योजन छोड़कर, मध्य के अस्सी योजन में आठ वाण-व्यन्तर जाति के देव रहते हैं।

मध्यलोक

चौदह राजलोक के मध्य में असंख्य द्वीपों तथा असंख्य समुद्रों से वेष्टित एक रज्जुप्रमाण मध्यलोक है, जिसके बीचों-बीच जम्बूद्वीप का मेरु-पर्वत है। उस मेरु के मूल में समभूतला पृथ्वी में आठ रूचक प्रदेश हैं।[१]

उक्त समभूतला पृथ्वी से नौ सौ योजन ऊपर और नौ सौ योजन नीचे—इस तरह एक हजार आठ सौ योजन-प्रमाण एवं एक राज के विस्तार का तिर्च्छालोक है। उसके ऊपर के नौ सौ योजन में प्रकाश करने वाले सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिष्क देवों के विमान निम्नानुसार स्थित हैं —

समभूतला पृथ्वी से सात सौ नब्बे योजन ऊपर तारों के विमान हैं।

इनसे दस योजन ऊपर सूर्य के विमान हैं।

इनसे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा के विमान हैं।

इनसे चार योजन ऊपर नक्षत्रों के विमान हैं।

नक्षत्रों से चार योजन ऊपर बुध, वहाँ से तीन योजन ऊपर शुक्र, वहाँ से तीन योजन पर गुरु, वहाँ से तीन योजन पर मंगल और वहाँ से तीन योजन ऊपर शनिग्रह के विमान हैं।

ढाई द्वीप के ऊपर स्थित सूर्य आदि ज्योतिष्कदेवों के सब विमान मेरु पर्वत के चारों ओर घूमते

---

१. इस भूमि पर से श्री जिनागमों में वर्णित समस्त नाप होते हैं।

रहते हैं, अत: उन्हें 'चर' कहते हैं, और ढ़ाई द्वीप के बाहर के विमान स्थिर होने के कारण 'अचर' कहलाते हैं।

समभूतला पृथ्वी के नीचे के नौ सौ योजन में व्यन्तर-वाण-व्यन्तर देव रहते हैं।

तिर्यग् दिशा की अपेक्षा से एक रज्जु प्रमाण में जंबूद्वीप आदि असंख्य द्वीप तथा लवण समुद्र आदि असंख्य समुद्र हैं। ये द्वीप तथा समुद्र एक दूसरे से उत्तरोत्तर दुगने विस्तार वाले हैं, और पूर्व-पूर्व के द्वीप-समुद्रों को घेरकर वलयाकार में स्थित हैं।

इन समस्त द्वीपों तथा समुद्रों के मध्य में एक लाख योजन विस्तृत थाली के समान गोल जम्बूद्वीप है। उसके मध्य में एक हजार योजन गहरा तथा निन्यानवें हजार योजन ऊँचा—कुल एक लाख योजन का मेरु-पर्वत है। जिसके दक्षिण-उत्तर में भरत आदि सात क्षेत्र एवं हिमवान आदि छ: वर्षधर पर्वत आदि हैं। उसके चारों ओर दो लाख योजन विस्तृत लवण-समुद्र है। तत्पश्चात् चार लाख योजन-प्रमाण का धातकी खण्ड है। वहाँ के क्षेत्र तथा पर्वत पूर्व के (जम्बूद्वीप के) नाप से दुगने हैं। उनके चारों ओर आठ लाख योजन विस्तृत कालोदधि समुद्र है। तत्पश्चात् आठ लाख योजन विस्तृत पुष्करार्द्ध-द्वीप है। वहाँ के क्षेत्रों तथा पर्वतों के नाम धातकी खण्ड के समान हैं।

पुष्करार्द्ध-द्वीप के चारों ओर मानुषोत्तर पर्वत है। मनुष्यों का निवास वहाँ तक ही होने से वह 'ढाई द्वीप' अथवा मनुष्य लोक कें नाम से भी जाना जाता है। तत्पश्चात् जो असंख्य द्वीप एवं समुद्र हैं, वे एक-एक से दुगने विस्तार वाले हैं, जिनमें तिर्यंच निवास करते हैं, तथा वहाँ देवों की नगरियों में देव भी निवास करते हैं।

इन असंख्य द्वीपों-समुद्रों में सबसे अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप एवं स्वयंभूरमण समुद्र आते हैं।

मनुष्य लोक का कुल विस्तार पैंतालिस लाख योजन है, जिसमें पन्द्रह कर्मभूमियाँ, तीस अकर्मभूनियाँ तथा छप्पन अन्तर्द्वीप हैं, जहाँ, मनुष्यों का निवास है।

मनुष्य, मनुष्य-क्षेत्र से ही सिद्ध हो सकते हैं, जिससे सिद्धशिला भी पैंतालिस लाख योजन प्रमाण विस्तृत है, वह मनुष्य-लोक के ठीक ऊपर स्थित है।

ऊर्ध्वलोक

समभूतला पृथ्वी से नौ सौ योजन ऊपर स्थित ग्रहों के विमानों के पश्चात् ऊर्ध्वलोक की सीमा प्रारम्भ होती है। वहाँ से असंख्य योजन प्रमाण में कुछ न्यून एक रज्जु के पश्चात् दक्षिण दिशा में 'सौधर्म' नामक प्रथम देवलोक आता है, और उत्तर दिशा में 'ईशान' नामक दूसरा देवलोक आता है।

इन दोनों देवलोकों के संयुक्तरूप से तेरह प्रतर[1] हैं। तत्पश्चात् ऊपर जाने पर दक्षिण दिशा में

१. प्रतर अर्थात् ऊपरा-ऊपर वलय आकार में जमी हुई मंजिल।

तीसरा 'सनत्कुमार' और उत्तर दिशा में चौथा 'माहेन्द्र' देवलोक आता है, जिनके बारह प्रतर हैं।

तत्पश्चात् ऊपर जाने पर पाँचवां 'ब्रह्मलोक' देवलोक है, जिसके छः प्रतर हैं। और ऊपर जाने पर छठा 'लांतक' देवलोक है, जिसके पाँच प्रतर हैं। ऊपर जाने पर 'महाशुक्र' देवलोक है, जिसके चार प्रतर हैं। उसके ऊपर जाने पर आठवाँ 'सहस्रार' देवलोक है, जिसके चार प्रतर हैं। दक्षिण की ओर नौवाँ 'आनत' एवं उत्तर दिशा में दसवां 'प्राणत' देवलोक है। इन दोनों देवलोकों के मिलकर कुल चार प्रतर हैं। तत्पश्चात् दक्षिण दिशा में आगे जाने पर ग्यारहवाँ 'आरण' एवं उत्तर दिशा में बारहवाँ अच्युत देवलोक है। इन दोनों के भी चार प्रतर हैं।

तत्पश्चात् ऊपर-ऊपर स्थित 'नौ ग्रैवेयक' के विमान हैं। उन नौ के नौ प्रतर ही हैं। तत्पश्चात् ऊपर जाने पर समान सतह पर स्थित पाँच 'अनुत्तर' के विमान हैं। इन पाँचों का प्रतर एक ही है।

इन पाँच विमानों में से विजय, वैजयन्त, जयन्त एवं अपराजित — ये चार विमान चारों दिशाओं में हैं और पाँचवा 'सर्वार्थसिद्ध' विमान मध्य में है। इन समस्त विमानों में निवास करने वाले देव 'वैमानिक' कहलाते हैं। उनके भेदों-उपभेदों आदि के सम्बन्ध में विशेष विवरण गुरु-गम के द्वारा जान लें।

अधो, मध्य एवं ऊर्ध्व — ये तीनों लोक मिलकर चौदह राज प्रमाण का 'लोकपुरुष' है। इन चौदह राजों की गिनती तथा व्यवस्था निम्नानुसार है।

मेरु-पर्वत के मध्यभाग में गो-स्तनाकार चार ऊपर तथा चार नीचे-आठ रूचक प्रदेश हैं। वहाँ से कुछ न्यून सात राजप्रमाण नीचा अधोलोक है। ये दोनों मिलकर चौदह राजप्रमाण ऊँचाई वाला लोकाकाश है।

अधोलोक की व्यवस्था

(१) रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरी प्रतर से शर्करा प्रभा के ऊपरी प्रतर तक एक रज्जु जिसमें रत्नप्रभा पृथ्वी से घनोदधि, घनवात, तनवात तथा आकाश क्रमशः नीचे-नीचे स्थित हैं। इस प्रकार प्रत्येक नरक-पृथ्वी में समझे।

(२) शर्कराप्रभा के ऊपरी प्रतर से लगाकर वालुका प्रभा के ऊपरी प्रतर तक दूसरी रज्जु।

(३) वालुका प्रभा के ऊपरी प्रतर से लगाकर पंकप्रभा के ऊपरी प्रतर तक एक तीसरा रज्जु।

(४) पंकप्रभा के ऊपरी प्रतर से लगाकर धूमप्रभा के ऊपरी प्रतर तक एक चौथा रज्जु।

(५) धूमप्रभा के ऊपरी प्रतर से लगाकर तम:प्रभा के ऊपरी प्रतर तक एक पाँचवा रज्जु।

(६) तम:प्रभा के ऊपरी प्रतर से लगाकर 'तमः तमः प्रभा पृथ्वी' तक छठा रज्जु।

(७) 'तमः तमः प्रभा' के पृथ्वी से लगाकर लोक के किनारे तक सातवाँ रज्जु।

इस तरह सात नरक पृथ्वियों के द्वारा अधोलोक तनिक अधिक सात रज्जु प्रमाण की ऊँचाई में है।

ऊर्ध्वलोक की व्यवस्था

(१) रत्नप्रभा के ऊपरी प्रतर से लगाकर सौधर्म—प्रथम देवलोक के १३ प्रतर के विमान की ध्वजा के अंत तक एक रज्जु।

(२) सौधर्म से लगाकर चौथे माहेन्द्र देवलोक के बारहवें प्रतर के विमान के अंत तक दूसरा रज्जु।

(३) लांतक के पाँचवें प्रतर के अंत तक तीसरा रज्जु।

(४) सहस्रार के चौथे प्रतर तक चौथा रज्जु।

(५) अच्युत के अंतिम प्रतर तक पाँचवा रज्जु।

(६) ग्रैवेयक के नवें प्रतर तक छठा रज्जु।

(७) लोकांतक तक सातवाँ राज पूर्ण होने से अधो, ऊर्ध्व दोनों मिलकर संपूर्ण लोक चौदह राज प्रमाण ऊँचा है, और उसकी चौड़ाई अधोलोक में सातवीं नरक पृथ्वीतल में तनिक न्यून सात रज्जु की है। फिर क्रमशः घटते-घटते मध्य नाभि के स्थान पर एक रज्जु की चौड़ाई रह जाती है। तत्पश्चात् ऊर्ध्वलोक में बढ़ते-बढ़ते हाथ की दो कोहनियों के स्थान की चौड़ाई ५ रज्जु की होती है। तत्पश्चात् घटकर मस्तक के स्थान पर १ रज्जु प्रमाण चौड़ाई रह जाती है।

मेरु के मध्य भाग में त्रसनाड़ी है, जो एक रज्जु-प्रमाण चौड़ी तथा चौदह रज्जुप्रमाण लम्बी (ऊँची) है। त्रसजीवों की उत्पत्ति उसमें ही होती है।

चौदह राजलोक की स्पर्शना

जिनागमों में स्पष्टतया कहा गया है कि "केवली भगवान जब केवली समुद्घात की प्रक्रिया करते हैं, तब आठ समय की इस प्रक्रिया में चौथे समय में वे अपनी आत्मा के एक-एक प्रदेश को आकाश के प्रत्येक प्रदेश में जमाकर सर्वलोक-व्यापी बनाते हैं।"

कोई श्रुतज्ञानी महातपस्वी मुनिराज जब इलिका गति द्वारा अनुत्तर विमान में उत्पन्न होते हैं, तब वे यहाँ से सातराज तक ऊर्ध्वलोक की स्पर्शना करते हैं।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि, देश-विरति आदि उत्तम आत्मा भी उत्कृष्टतः पाँच-राज की स्पर्शना करते हैं।[१]

---

१. इस सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिए देखिए '*सर्वज्ञ कथित परम सामायिक धर्म*' (लेखक-विजय कलापूर्ण सूरि) स्पर्शना द्वार विभाग, पृष्ठ ७८

इन सब परम पवित्र आत्माओं के पवित्रतम आत्म-प्रदेशों के पावनकारी स्पर्श से यह सम्पूर्ण लोक पावन बना हुआ है तथा आज भी पावन हो रहा है।

इस पवित्रता का सम्यक् रीति से विचार करने पर अनन्त उपकारी भगवान के अनन्त उपकार के साथ आन्तरिक संयोग स्थापित होता है। जिसके प्रभावस्वरूप साधक को आध्यात्मिक साधना में अपार बल प्राप्त होता है, और आगे बढ़ने पर उसमें निर्मल ध्यान-योग द्वारा उस विश्व-व्यापी पवित्रता का अमुक अंशों में अनुभव भी कर सकता है।

शुद्ध आत्मा की अचिन्त्य शक्ति के इस स्वाभाविक प्रभाव पर ज्यों-ज्यों चिन्तन, मनन, ध्यान केन्द्रित होते हैं, त्यों-त्यों अभेदानुभूति की कक्षा परिपक्व होती जाती है, विश्वात्मभाव की भूमिका सुदृढ़ होती जाती है और विश्वेश्वर वीतराग परमात्मा का ध्यान प्रारम्भ होने लगता है।

लोकस्वरूप के चिन्तन का महत्त्व

चौदह राजलोक तथा उनमें स्थित जीवादि द्रव्यों का चिन्तन संवेग[१] एवं वैराग्य आदि गुणों को प्रकट करता है।

मुमुक्षु साधक जिनके द्वारा अपनी समग्रता को नित्य भावित करता है, उन बारह भावनाओं में 'लोकस्वरूप' की भावना का भी स्थान है। संस्थान विचय ध्यान में भी लोक-स्वरूप का चिन्तन करने का विधान है।

भावना संवररूप होने के कारण आते हुए कर्मों का निरोध करती है तथा ध्यान निर्जरा-स्वरूप है जो पुराने कर्मों का क्षय करती है।

इस प्रकार लोकस्वरूप के चिन्तन द्वारा उसमें छिपे हुए तत्त्वगर्भित गहन रहस्य स्पष्टतर होने पर वह आध्यात्मिक साधना का एक अंग बन जाता है।

लोक स्वरूप के चिन्तन-बिन्दु

क्षिति-पृथ्वी, वलय-घनोदधि आदि, द्वीप-जंबूद्वीप आदि, क्षेत्र-भरत आदि, समुद्र-लवणसमुद्र आदि, नरक-रत्नप्रभा आदि, विमान-ज्योतिष आदि देवों के विमान, भवन-असुर कुमार आदि भवन-पति देवों के सात करोड़ बहत्तर लाख भवन इत्यादि।

लोकस्वरूप के चिन्तन के आवश्यक बिन्दु अंकित करने के बाद यह समझना अनिवार्य है कि चिन्तन किस प्रकार किया जाना चाहिए।

(१) उर्ध्वलोक में बसे देवों, उनके निवास करने के विमानों आदि का स्वरूप, उनकी संख्या

---

१. **जगत्काय स्वभावौ च संवेग वैराग्यार्थम्।**

— *तत्त्वार्थसूत्र*

आदि का चिन्तन करने से 'उत्साह' योग की वृद्धि होती है। यह उत्साह दबी हुई आत्म-शक्ति को प्रकट करता है।

(२) अधोलोक में रहने वाले भवनपति निकाय के देवों के निवास करने के भवन आदि तथा नरकावास आदि के चिन्तन के द्वारा 'पराक्रम' योग की वृद्धि होती है। उत्साह-रूप वीर्य शक्ति द्वारा ऊर्ध्वगामी कर्मों को पुनः नीचे लाने वाली विशिष्ट आत्म शक्ति को 'पराक्रम' कहते हैं।

(३) तिर्यग्लोक में स्थित द्वीपों, समुद्रों आदि के चिन्तन से 'चेष्टा' योग की वृद्धि होती है। स्व-स्वस्थान पर रहे हुए कर्मों को तप्त लोहे के भाजन में रहे हुए पानी की तरह सुखा डालने वाली विशिष्ट आत्म शक्ति को 'चेष्टा' कहते हैं।

तीनों लोकों में विद्यमान समस्त पदार्थों में जीव मुख्य है, और उसके उत्कृष्ट मंगल का चिन्तन करते रहने से उत्साह में अपूर्व संवर्धन होता है। तीनों लोकों के समस्त पदार्थों का यथार्थ चिन्तन करने की महान् कला सिद्ध की जा सकती है और ध्यान में भी विशेष-विशेष स्थिरता प्राप्त होती है।

स्थिर (निश्चल) ध्यान से कर्म-क्षय की प्रक्रिया वेगवती बनती है, जिससे आत्मा विशुद्धतर एवं विशुद्धतम बनती जाती है।

जिनागमों में निर्दिष्ट द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, कथानुयोग एवं गणितानुयोग — इन चारों का अध्ययन, मनन एवं चिन्तन संवर-निर्जरा-रूप आत्म-साधना में अपने-अपने स्थान पर आवश्यक एवं उपकारक है। इनमें से एक भी अनुयोग की उपेक्षा साधक की साध्य के प्रति उपेक्षा है।

आत्मिक साधना के मार्ग में संगीन विकास करने की उत्कट भावना वाले साधकों के लिए इन अनुयोगों का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान अत्यन्त आवश्यक है।

(७) शक्ति-योग के आलम्बन

मूलपाठ — शक्तेः तत्त्व-परमतत्त्व चिन्ता।

अर्थ — जीव आदि तत्त्वों तथा ध्यान-परम-ध्यान आदि परम तत्त्वों की चिन्ता शक्ति-योग के आलम्बन हैं।

विवेचन — एक विशिष्ट प्रकार की आत्मा की सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं।

जीव एवं कर्मों को परस्पर से अलग करने के लिये शक्ति की अभिमुखता साधना शक्ति-योग है।

जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों के स्वरूप का चिन्तन तत्त्व-चिन्ता है।

ध्यान, परमध्यान आदि चौबीस (२४) प्रकार के ध्यानों एवं उनके भेदोपभेदों के स्वरूप का चिन्तन परम तत्त्व चिन्ता है।

ये दोनों प्रकार की चिन्ताएं शक्ति-योग को प्रकट करने वाली तथा उसे परिपुष्ट करने वाली होने के कारण उसकी आलम्बन रूप हैं।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान प्रवचन के द्वारा नौ तत्त्वों के विशद स्वरूप को प्रकाशित और स्पष्ट करते हैं, तथा गणधर भगवान तत्त्वों के स्वरूप को सूत्रों के रूप में गुम्फित करते हैं।

गणधर भगवान द्वारा प्रणीत जिनागम नौ तत्त्वों का ही अर्थ विस्तार है तथा अन्य सुविहित आचार्यों आदि द्वारा रचित प्रकरण ग्रन्थों आदि में भी नौ तत्त्वों का ही विस्तृत विवेचन किया गया है।

जगत के समस्त चर-अचर पदार्थों एवं धर्म, योग अथवा अध्यात्म की समस्त साधना इन नौ तत्त्वों में ही समाविष्ट है। नौ तत्त्वों से भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

ध्यान-परम-ध्यान आदि ध्यान भी निर्जरा-तत्त्व के अंग होते हुए भी, परमतत्त्व के रूप में उनका स्वतंत्र निर्देश, आत्म-साधना के मार्ग में उनकी सर्वाधिक प्रधानता, क्षमता एवं अनिवार्यता सूचित करता है।

आइये, अब हम नौ तत्त्वों के नामों तथा उनके स्वरूप पर संक्षेप में विचार करें। नौ तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आस्रव, (६) संवर, (७) निर्जरा, (८) बंध और (९) मोक्ष।

जीव द्रव्य की स्वतंत्रता एवं विशिष्टता

जीव स्वतन्त्र द्रव्य हैं। धर्मास्तिकाय आदि अन्य पाँच द्रव्यों से इसका स्वरूप एवं लक्षण सर्वथा भिन्न है।

द्रव्य गुण एवं पर्याय से युक्त होता है, अतः जीव द्रव्य भी गुण एवं पर्याय-युक्त है, तथा नित्य है।

जीव का द्रव्य के रूप में कदापि नाश नहीं होता। वह सदा जीवित है, जीवित था, और जीवित रहेगा। यह अविनाशी जीव अपने 'उपयोग' स्वभाव का कदापि त्याग नहीं करता, चाहे वह नरक में हो या निगोद में।

जो धर्म द्रव्य के साथ रहने वाले सहभावी हों, उन्हें, 'गुण' कहते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि गुण हैं जो सदा जीव के साथ ही रहते हैं; किसी भी काल में जीव में इन गुणों का अभाव नहीं होता।

जो धर्म क्रम-भावी होते हैं, अर्थात् उत्पन्न होने वाले तथा नाश होने वाले होते हैं, उन्हें 'पर्याय' कहते हैं। पर्यायों का उत्पाद एवं व्यय होता है, फिर भी द्रव्य एवं गुण स्थायी रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि —

द्रव्य की अपेक्षा जीव-द्रव्य एक है।

क्षेत्र की अपेक्षा जीव असंख्य आत्म-प्रदेशों में विद्यमान है।

काल की अपेक्षा जीव अनादि और अनन्त है।

भाव की अपेक्षा जीव अनन्त पर्याय युक्त है, अर्थात् जीव के अनन्त ज्ञान-पर्याय, दर्शन-पर्याय,

चारित्र-पर्याय तथा अगुरुलघु-पर्याय होते हैं।[१]

'एगे आया' यह सूत्र-पद चेतना लक्षण की अपेक्षा आत्मा 'एक है' यह व्यक्त करता है।

भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से जीवों का अनेक भेद शास्त्रों में अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है, जिनमें 'चेतना' की अपेक्षा जीव का एक भेद बताया गया है।

आत्मा का जो सत्-चित्-आनंदमय शुद्ध स्वरूप है, वह समस्त जीवों में समान है। स्वरूप से समस्त जीव एक जैसे हैं। जैसा स्वभाव सिद्ध परमात्माओं का है, वैसा ही स्वभाव समस्त जीवों का है। इसी कारण जो योगी पुरुष सच्चिदानंदमय स्व-स्वभाव में मग्न होते हैं, वे समस्त जीवों को भी सच्चिदानंद स्वरूप में देखते हैं।

द्रव्य के रूप में आत्मा, परमात्मा-स्वरूप ही है। जीवों के आठ रुचक प्रदेश सदा कर्म रहित (निरावरण) होने से सिद्ध-सदृश शुद्ध हैं, अर्थात् जीव मात्र में परमात्म शक्ति निहित है, उसे उपादान शक्ति कहते हैं।

जीव के १४ स्थान-भेद, १४ गुणस्थानक, १४ मार्गणा[२] सब जीव के परिणाम और अवस्थाएं जो बदलती रहती हैं, परंतु जीव कदापि नहीं बदलता। उसका शुद्ध ज्ञायक-भाव हमेशा एक स्वभावना है।[३]

शुद्ध नय की दृष्टि से उपरोक्त समस्त अवस्था कर्मजनित होने से उपाधिरूप हैं। जीव स्वयं समस्त उपाधियों से रहित, निष्कल एवं शुद्ध स्फटिक सदृश निर्मल है।

बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा — ये तीनों आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं। अन्तरात्म भाव द्वारा बहिरात्मभाव का त्याग कर प्रच्छन्न परमात्म-भाव प्रकट करने के साथ-साथ प्राप्त किया जा सकता है।

---

१. **दवेणिक्कं दव्वं, संखातीतप्पदेसमोगाढं।**
काले अणादिनिहणं, भावे नाणाइयाऽणंता॥ १५४॥ – *बृहत्कल्पसूत्र पीठिका*

२. चौदह मार्गणा — जीवों की बाह्य एवं आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित अनन्त भिन्नताओं के एक बुद्धिगम्य वर्गीकरण को 'मार्गणा' कहते हैं। मुख्य चौदह मार्गणाएँ निम्नलिखित हैं —
(१) गति, (२) इन्द्रिय, (३) काय, (४) योग, (५) वेद, (६) कषाय, (७) ज्ञान, (८) संयम, (९) दर्शन, (१०) लेश्या, (११) भव्य, (१२) सम्यक्त्व, (१३) संज्ञी, (१४) आहारक।
गति आदि चार अवस्थाओं के कारण जीव में गुणस्थानक आदि की मार्गणा अर्थात् विचारणा की जाती है, उन अवस्थाओं को मार्गणा कहते हैं।

३. **जीवस्थानानि सर्वाणि, गुण स्थानानि मार्गणाः।**
परिणामा विवर्तन्ते, जीवस्तु न कदाचन ॥ २९ ॥
उपाधिः कर्मणैव स्या-दाचाराऽऽदौ श्रुतं ह्यदः
विभवानित्यभावेऽपि, ततो नित्यस्वभाववान् ॥ ३० ॥ — *द्वा. द्वा.* १०

आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता विद्यमान है। इसीलिए जब आत्मा परमात्मा के साथ एकत्व भावना से भावित होकर समापत्ति सिद्ध करता है। तब वह परमात्म-तुल्य अपनी आत्म-शक्ति से परिचित हो जाता है। (जो आत्मा इस परमात्म-भावना का 'विषय' नहीं बनता, उसे यह तात्त्विकी समापत्ति नहीं होती।

परमात्म-ध्यान के प्रभाव से अविद्या-मिथ्या मोह का नाश होने से, प्रत्येक अवस्था में प्रच्छन्न रूप में निहित परमात्म-शक्ति का ज्ञान होता है।

जगत् के समस्त जीव स्वरूप की, शक्ति की अपेक्षा समान है अतः उन समस्त जीवों के प्रति मैत्री स्नेह स्व-तुल्य भाव प्रदर्शित करना तथा तदनुरूप प्रवृत्ति बनाए रखना मुमुक्षु साधक का कर्तव्य है, ऐसा ज्ञानी पुरुषों का कथन है।

जो प्रेम-भाव हममें अपने प्रति है, अपने निकटवर्ती जीवों के प्रति है, उस प्रेम और भावना का जीव-जाति तक विस्तार करना ही 'सामायिक' का प्रवेशद्वार है।

तीनों लोकों के सभी जीव जब आत्मवत् एवं आत्मभूत प्रतीत होते हैं, ऐसी स्थिति में समस्त् प्रकार के अशुभ आस्रव (कर्म-बन्ध के द्वार) बंद होते हैं, और संवर-निर्जरा स्वरूप चारित्र का शुद्ध पालन होने के साथ आत्म-रति की अनुभूति होती है।

शुद्ध नय की दृष्टि से चेतना लक्षण से जीव का एक भेद है तथा व्यवहार नय की दृष्टि से जीव के २, ३, ४, ५, ६, १४ यावत् ५६३ भेद भी होते हैं और उन भेद वाले जीवों में भी औदयिक, क्षयोपशमिक आदि भावों में विभिन्नता के कारण अनेक प्रकार की विचित्रताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

जीवों की कर्मजनित उस विषम अवस्था विशेष के कारण उनके प्रति मैत्री-भाव खण्डित न हो, द्वेष या तिरस्कार न हो, इसके लिए दुःखी जीवों के प्रति करुणा-गुणी जीवों के प्रति प्रमोद तथा विपरीत वृत्ति वाले जीवों के दोषों के प्रति उपेक्षा-भाव मध्यस्थ-भाव रखने से 'मित्ति में सव्व भूएसु' के परिणाम को अखंड रखा जा सकता है।

उपकारी भगवानों का कथन है कि धर्म की परिणति से पूर्व जीव को जो मैत्री स्वयं से होती है, जो प्रमोद स्वयं के गुणों के प्रति होता है, जो करुणा अपने दुःखों के प्रति होती है, जो उपेक्षाभाव अपने दोषों के प्रति होता है — धर्म परिणति के पश्चात् वही मैत्री-भाव समस्त जीव-जाति के साथ होता है, वैसा ही प्रमोद समस्त गुणवानों के प्रति होता है, वैसी ही करुणा समस्त दुःखी जीवों के प्रति होती है, वैसी ही उदासीनता सबके दोषों के प्रति होती है।

इस तरह उपयोग एवं उपग्रह द्वारा तथा द्रव्य-गुण-पर्याय से जीव-तत्त्व के सूक्ष्म स्वरूप का चिन्तन करना जीव-तत्त्व की चिन्ता है।

यह चिन्ता इतनी सात्विक तथा तात्त्विक है कि इसके सतत अभ्यास से चित्त सूक्ष्म से सूक्ष्मतर

एवं शुद्ध से शुद्धतर होकर ध्यान का पात्र बनता ही है।

जीव के दो लक्षण

जो सदा जीवित है, उसे जीव कहते हैं। जीव, आत्मा, चेतन आदि एकार्थक (पर्यायवाची) नाम हैं।

जीव का अन्तरंग लक्षण 'उपयोग' है। उपयोग दो प्रकार का है — (१) साकार उपयोग (२) निराकार उपयोग।

साकार उपयोग से वस्तु का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट होता है, जिसे 'ज्ञान' कहते हैं, यह भेद-ग्राहक है।

निराकार उपयोग से वस्तु का सामान्य स्वरूप स्पष्ट होता है, जिसे 'दर्शन' भी कहते हैं, जो अभेद-ग्राहक है।

ये दोनों प्रकार के उपयोग संसारी जीवों में न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान होते हैं, तथा सिद्धात्माओं में ये सम्पूर्णतः शुद्ध रूप से प्रकट होते हैं।

इस प्रकार उपयोग (चेतना) जीव का स्वरूप-दर्शक लक्षण है। अतः यह तीनों कालों में समस्त जीवों में व्यापक रूप में विद्यमान अवश्य होता है। जीव उपयोग रहित कदापि नहीं होता तथा जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य (पदार्थ) में उपयोग (संवेदनात्मक शक्ति) नहीं होती।

जीव का बहिरंग लक्षण 'उपग्रह' है। इससे प्रत्येक जीव का अन्य समस्त जीवों के साथ परस्पर-सम्बन्ध के स्वरूप का बोध होता है।

उपग्रह अर्थात् जीवों के पारस्परिक हित-अहित में निमित्त बनने का स्वभाव।[१] चैतन्य शक्ति के तारतम्य के कारण जिस प्रकार 'उपयोग' में तारतम्य स्थापित होता है, उसी प्रकार उपग्रह में भी तारतम्य होता है, अर्थात् ये दोनों लक्षण प्रत्येक जीव में होते हैं।

'उपग्रह' का प्रयोग उपकार, सहायता के अर्थ में होता है; जैसे जो साधु गच्छ के साधुओं का भोजन, श्रुत आदि के दान के द्वारा उपकार करता है, वह साधु गच्छ का उपग्रह-कारक है, परन्तु 'तत्त्वार्थ' सूत्र में जो परस्पर उपग्रह करने का जीव मात्र का स्वभाव बताया है, उसका अर्थ तत्त्वार्थ भाष्य एवं वृत्ति में इस प्रकार किया हुआ है।

'परस्परस्य हिताहितोपदेशाभ्यामुपग्रहो जीवानामिति।'[२]

हित के प्रतिपादन एवं अहित के निषेध द्वारा जीवों का परस्पर 'उपग्रह' (उपकार) होता है।

---

१. **परस्परोपग्रहो जीवानाम्** २१-५

— *तत्त्वार्थ सूत्र*

२. *तत्त्वार्थ भाष्य*, पृष्ठ-२१

जीव परस्पर जिस प्रकार एक-दूसरे के उपकारक बनते हैं, उसी प्रकार अन्य पुद्गल आदि पदार्थ परस्पर उपकारक नहीं बनते। पुद्गल आदि अन्य द्रव्यों का उपकार एकपक्षीय है। अन्य द्रव्य को उस उपकारक बनने वाले पुद्गल आदि द्रव्य को उस उपकार के बदले में कोई हानि-लाभ नहीं होता।

जीव के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में भावों के आदान-प्रदान की स्वाभाविक क्षमता नहीं होती। केवल जीव ही जीवों के उपकारक स्वभाव का प्रतिनिधि है।

मित्र-जीव सुमार्ग बताकर तथा अन्य आपत्तियों के विविध प्रसंगों में सहायता कर उपग्रह-कारक सिद्ध होता है।

शत्रु-जीव संकट उत्पन्न कर कर्म-क्षय में सहायक सिद्ध होकर उपग्रह-कारक सिद्ध होता है।

उदासीन जीव अन्तराय न करने के कारण उपग्रह-कारक सिद्ध होता है। इस तरह 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्र सर्वांशतः यथार्थ प्रमाणित होता है।

जीव के इस अनन्य स्वभाव का स्पष्ट निर्देश करने के लिए सूत्र में पुनः 'उपग्रह' शब्द ग्रहण किया गया है, और सर्वाधिक उपकार धर्मोपदेश द्वारा होता है यह बताने के लिए भाष्य में 'उपदेश' शब्द का साक्षात् प्रयोग किया गया है।

प्रश्न — अहित का उपदेश अथवा अहितकर हिंसा आदि अनुष्ठानों द्वारा उपकार किस प्रकार होता है?

उत्तर — यहाँ 'उपग्रह' (उपकार) शब्द निमित्तवाची है। अतः उपदेश आदि जैसे होते हैं, तदनुसार परस्पर हित एवं अहित होता है।

समस्त जीव परस्पर उपकार करते हैं। इसका तात्पर्यार्थ यह है कि समस्त जीवों का एक-दूसरे के अनुग्रह (हित) एवं उपघात (अहित) में निमित्त बनने का स्वभाव विद्यमान है।

जीवों का सम्बन्ध

व्यक्ति की अपेक्षा जीव अनन्त हैं, फिर भी जीवत्व जाति की अपेक्षा जीव मात्र एक है। 'एगे आया' —'आत्मा एक है'।

यह सूत्र-पंक्ति सभी जीवों में जीवत्व समान होने से इस स्वरूप-सादृश्य की अपेक्षा बताती है कि समस्त जीव एक हैं।

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'— इस सूत्र में प्रयुक्त 'परस्पर' शब्द अत्यन्त मार्मिक है और इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक जीव का अन्य जीवों के साथ जीवत्व-जाति का एक शाश्वत सम्बन्ध है। अतः एक जीव अन्य जीव के साथ उसके हित या अहित के अनुरूप हित अथवा अहित का विचार अथवा व्यवहार करता है।

यहाँ यह तथ्य विशेष ध्यान देने योग्य है कि जीव का मूल स्वभाव उपकारक ही है, अनुपकारक रूझान रुख अथवा व्यवहार का कारण कर्म-वशता है, अर्थात् जैसा स्वभाव सिद्ध भगवानों का है, वैसा ही स्वभाव जीव का है। अनुपकारक रूझान आदि विभाव-दशा-जनित है।

यह स्पष्टीकरण इसलिए किया गया है ताकि प्रत्येक साधक अपनी आत्मा के मूल स्वभाव से परिचित रहे।

निमित्त की आवश्यकता

उपादान कारण की तरह निमित्त कारण की भी कार्य की उत्पत्ति में आवश्यकता पड़ती है। कोई भी कार्य निमित्त के बिना केवल उपादान से सिद्ध नहीं होता। उपादान में क्रियाशीलता निमित्त के योग से ही आती है।

तत्त्वार्थ सूत्र में बताए गए छः द्रव्यों के कार्य-लक्षणों का सूक्ष्म रूप से चिन्तन करने से यह निमित्त कारण की आवश्यकता एवं उपकारकता की मात्रा स्पष्टतया भी समझी जा सकती है।

जीव एवं पुद्गल अपनी गत्यात्मकता से गति करते हैं तब धर्मास्तिकाय गति में तथा स्थिति (स्थिरता) में अधर्मास्तिकाय सहायता करता है।

जीव (एवं पुद्गल) का गति और स्थिति में सहायक होना ही क्रमशः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का कार्य है।

वस्तुतः गति-स्थिति का उपादान कारण स्वयं होते हुए भी जीव केवल स्व-शक्ति से गति-स्थिति नहीं कर सकता। गति-स्थिति करने में उसे स्व-शक्ति के उपरान्त अन्य किसी निमित्त कारण की अपेक्षा होती है।

स्व-शक्ति अन्तरंग कारण है। केवल अन्तरंग कारण से कार्य नहीं होता। अन्तरंग तथा बहिरंग (बाह्य) दोनों कारण के संयोग से ही कार्य सम्पन्न होता है। जिस प्रकार पक्षी में उड़ने की शक्ति है, परन्तु यदि पंख अथवा हवा न हो, तो वह उड़ नहीं सकता; उसी प्रकार जीव में (एवं पुद्गल में) गति-स्थिति करने की शक्ति होते हुए भी यदि बाह्य कारण रूप धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय न हो तो वह गति-स्थिति नहीं कर सकते।

तात्पर्य यह है कि निमित्त कारण के अभाव में उपादान कारण स्वयं सक्रिय नहीं हो सकता। इसी कारणवश जीव-द्रव्य की गति-स्थिति में धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय निमित्त कारण रूप से उपकारक बनते हैं, तथा जीव के शरीर, वाणी, मन, श्वासोच्छ्वास, सुख, दुःख, जीवन एवं मृत्यु सब पुद्गल द्रव्य के उपकार (कार्य) हैं।

इस तरह जीव द्रव्य का अन्य द्रव्यों के साथ कार्य-कारण भाव रूप जो नैमित्तिक सम्बन्ध है, वह उपरोक्त धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के कार्य लक्षणों द्वारा सूचित करके सूत्रकार महर्षि श्री उमास्वातिजी महाराज ने 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्र के द्वारा जीवों के पारस्परिक उपकार का उल्लेख किया है।

जीव स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य, शत्रु-मित्र आदि भावों के द्वारा परस्पर एक-दूसरे के कार्य में निमित्त बनकर परस्पर उपकार करते हैं।

गुरु हितोपदेश तथा सदनुष्ठान के आचरण द्वारा शिष्य पर उपकार करता है। शिष्य गुरु के साथ अनुकूल व्यवहार कर गुरु पर एक प्रकार से उपकार करता है।

स्वामी धनादि प्रदान कर सेवक पर उपकार करता है और सेवक अनुकूल प्रवृत्ति द्वारा सेठ का (स्वामी का) उपकारक बनता है।

दो मित्र परस्पर मित्रता का भाव रखकर एक-दूसरे के कार्य में सहयोगी बनकर उपकार करते हैं।

अतः संसार में जितना मूल्य गुरु का है, उतना ही मूल्य शिष्य का है; जितना मूल्य स्वामी का है उतना ही सेवक का।

याचक के लिए जिस प्रकार दाता उपकारी है, उसी प्रकार दाता के लिए याचक उपकारी है।

फलतः जीव, जीव मात्र के उपकारी हैं। धर्मास्तिकाय आदि पाँचों अजीव द्रव्य जिस प्रकार जीव आदि द्रव्यों के कार्य में निमित्त रूप से सहायक होते हैं, उसी प्रकार जीव-द्रव्य इन पाँचों अजीव द्रव्यों के कार्य में उपकारक नहीं बल्कि अपने सजातीय समस्त जीवों के हित-अहित में अनुग्रह-उपघात में तो अवश्य निमित्त बनता है।

जीव, अजीव द्रव्य का उपग्रह-कारक नहीं बनता। इसका कारण अजीव द्रव्य में रहा हुआ चैतन्य भाव का अभाव है।

हालांकि जीव स्वयं ही अपने हित अथवा अहित में, अनुग्रह अथवा उपघात में उपादान कारण है; फिर भी उस हित अथवा अहित होने में निमित्त कारण की अपेक्षा रहती ही है। अतः यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि जीवों का हित-अहित होने में निमित्त कारण रूप से अन्य समस्त जीव किसी-न-किसी प्रकार से योग देते हैं।

(१) मैत्री आदि भावों की व्यापकता—श्री तीर्थंकर भगवान चरम-भव-पूर्व के अपने तीसरे भव में 'सवि जीव करूँ शासन-रसी' की परमोत्कृष्ट भावना द्वारा समस्त जीवों के लोकोत्तर हित की निरन्तर भावना करते हैं, इसके प्रभाव स्वरूप वे तीर्थंकर नाम-कर्म की निकाचना कर चरम भव में तीर्थंकर के रूप में जन्म धारण करते हैं और स्वात्म-बल से घातिकर्मों का मूलोच्छेदन कर केवल ज्ञान उपार्जित कर धर्मदेशना द्वारा सकल जीवराशि का कल्याण हो ऐसा तत्त्व-प्रकाश करते हैं। तथा

'लोगहियाणं' के अपने बिरुद को सार्थक करते हैं।

इसी तरह गणधर भगवान एवं अन्य मुनि-महात्मा आदि भी मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ भावना द्वारा समस्त जीवों को समुचित प्रकार से अपनी भावना का विषय बनाते हैं तथा महाव्रतों का पालन कर अहिंसा आदि के उपदेश द्वारा उनकी रक्षा करते हैं। इस प्रकार समस्त जीवों के यथार्थ-स्वरूप एवं सम्बन्ध से परिचित होकर उसके अनुरूप उचित व्यवहार करने के कारण वे क्रमशः सद्गति एवं सिद्धिगति प्राप्त करते हैं।

इस तरह जब कोई भी जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तब उसे विश्व के समस्त जीव आत्मवत् प्रतीत होते हैं। इससे स्वात्मा के हित की तरह वह समस्त जीवों के हित का चिन्तन करता है, और सर्व में अपनी आत्मा का और अपनी आत्मा में समस्त जीवों का दर्शन होना ही सम्यग्दर्शन है। समस्त जीवों के साथ आत्म-तुल्य व्यवहार ही (सर्वविरति) सम्यक् चारित्र है।

ऐसे सम्यक्-चारित्र प्राप्त करने की जिस व्यक्ति को सदा उत्कण्ठा होती है, वह सम्यक दृष्टा है। सत्य तो यह है कि जब प्रत्येक धर्मानुष्ठान मैत्री आदि भावों से संयुक्त होता है तब वह मोक्ष-साधक बनता है।

पुद्गल के प्रति राग के अभाव रूप वैराग्य के साथ-साथ जीव मात्र के प्रति सद्भाव-रूप मैत्री आदि भावों द्वारा ही मोक्ष-साधना सरलता से सम्भव हो जाती है।

इस तरह प्रत्येक मोक्ष-साधक आत्मा की शुभ भावना के विषय बनकर समस्त जीव मोक्ष प्राप्ति में निमित्त रूप उपकारक बनते हैं।

नौ तत्त्वों में प्रथम जीव-तत्त्व के ऐसे उपकारक स्वरूप का अभ्यास बहुत महत्त्वपूर्ण है, अधिक उपकारक हैं।

तीर्थंकर परमात्मा की भाव-दया के विषयभूत जीव को दिया जाने वाला भाव, अनन्त गुना होकर, जीव के हित में माता-तुल्य कार्य करता है। अतः भाव-दया को समस्त जीवों की जननी की संज्ञा दी गई है।

साधक को चाहिए कि वह समस्त जीवों को सर्वथा अपना उपकारी समझे।

(२) अजीव तत्त्व की चिन्ता-अजीव तत्त्व चेतना शक्ति रहित है। इसके पाँच मुख्य प्रकार हैं-

(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) पुद्गलास्तिकाय और (५) काल।

इन पाँच द्रव्यों में पुद्गलास्तिकाय रूपी द्रव्य है। जो वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श-युक्त हो उसे 'रूपी' कहते हैं। जो पुद्गल स्थूल परिणाम युक्त होते हैं, वे चक्षु आदि इन्द्रियों से ग्राह्य होते हैं। जो सूक्ष्म

परिणामी हों वे इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकते। हमें जो कुछ दिखाई देता है, वह सब पौद्‌गलिक द्रव्य है। धर्मास्तिकाय आदि शेष चार द्रव्य अरूपी हैं। अरूपी द्रव्य वर्ण आदि से रहित होते हैं, अतः वे इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं बन सकते।

इन पाँच द्रव्यों के गुण-धर्मों, भेद, लक्षण आदि के बारे में विचार करना अजीव तत्त्व की चिन्ता है।

(३-४) पुण्य-पाप तत्त्व की चिन्ता—शुभकर्म एवं उनका फल पुण्य है। इसके ४२ भेद हैं। पुण्योपार्जन नौ प्रकार के दान से होता है—अन्नदान, जलदान, वस्त्र-दान, आसन-दान आदि साधनों में साध्यों का उपचार कर अन्न-दान आदि 'अन्न-पुण्य' कहलाता है। नौवाँ नमस्कार पुण्य उत्कृष्ट पुण्य-बंध का कारण है अशुभ कर्म एवं उनका फल पाप है। इसके ८२ भेद हैं। हिंसा आदि अठारह पापस्थानक पापोपार्जन के स्थान (कारण) हैं।

(५) आस्रव तत्त्व की चिन्ता—कर्मों के आगमन-द्वार आस्रव तत्त्व हैं। इसके पाँच मुख्य भेद हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। प्राणातियात आदि १८ पाप-स्थानक, सत्रह असंयम एवं २५ क्रियाएँ आदि—इन पाँच मुख्य भेदों का ही विस्तार है। इनका चिन्तन आस्रव तत्त्व की चिन्ता है।

(६) संवर तत्त्व की चिन्ता—आते हुए कर्मों को रोकना संवर तत्त्व है। पाँच समिति, तीन गुप्ति, २२ परिषह-विजय, दस यति-धर्म, १२ भावना तथा पाँच चारित्र के द्वारा आत्म-प्रदेशों में प्रविष्ट होते कर्म रुक जाते हैं। कर्म-निरोध के स्वरूप आदि का विचार संवर तत्त्व की चिन्ता है।

(७) निर्जरा तत्त्व की चिन्ता—पूर्वोपार्जित कर्मों का अंश-अंश में क्षय होना निर्जरा तत्त्व है। छः बाह्य एवं छः अभ्यन्तर—कुल १२ प्रकार के तप द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है। बारह प्रकार के तप के स्वरूप तथा उनकी महिमा आदि का विचार निर्जरा तत्त्व की चिन्ता है।

(८) बंध तत्त्व की चिन्ता—दूध एवं जल की तरह जीव एवं कर्म का परस्पर सम्बन्ध होना बंध है। कर्म के मूल आठ एवं उत्तर १५८ भेदों तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश आदि के सूक्ष्म स्वरूप का चिन्तन बंध तत्त्व की चिन्ता है।

(९) मोक्ष तत्त्व की चिन्ता—समस्त कर्मों का मूलोच्छेदन होने से आत्मा के समस्त गुणों का आविर्भाव होना, मोक्ष-तत्त्व है। 'सत्पद' प्ररूपणा आदि द्वारा मोक्ष के स्वरूप का विचार करना मोक्ष-तत्त्व की चिन्ता है।

पूर्ववर्णित आठ प्रकार की चिन्ताओं में प्रथम तत्त्व चिंता एवं परम तत्त्व-चिन्ता बताने का कारण यही है कि शेष समस्त चिन्ताओं का उनमें समावेश हो चुका है। फिर भी शुद्धि एवं अशुद्धि की अपेक्षा प्रथम गुण स्थानक से लगाकर सिद्ध अवस्था तक के जीवों की विशुद्धि के तारतम्य आदि

का चिन्तन करने के लिए शेष समस्त चिन्ताओं का प्रतिपादन किया गया है; तथा सम्यग्‌दर्शन आदि उन गुण-स्थानकों की विशेष विशुद्धि के तारतम्य का विचार करने का विधान किया गया है।

इन दोनों चिन्ताओं द्वारा समग्र द्रव्यानुयोग का चिन्तन करने का निर्देश गर्भित रीति से ग्रन्थकार महर्षि ने किया प्रतीत होता है।

परमतत्त्व की चिन्ता

ध्यान, परम ध्यान आदि २४ प्रकारों तथा उनके ४,४२,३६८ उपभेदों का विस्तृत, वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है और जिसका संक्षिप्त स्वरूप ग्रन्थ-परिचय में प्रदर्शित किया गया है, उसका विचार करना परमतत्त्व की चिन्ता है।

चिन्ता का फल

ये दोनों प्रकार की चिन्ताएँ शक्तियोग के आलम्बन स्वरूप हैं, अथवा इन दोनों प्रकार की चिन्ताओं के बल से, आत्मा की वीर्य-शक्ति अधिक प्रबल एवं पुष्ट बनती है, उससे ध्यान में अध्यवसाय की विशेष स्थिरता होती है।

क्षीर-नीर न्याय से आत्मा के प्रदेशों में रहे हुए कर्मों का नाश करने के लिए उद्यत होना शक्ति योग का कार्य है। जिस प्रकार तिलों से तेल निकालने के लिए तिलों को कोल्हू में डालकर पेला जाता है, उसी प्रकार जीव अपने आत्म-प्रदेशों में से कर्मों को विलग करने के लिए प्रयत्नशील होता है।

यह शक्ति योग एक विशिष्ट कोटि का ध्यान है। इसके प्रभाव से तिलों की तरह कर्म पेरे जाते हैं। और तेल की तरह आत्मा से अलग होने लगते हैं।

(८) सामर्थ्य योग के आलम्बन

मूलपाठ — सामर्थ्यस्य सिद्धायतन सिद्धस्वरूप चिन्ताऽऽलम्बनम्।

अर्थ — सिद्धायतन-शाश्वत जिन-चैत्यों एवं शाश्वत प्रतिमाओं तथा सिद्ध परमात्मा के पूर्ण शुद्ध स्वरूप का चिन्तन सामर्थ्य-योग, सर्वोत्कृष्ट वीर्य शक्ति को प्रकट करने में परम सहायक होने से उसके आलम्बन रूप हैं।

विवेचन—आत्मा के एक विशिष्टतम बल का नाम 'सामर्थ्य' है। अपने प्रदेश में प्रविष्ट प्रवासियों को बल प्रयोग द्वारा बाहर खदेड़ने वाले सम्राट की तरह आत्मारूपी सम्राट अपने प्रदेशों में प्रविष्ट हुए कर्मों रूपी प्रवासियों को जिस शक्ति-प्रयोग द्वारा बाहर निकाल देता है, उसे सामर्थ्य-योग कहते हैं।

इस प्रकार की विशिष्टतम शक्ति प्रकट करने के लिए साधक को सिद्धायतन अर्थात् जिन-चैत्य तथा सिद्ध परमात्मा के पूर्ण शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करने के रूप में आलम्बन ग्रहण करना पड़ता है।

अत: आलम्बन जितना शुद्ध, पुष्ट होगा उतनी ही उत्कृष्ट शक्ति प्रकट होगी, यह नियम यहाँ चरितार्थ होता है।

पहले परममात्रा ध्यान के सत्रहवें वलय में असंख्यात शाश्वत एवं अशाश्वत जिन-प्रासादों तथा जिन-प्रतिमाओं के चिन्तन की बात कही गई थी। यहाँ उसके विशिष्ट फल का उल्लेख किया गया है।

तीन लोकों के शाश्वत चैत्यों की संख्या ८५७००८८२ और शाश्वत जिन-प्रतिमाओं की संख्या १५,४२,५८,३६०,८० है, तथा व्यंतर एवं ज्योतिष्कों के निवास-स्थानों में और विमानों में भी असंख्य शाश्वत चैत्य एवं जिन-बिम्ब हैं। ये समस्त चैत्य कहाँ-कहाँ हैं, तथा एक-एक चैत्य में कितनी-कितनी प्रतिमाएं हैं—इसका विवरण ग्रन्थान्तर से गुरुगम से प्राप्त किया जा सकता है।

सिद्ध परमात्माओं के स्वरूप के चिन्तन की तरह सिद्धायतन-शाश्वत जिन-प्रतिमाओं एवं उनके चैत्यों का चिन्तन करने के विधान के पीछे विशिष्ट रहस्य छिपा हुआ है।

सिद्ध भगवान की प्रतिमा सिद्ध-स्वरूप का साक्षात्कार कराती है।

सिद्ध स्वरूप का चिन्तन

पहले सिद्धि एवं परम-सिद्धि ध्यान में परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में थोड़ा सा विवरण दिया गया है। यहाँ सिद्ध स्वरूप के चिन्तन का विशिष्ट महत्त्व एवं फल स्पष्ट करने के लिए विशिष्ट निर्देश दिया गया है।

मोक्ष का स्वरूप

समस्त कर्मों के सम्पूर्ण क्षय का नाम मोक्ष है।[१]

ज्ञानावरणीय आदि आठ मूल कर्म हैं। इनके उपभेद १५८ हैं, जो बंध, उदय, उदीरणा तथा सत्ता के रूप में प्रत्येक संसारी ज़ीव से लिपटे हुए होते हैं। परन्तु १४ गुण-स्थानकों की अपेक्षा से उनका क्षय क्रमश: होता है। चौदहवें गुण-स्थानक के अन्तिम समय में शेष समस्त कर्मों का सम्पूर्ण क्षय होने से आत्मा मुक्त होती है; यह उसका मोक्ष कहलाता है।

मुक्त अवस्था में आत्मा सम्पूर्ण शुद्ध-सहज स्थिति प्राप्त करती है और उक्त स्थिति शाश्वत होती है।

सिद्ध परमात्मा

मोक्षपद कहो, मुक्तात्मा कहो अथवा सिद्धत्व कहो — ये सब शब्द आत्मा की सहज, शुद्ध, चिदानन्दमय अवस्था के सूचक हैं।

इस अवस्था का पूर्ण निरूपण शब्दातीत है, केवल अनुभव गम्य है। यहाँ तो शास्त्रों की आँखों

---

१. कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः ॥ ३-१० ॥

—*तत्त्वार्थ सूत्र*।

से देखकर उसके यत्किंचित् स्वरूप का वर्णन किया गया है।

भव्यत्व[१] एवं औपशमिक आदि भावों का सर्वथा अभाव होने से आत्मा केवल सम्यक्त्व, केवल-ज्ञान एवं सिद्धत्व प्राप्त करता है।

आत्मा एक द्रव्य है, द्रव्य-गुण-पर्याय युक्त होता है और गुण एवं पर्याय अपने आश्रयता आधार के बिना अकेले रह नहीं सकते।

संसारी अवस्था में केवल ज्ञान और दर्शन आदि गुण प्रच्छन्न रूप से आत्मा में ही विद्यमान थे, कर्मों से आवृत्त थे। आवरण सर्वथा हट जाने से आत्मा के वे गुण क्षायिक भाव से प्रकट होते हैं, तथा स्थिरता-रूप चारित्र आदि शेष गुण भी 'सिद्धत्व' में समाविष्ट ही हैं।

आत्मा का सत्-चित्-आनन्दमय स्वरूप इस अवस्था में सदा के लिए प्रकट रहता है। कर्म का सर्वथा अभाव हो जाने से सिद्ध भगवान अपनी सहज स्थिति से कदापि च्युत नहीं होते।

सिद्धों का अवस्थान क्षेत्र

समस्त कर्मों के बन्धन से सर्वथा मुक्त सिद्ध आत्मा आकाश प्रदेश की सम-श्रेणी पर अन्य प्रदेश का स्पर्श किए बिना एक-समय मात्र काल में सिद्ध-शिला पर पहुँच जाते हैं।

यह सिद्ध-शिला शुद्ध स्फटिक जैसी निर्मल है, जिसे शास्त्रीय परिभाषा में 'ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी' के नाम से भी जाना जाता है। इसकी लम्बाई एवं चौड़ाई पैंतालीस लाख योजन है। लोक के अग्रभाग पर अन्तिम एक योजन पर वह स्थित है। लोक के अन्तिम भाग का स्पर्श कर समस्त सिद्धात्मा इस सिद्ध-शिला पर प्रतिष्ठित होते हैं।

अवगाहना — सिद्ध आत्माओं की अवगाहना अर्थात् उनके आत्म-प्रदेशों की रचना की ऊँचाई कितनी होती है? उत्तर यह है कि उनके चरम शरीर का जो प्रमाण होता है उसके २/३ (दो-तिहाई) भाग की सिद्धों की अवगाहना होती है।

मानव-शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना (ऊँचाई) पाँच सौ मनुष्य की होती है, उस अपेक्षा सिद्धात्मा ३३३$^{१}/_{३}$ धनुष जितने भाग में निवास करते हैं। जघन्य से चरम-शरीरी मानव शरीर की ऊँचाई दो हाथ की होती है। उस अपेक्षा सिद्धों की अवगाहना एक हाथ एवं आठ अंगुल की होती है।

'जिहाँ एक सिद्धात्मा, तिहाँ छे अनन्ता'

---

१. औपशमिकादि भव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन सिद्धत्वेभ्यः ॥ ४-१० ॥

—*तत्त्वार्थ सूत्र*

जिन आकाश-प्रदेशों में एक सिद्धात्मा का अवस्थान है, उन्हीं आकाश प्रदेशों में अनन्त सिद्धात्मा तथा उनके देश एवं प्रदेश को स्पर्श करके रहने वाले सिद्धात्मा असंख्य गुने होते हैं।

मनुष्यों के निवास का क्षेत्र जिस प्रकार ढाई द्वीप है, उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति का क्षेत्र ढाई द्वीप ही है। ढाई द्वीप के अतिरिक्त अन्य किसी भी क्षेत्र में से कोई जीव मोक्ष में नहीं जाता। यह एक सनातन नियम है और इसी कारण ढाई द्वीप एवं सिद्ध-आत्मा दोनों की चौड़ाई पैंतालिस लाख योजन प्रमाण के समान ही है।

मनुष्य क्षेत्र का कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ से अनन्त आत्माओं ने मुक्ति प्राप्त न की हो। वर्तमान काल में अथवा भविष्य काल में भी आत्माओं का मुक्ति गमन इसी क्षेत्र एवं इसके प्रत्येक स्थान से ही होने वाला है।

प्रत्येक मुक्तात्मा का सिद्धि-गमन सदा सम-श्रेणी पर ही होता है। वे जिस क्षेत्र में देह-त्याग करते हैं, उसी क्षेत्र में समश्रेणी पर स्थित आकाश-प्रदेशों का अवलम्ब लेकर वे सिद्ध शिला की ओर अग्रसर होते हैं और एक समय मात्र में ही वे लोकाकाश की चोटी (सर्वोच्च) शिखर पर पहुँचकर अपनी अवगाहना के अनुसार जहाँ सिद्ध विद्यमान हैं, उनके साथ समाकर अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के रूप में सादि अनन्त काल तक वहीं पर अवस्थित रहते हैं।

कमरे में एक दीपक का प्रकाश फैला हुआ हो, वहाँ अन्य चाहे जितने दीपक जलायें जाएँ तो उन सब दीपकों का प्रकाश उस कमरे में ही परस्पर समाहित हो जाता है। इस तरह जहाँ एक सिद्धात्मा विराजमान हैं, वहाँ अन्य अनन्त सिद्धात्मा भी अरूपी एवं चिन्मय ज्योति-स्वरूप होने से ज्योति में ज्योति की तरह एक-दूसरे में विलीन होकर निराबाध रूप से सदा अवस्थित रहती हैं।

सिद्ध शिला लोक के बाहर नहीं हैं। लोक के ऊपर है। यह तथ्य अत्यन्त ही मार्मिक है। सिद्ध परमात्मा अर्थात् सुस्थित महाराजा द्वारा लोक सदा सनाथ होने का उसमें गर्भित निर्देश है।

जिनके विशुद्ध आत्मा में कोई कर्म नहीं रहने के कारण सिद्धात्मा निष्क्रिय नहीं बल्कि अक्रिय होते हैं, उनका यह स्वाभाविक महान् गुण, उनकी अनन्त शक्ति के नैसर्गिक विनियोग में परिणमित परिणत होता है।

प्रणिधान, प्रवृत्ति, विघ्न-विजय, सिद्धि एवं विनियोग—यह क्रम विश्व-विख्यात है। अरिहन्त परमात्मा यदि जीव की माता हैं, तो सिद्ध परमात्मा जीव के पिता हैं।

एक आत्मा समस्त कर्मों का क्षय कर मुक्त होता है, तब निगोद की अव्यवहार राशि में से बाहर निकलकर एक जीव व्यवहार राशि में आता है। यह असाधारण प्रताप सिद्ध परमात्मा का है।

गहरी खाई में फंसे मनुष्य को उसमें से बाहर निकालने वाला मनुष्य देव तुल्य प्रतीत होता है, तथा वह उस समय तक जीवित रहता है, जब तक उसके इस उपकार को भूल नहीं पाता। अतः

हम सब जो संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्यों के रूप में आज जी रहे हैं। उसके मूल में (अनन्त) श्री सिद्ध भगवान का असीम उपकार है। उसे यदि हम क्षण भर के लिए भी भूल जाएँ तो कृतघ्न कहलाएँ जाएंगे।

शास्त्रों ने मुक्ति को लक्ष्य बनाने का जो आदेश दिया है, वह एकदेशीय नहीं है, सर्वदेशीय है, क्योंकि एक जीव की मुक्ति के साथ अन्य अनन्त जीवों के उद्धार की प्रक्रिया अविरत चलती रहती है।

अत: प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा का कर्तव्य है कि वह अन्य समस्त जीवों को अपना उपकारी समझकर उनके उत्कृष्ट मंगल का लक्ष्य भी धर्म-साधना का अंगभूत बनाएँ।

मुक्ति के मर्म को आत्मसात् करने में ही उसका यथार्थ सम्मान है।

सिद्धों के गुणों की अनन्तता

'सिद्ध आत्माओं का सुख कितना और कैसा है?' इसका वर्णन केवलि भगवान भी स्वमुख से नहीं कर सकते।

शुद्धात्मा का सुख अतीन्द्रिय, अवाच्य, अनुपम, अक्षय, अनन्त एवं अव्याबाध स्वरूप-युक्त है।

असंख्य प्रदेशात्मक आत्मा के एक-एक प्रदेश में अनन्त गुण विद्यमान हैं।

सिद्ध भगवान अव्याबाध सुख, अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुणों, अनन्त दान, अनन्त-गुणों का लाभ, अनन्त पर्याय का भोग, अनन्त-गुणों का उपभोग, अनन्त-गुणों में रमण, अनन्त वीर्य के सहयोग से निरन्तर समय-समय पर भिन्न-भिन्न गुणों में आनन्द के आस्वाद का अनुभव करते हैं। वे निरंजन, अरूपी, निराकार, अगुरुलघु, एवं अक्षय हैं।

जगत् के जीव इष्ट-शुभ शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्शयुक्त भिन्न-भिन्न पदार्थों के श्रवण, दर्शन, आस्वाद, सुगन्ध एवं स्पर्श द्वारा अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अहर्निश भिन्न-भिन्न आनन्द का आस्वादन करते हैं। इसी प्रकार सिद्ध भगवान भी पौद्‌गलिक पदार्थों के विषयों के आधार के बिना अपने स्वाधीन एवं सहज अनन्त गुण-पर्याय के भोक्ता होते हैं। उन अनन्त गुणों के आनन्द का स्वाद भी अनन्त होने से सिद्ध भगवान परमानन्दी हैं। उनके गुणों की अनन्तता, निर्मलता एवं पूर्णता का ज्ञान श्रद्धान् होना भी दुर्लभ है। तो उसकी प्राप्ति दुर्लभतर एवं दुर्लभतम हो तो आश्चर्य ही क्या है?

सिद्धि के सुख की पराकाष्ठा

सांसारिक सुख में अनुत्तरवासी सर्वार्थसिद्ध के देवों का सुख सर्वश्रेष्ठ होता है। उसकी अपेक्षा विरतिवान् साधु का सुख अनन्त गुना है। उससे भी क्षपक श्रेणी प्राप्त हुए ध्यानी का सुख अनन्त गुना है। उनकी अपेक्षा क्षीण-मोही मुनि का सुख अनन्त गुना है और उसकी अपेक्षा सिद्ध भगवान का सुख अनन्त गुना है।

ऐसा निरूपम, निर्बाध, अनन्त सुख प्रत्येक संसारी जीव के लिए संभव है। कर्मों से आच्छादित यह सुख, ज्यों-ज्यों जीव आत्मिक विकास की भूमिकाओं में अग्रसर होता जाता है, त्यों-त्यों क्रमशः प्रकट होता जाता है। समस्त कर्मों से सर्वथा मुक्त होने पर अन्त में उस सुख का पूर्णतः प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया जा सकता है।

सिद्धि के सुख की अनन्तता

सिद्ध भगवान के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त अव्याबाध सुख प्रकट हुआ होता है। उनके एक प्रदेश में विद्यमान सुख के एक-एक पर्याय को एक-एक आकाश-प्रदेश में स्थापित किया जाय, तो भी वह समग्र लोकाकाश में समा नहीं सकेगा।

"एक प्रदेश मां सुख अनंतु, ते पण लोकाकाशे न मावे"।

यह पद पंक्ति भी हमें सिद्ध भगवान के सुख की अनन्तता से परिचित कराती है। जिन सिद्ध भगवान के एक प्रदेश में इतना अनन्त सुख विद्यमान है, उनके असंख्य आत्म-प्रदेशों में विद्यमान सुख का शब्दों में कैसे वर्णन किया जा सकता है।

सिद्ध परमात्मा के सुख का थोड़ा सा अनुमान स्पष्ट करते हुए ज्ञानी पुरुष बताते हैं कि "यदि समग्र देवों एवं मनुष्यों के तीनों कालों का सुख एकत्रित किया जाय तथा उनका अनन्त वर्ग किया जाये, तो भी सिद्ध भगवान के एक-समय मात्र का सुख भी उसकी अपेक्षा अनन्त गुना अधिक होता है।"

सिद्ध भगवान का सुख सहज, स्वतन्त्र, एकान्तिक, आत्यंतिक, अकृत्रिम, निरूपचरित निर्द्वन्द, अहेतुक तथा अप्रयासी होता है।

जिस सुख को प्राप्त करने के लिए अन्य जीवों को दुःख पहुँचे, प्राप्त करने के पश्चात् उपभोग के लिए इन्द्रियों आदि की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती हो, फिर भी जो आषाढ़ी बिजली के समान क्षणिक सिद्ध हो तथा दीर्घकालीन दुःख का बीज बने, उसे 'सुख' किस प्रकार कहा जाय?

हमें सिद्ध भगवान के सुख के चिन्तन, मनन एवं ध्यान में अधिकाधिक एकाग्रता रखनी चाहिए।

ज्ञान-दर्शन की अनन्तता

इस विराट विश्व में अनन्त द्रव्य-पदार्थ हैं, उनके प्रदेश अनन्त हैं, समस्त प्रदेशों से भी समस्त गुण अनन्त हैं और समस्त द्रव्यों में विद्यमान समस्त गुणों से भी पर्याय अनन्त हैं।

इन सारी संख्याओं का योग करने पर जो योगफल आए, उसे उसी संख्या से गुणा करने पर जो अनन्त राशि आए उसकी अपेक्षा भी केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन अनन्त गुना है।

लोक एवं अलोक में विद्यमान समग्र द्रव्यों, उनके समस्त प्रदेशों एवं पर्यायों के त्रिकालवर्ती परिणामों को एक साथ जानने एवं देखने की केवलज्ञान और केवलदर्शन में सहज क्षमता है। इतना ही नहीं बल्कि जगत में उनसे भी अनन्त गुने अधिक द्रव्य एवं पर्याय हों, तो उन सबको जानने-देखने का भी सहज सामर्थ्य केवलज्ञान और केवलदर्शन रखते हैं।

केवलज्ञान वस्तु के विशेष धर्म को जानता है तथा केवलदर्शन वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करता है।

चारित्र-गुण की अनन्तता

स्वभाव रमणता एवं पर-भाव निवृत्ति-रूप चारित्र 'संवरभाव' स्वरूप है। सिद्ध भगवान की चेतना—ज्ञान, दर्शन एवं वीर्य आदि गुणों की परिणमन-शक्ति समस्त पर-भाव से मुक्त होकर, मात्र स्वभाव में ही पूर्णत: स्थिर हुई है। अत: उन्हें सम्पूर्ण संवर भाव स्वरूप चारित्र होता है।

यह चारित्र गुण की अनन्तता अनन्त स्वगुण पर्याय की रमणता एवं अनन्त पर-पर्याय की निवृत्ति की अपेक्षा समझना।

'संयम श्रेणी' का स्वरूप समझने से चारित्र गुण की अनन्तता किस प्रकार है, यह सरलता से समझा जा सकता है। जिज्ञासुगण '**व्यवहार भाष्य**' आदि ग्रन्थों से इसका स्वरूप गुरुगम से समझने का प्रयास करें।

वीर्यगुण की अनन्तता

समस्त गुणों को स्व-स्व कार्य में प्रवृत्त करने के लिए वीर्य-गुण की सहायता अवश्य होती है। ज्ञानार्जन करने में, दर्शन देखने में, चारित्र की रमणता में वीर्य-गुण सहायक होता ही है, अत: उसकी अनन्तता ज्ञान आदि गुणों की तरह समझ लें।

आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त वीर्य-गुण विद्यमान हैं। सिद्ध भगवानों में यह प्रकट रूप से होता है।

वीर्य-गुण की तरह आत्मा के दान, लाभ, भोग एवं उपभोग आदि गुणों की भी अनन्तता समझ लें।

आत्मा अनन्त गुणों को परस्पर दान करती है, अनन्त लाभ प्राप्त करती है, अनन्त पर्याय को भोगती है और अनन्त गुणों का उपभोग करती है।

जिस प्रकार वीर्य-गुण ज्ञान आदि समस्त गुणों को जानने आदि की प्रवृत्ति में प्रेरक बनता है, उसी प्रकार ज्ञान आदि अनन्त गुण परस्पर दान करते हैं। इसे दान-गुण की अनन्तता समझनी चाहिए।

परस्पर एक-दूसरे की सहायता प्राप्त करते हैं — इसे लाभ गुण की अनन्तता समझें।

जो एक बार भोगा जाए वह भोग कहलाता है। आत्मा प्रति-समय नए-नए पर्यायों का भोग करती है। यह भोग-गुण की अनन्तता है और गुण बार-बार उपभोग में आतें हैं। यह उपभोग गुण की अनन्तता है।

इस प्रकार केवली भगवान सिद्ध भगवान के अनन्त गुणों की अनन्तता साक्षात् जानते हैं, फिर भी वे वचनों के द्वारा उसे पूर्णत: नहीं कह सकते।

सिद्ध भगवान समस्त संग से रहित एवं निरावरण होने के कारण निर्मल हैं, पूर्ण हैं।

अनंत, निर्मल एवं सम्पूर्ण प्रभुतामय सिद्ध स्वरूप का चिन्तन करने से सामर्थ्य-योग रूप प्रबल वीर्य प्रकट होता है, जिसके प्रभाव से 'सिद्धि एवं परम सिद्धि' ध्यान करने की सहज शक्ति खिल उठती है, और आत्मा क्रमश: सिद्ध स्वरूप के ध्यान में तन्मय होकर अपनी आत्मा का सिद्ध स्वरूप में ध्यान करती है। उक्त ध्यान के बल से क्लिष्ट कर्मों का क्षय होता है, अर्थात् जिस कोल्हू में तिलों को पेल कर खली तथा तेल अलग-अलग किए जाते हैं, उसी प्रकार आत्म-प्रदेशों के साथ चिपके हुए कर्मों को सामर्थ्य-योग के द्वारा विलग करके उनका सर्वथा वियोग किया जाता है।

इस प्रकार सिद्धायतन एवं सिद्ध-स्वरूप का चिन्तन सामर्थ्य-योग का प्रकट कर्त्ता होने से उसका आलम्बन है।

ग्रन्थ की समाप्ति में मंगल के लिए भी ग्रन्थकर्त्ता ने सिद्धायतन एवं सिद्ध-भगवानों का चिन्तन तथा ध्यान करने का निर्देश दिया है।

परम-पद की साधना में निपुणता लाकर, परम-सिद्धि ध्यान में सफलता प्राप्त कर सर्वमंगलकारी पद प्राप्त करना है।

॥ उत्तर विभाग सम्पूर्ण ॥

—: परिशिष्ट-विभाग :—

परिशिष्ट-१

आचार्य श्री पुष्पभूति महाराज

['भाव से कला' की जो व्याख्या की गई है, यह दृष्टांत उसका समर्थन करता है। अधिक अभ्यास के कारण देश, काल तथा कारण की अपेक्षा स्वयमेव चढ़े तथा अन्य के द्वारा उतारी जाए उस समाधि को 'भाव-कला' कहा जाता है। आचार्य श्री पुष्पभूति की ऐसी समाधि उनके शिष्य पुष्यमित्र मुनि ने उतारी थी। इस प्रसंग का '**श्री आवश्यक निर्युक्ति**' की हरिभद्रीय टीका में पृष्ठ ७२२ पर 'ध्यान संवर योग' की प्रस्तावना में उल्लेख है, जिसका सार निम्नानुसार है]

शिलावर्द्धन नगर में 'मुण्डी कामक' नामक राजा था। श्री पुष्पभूति नामक आचार्य महाराज का एक बार इस नगर में पदार्पण हुआ। उनके धर्मोपदेश से राजा जिन-धर्मानुयायी बना।

इन समर्थ आचार्य महाराज के अनेक बहुश्रुत एवं विजयवन्त शिष्य थे, परन्तु पुष्यमित्र-नामक शिष्य समर्थ श्रुतधर होते हुए भी आचार में शिथिल था। अतः वह अपने उपकारी गुरु से अलग रहता था।

एक बार आचार्य श्री पुष्पभूति महाराज की 'महाप्राण' ध्यान जैसे सूक्ष्म-ध्यान को करने की भावना हुई।

उक्त ध्यान में जब प्रवेश किया जाता है, तब इस प्रकार 'योग-निषेध' किया जाता है कि कुछ वेदन न हो। अतः इस ध्यान में किसी व्यक्ति की ओर से अथवा परिस्थिति वश कोई अन्तराय न हो उसकी पूर्ण सावधानी बरती जाती है।

ऐसी सावधानी रखने का काम कोई सामान्य साधु नहीं बल्कि कोई बहुश्रुत एवं ध्यान-मर्मज्ञ साधु ही कर सकता है। अतः आचार्य श्री ने पुष्यमित्र मुनि को बुलाया और उक्त बात समझाकर विशेष सावधानी रखने का उत्तरदायित्व सौंपा।

वन्दनार्थ आने वाले शिष्यों को कमरे से बाहर रहकर ही वन्दन करने का गुरु का आदेश था। अतः सभी शिष्य बन्द किवाड़ की दरार में से गुरु-वन्दन करने लगे। एक बार जरा गौर से देखा तो गुरुदेव एकदम निश्चेष्ट से दिखाई दिए।

उन्होंने यह बात पुष्यमित्र से कही तब पुष्यमित्र ने बताया —'यह ध्यान ही ऐसा है कि इसमें साँस लेने-छोड़ने की गति भी अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है। अतः देखने वाले को लगता है कि ध्यानस्थ साधक निश्चेष्ट है। अतः आप चिन्ता न करें।'

शिष्यों को पुष्यमित्र के इस कथन से संतोष नहीं हुआ और उल्टे ऐसी कुशंका हुई कि यह भेषधारी साधु हमें भुलावे में डाल रहा है। अतः उन्होंने पुष्यमित्र से कहा "हमें कमरे में प्रविष्ट होने दीजिए।" पुष्यमित्र ने उन्हें प्रविष्ट नहीं होने दिया।

इस घटना से शंकित एवं क्रोधित शिष्यों ने राजा के समक्ष समस्त वृतान्त निवेदन किया। राजा स्वयं वहाँ देखने गया। देखने के पश्चात् उसे भी लगा कि —''सचमुच आचार्य महाराज कालधर्म को प्राप्त हुए हैं; पुष्यमित्र झूठा है।''

आचार्य महाराज के कालधर्म होने को निश्चित मानकर राजा ने उनकी पार्थिव देह को प्रतिष्ठित करने के लिए एक पालकी बनवाई।

इस समस्त परिस्थिति पर विचार करके पुष्यमित्र को लगा कि 'यदि आचार्य-महाराज के ध्यान में अन्तराय नहीं डालूँ तो भारी अनर्थ हो जाएगा। ये अज्ञानी जीव न तो ध्यान का स्वरूप समझते हैं, और न ही मेरी बात को सत्य मानते हैं।'

अन्त में आचार्य महाराज के निर्देशानुसार उन्होंने उनके अंगूठे का स्पर्श किया, कि तुरन्त ध्यान में से जागृत होकर उन्होंने पूछा —''मेरा ध्यान भंग क्यों किया?''

पुष्यमित्र ने विनयपूर्वक उत्तर दिया, ''गुरुदेव! यह आपके इन शिष्यों की मिथ्या-समझ का परिणाम है।''

'भावीभाव' कहकर आचार्य महाराज अन्तर्मुख हुए।

इस अत्यन्त सूक्ष्म ध्यान में समीपस्थ व्यक्ति को भी न सुनाई दे, न दिखाई दे ऐसी साँस लेने-छोड़ने की गति-प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है।

卐

परिशिष्ट-२

	आद्य गणधर प्रभृति साधु संख्या (वलय=१८)			आद्य महत्तरा प्रभृति साध्वी संख्या (वलय = १८)	
	तीर्थंकर	मुख्यगणधर	मुनिसंख्या	मुख्य साध्वी	संख्या
१.	श्री ऋषभदेव भगवान	श्री ऋषभसेन आदि	८४०००	ब्राह्मी आदि	३०००००
२.	श्री अजितनाथ ,,	श्री सिंहसेन आदि	१०००००	फाल्गुनी आदि	३३००००
३.	श्री संभवनाथ ,,	श्री चारुरु आदि	२०००००	श्यामा आदि	३३६०००
४.	श्री अभिनंदन नाथ ,,	श्री वज्रनाभादि	३०००००	अजिता आदि	६३००००
५.	श्री सुमतिनाथ ,,	श्री चमरगणि आदि	३२००००	काश्यपी आदि	५३००००
६.	श्री पद्मप्रभनाथ ,,	श्री सुद्योत आदि	३३००००	रति आदि	४२००००
७.	श्री सुपार्श्वनाथ ,,	श्री विदर्भ आदि	३०००००	सोमा आदि	४३००००
८.	श्री चंद्रप्रभनाथ ,,	श्री दत्त आदि	२५००००	सुमना आदि	३८००००
९.	श्री सुविधिनाथ ,,	श्री वराहक आदि	२०००००	वारुणी आदि	१२००००*
१०.	श्री शीतल नाथ ,,	श्री नंद आदि	१०००००	सुयशा आदि	१००००६*
११.	श्री श्रेयांसनाथ ,,	श्री कौत्सुभ आदि	८४०००	धारिणी आदि	१०३०००*
१२.	श्री वासुपूज्यनाथ ,,	श्री सुभूम आदि	७२०००	धरणी आदि	१०००००
१३.	श्री विमलनाथ ,,	श्री मन्दर आदि	६८०००	धरा आदि	१००८००
१४.	श्री अनन्तनाथ ,,	श्री यशः आदि	६६०००	पद्मा आदि	६२०००
१५.	श्री धर्मनाथ ,,	श्री अरिष्ट आदि	६४०००	शिवा आदि	६२४००
१६.	श्री शांतिनाथ ,,	श्री चक्रायुध आदि	६२०००	श्रुति आदि	६१६००
१७.	श्री कुंथुनाथ ,,	श्री शम्ब आदि	६००००	दामिनी आदि	६०६००
१८.	श्री अरनाथ ,,	श्री कुम्भ आदि	५००००	रक्षिका आदि	६००००
१९.	श्री मल्लिनाथ ,,	श्री भिषज आदि	४००००	बन्धुमती आदि	५५०००
२०.	श्री मुनिसुव्रत नाथ	श्री मल्लि आदि	३००००	पुष्पवती आदि	५००००
२१.	श्री नमिनाथ ,,	श्री शुम्भ आदि	२००००	अनिला आदि	४१०००
२२.	श्री नेमिनाथ ,,	श्री वरदत्त आदि	१८०००	यक्षदत्ता आदि	४००००
२३.	श्री पार्श्वनाथ ,,	श्री आर्यदत्त आदि	१६०००	पुष्पचूला आदि	३८०००
२४.	श्री महावीर नाथ ,,	श्री इन्द्रभुति आदि	१४०००	चन्दनबाला आदि	३६०००

* मतान्तर से-क्रमशः ३८००००, ३८००००, १२००००

	श्रावक संख्या (वलय २०)			श्राविका संख्या (वलय २१)	
	नाम तीर्थंकर	श्रावक	श्रावक संख्या	श्राविका	संख्या
१.	श्री ऋषभनाथ भगवान के	श्रेयांस आदि	३०५०००	सुभद्रा आदि	५५४०००
२.	श्री अजितनाथ ,,	०	२९८०००	०	५४५०००
३.	श्री संभवनाथ ,,	०	२९३०००	०	६३६०००
४.	श्री अभिनंदन नाथ ,,	०	२८८०००	०	५२७०००
५.	श्री सुमतिनाथ ,,	०	२८१०००	०	५१६०००
६.	श्री पद्मप्रभनाथ ,,	०	२७६०००	०	५०५०००
७.	श्री सुपार्श्वनाथ ,,	०	२५७०००	०	४९३०००
८.	श्री चंद्रप्रभनाथ ,,	०	२५००००	०	४९१०००
९.	श्री सुविधिनाथ ,,	०	२२९०००	०	४७१०००
१०.	श्री शीतल नाथ ,,	०	२८९०००	०	४५८०००
११.	श्री श्रेयांसनाथ ,,	०	२७९०००	०	४४८०००
१२.	श्री वासुपूज्यनाथ ,,	०	२१५०००	०	४३६०००
१३.	श्री विमलनाथ ,,	०	२०८०००	०	४२४०००
१४.	श्री अनंतनाथ ,,	०	२०६०००	०	४१४०००
१५.	श्री धर्मनाथ ,,	०	२०४०००	०	४१३०००
१६.	श्री शांतिनाथ ,,	०	२९००००	०	३९३०००
१७.	श्री कुंथुनाथ ,,	०	१७९०००	०	३८१०००
१८.	श्री अरनाथ ,,	०	१८४०००	०	३७२०००
१९.	श्री मल्लिनाथ ,,	०	१८३०००	०	३७००००
२०.	श्री मुनिसुव्रतनाथ ,,	०	१७२०००	०	३५००००
२१.	श्री नमिनाथ ,,	०	१७००००	०	३४८०००
२२.	श्री नेमिनाथ ,	नन्द आदि	१६९०००	महासुव्रता आदि	३३६०००
२३.	श्री पार्श्वनाथ ,,	सुद्योत आदि	१६४०००	सुनन्दा आदि	३३९०००
२४.	श्री वर्द्धमान नाथ ,,	आनन्द आदि	१५९०००	सुलसा आदि	३१८०००

卐

०अप्रसिद्ध

परिशिष्ट-३

९६ भवनयोग तथा ९६ करणयोग

२२वें तथा २३वें वलय में जिन ९६ भवनयोग तथा ९६ करणयोगों का निर्देश किया गया है, वे निम्नलिखित हैं —

९६ योग

(१) प्रणिधान योग
(२) प्रणिधान महायोग
(३) प्रणिधान परम-योग
(४) समाधान योग
(५) समाधान महायोग
(६) समाधान परम-योग
(७) समाधियोग
(८) समाधि महायोग
(९) समाधि परम-योग
(१०) काष्ठा योग
(११) काष्ठा महायोग
(१२) काष्ठा परम-योग
(१३) प्रणिधान वीर्य
(१४) प्रणिधान महावीर्य
(१५) प्रणिधान परमवीर्य
(१६) समाधान वीर्य
(१७) समाधान महावीर्य
(१८) समाधान परमवीर्य
(१९) समाधि वीर्य
(२०) समाधि महावीर्य
(२१) समाधि परमवीर्य
(२२) काष्ठा वीर्य
(२३) काष्ठा महावीर्य
(२४) काष्ठा परमवीर्य
(२५) प्रणिधान स्थाम
(२६) प्रणिधान महास्थाम
(२७) प्रणिधान परमस्थाम
(२८) समाधान स्थाम
(२९) समाधान महास्थाम
(३०) समाधान परमस्थाम
(३१) समाधि स्थाम
(३२) समाधि महास्थाम
(३३) समाधि परमस्थाम
(३४) काष्ठा स्थाम
(३५) काष्ठा महास्थाम
(३६) काष्ठा परमस्थाम
(३७) प्रणिधान उत्साह
(३८) प्रणिधान महोत्साह
(३९) प्रणिधान परमोत्साह
(४०) समाधान उत्साह
(४१) समाधान महोत्साह
(४२) समाधान परमोत्साह
(४३) समाधि उत्साह
(४४) समाधि महोत्साह
(४५) समाधि परमोत्साह
(४६) काष्ठा उत्साह
(४७) काष्ठा महोत्साह
(४८) काष्ठा परमोत्साह
(४९) प्रणिधान पराक्रम
(५०) प्रणिधान महापराक्रम
(५१) प्रणिधान परमपराक्रम
(५२) समाधान पराक्रम
(५३) समाधान महापराक्रम
(५४) समाधान परमपराक्रम
(५५) समाधि पराक्रम
(५६) समाधि महापराक्रम
(५७) समाधि परमपराक्रम
(५८) काष्ठा पराक्रम
(५९) काष्ठा महापराक्रम
(६०) काष्ठा परमपराक्रम
(६१) प्रणिधान चेष्टा
(६२) प्रणिधान महाचेष्टा
(६३) प्रणिधान परमचेष्टा
(६४) समाधान चेष्टा
(६५) समाधान महाचेष्टा
(६६) समाधान परमचेष्टा
(६७) समाधि चेष्टा
(६८) समाधि महाचेष्टा
(६९) समाधि परमचेष्टा
(७०) काष्ठा चेष्टा
(७१) काष्ठा महाचेष्टा
(७२) काष्ठा परमचेष्टा
(७३) प्रणिधान शक्ति
(७४) प्रणिधान महाशक्ति
(७५) प्रणिधान परम-शक्ति

(७६) समाधान शक्ति
(७७) समाधान महाशक्ति
(७८) समाधान परम-शक्ति
(७९) समाधि शक्ति
(८०) समाधि महाशक्ति
(८१) समाधि परम-शक्ति
(८२) काष्ठा शक्ति
(८३) काष्ठा महाशक्ति
(८४) काष्ठा परम-शक्ति
(८५) प्रणिधान सामर्थ्य
(८६) प्रणिधान महासामर्थ्य
(८७) प्रणिधान परम-सामर्थ्य
(८८) समाधान सामर्थ्य
(८९) समाधान महासामर्थ्य
(९०) समाधान परम-सामर्थ्य
(९१) समाधि सामर्थ्य
(९२) समाधि महासामर्थ्य
(९३) समाधि परम-सामर्थ्य
(९४) काष्ठा सामर्थ्य
(९५) काष्ठा महासामर्थ्य
(९६) काष्ठा परम-सामर्थ्य

ह. ये योग मरुदेवी माता की तरह सहज स्वभाव से हों, तो भवन योगों में गिने जाते हैं और उन्हें उपयोगपूर्वक किया जाये तो करणयोगों में गिने जाते हैं।

९६ करण (वलय २४)

(१) उन्मनीकरण
(२) महोन्मनीकरण
(३) परमोन्मनीकरण
(४) सर्वोन्मनीकरण
(५) उन्मनी भवन
(६) महोन्मनी भवन
(७) परमोन्मनी भवन
(८) सर्वोन्मनी भवन
(९) निश्चित्तीकरण
(१०) महानिश्चित्तीकरण
(११) परमनिश्चित्तीकरण
(१२) सर्वनिश्चित्तीकरण
(१३) निश्चित्ती भवन
(१४) महानिश्चित्ती भवन
(१५) परमनिश्चित्ती भवन
(१६) सर्वनिश्चित्ती भवन
(१७) निश्चेतनीकरण
(१८) महानिश्चेतनी करण
(१९) परम निश्चेतनीकरण
(२०) सर्व निश्चेतनीकरण
(२१) निश्चेतनी भवन
(२२) महानिश्चेतनी भवन
(२३) परम निश्चेतनी भवन
(२४) सर्व निश्चेतनी भवन
(२५) निःसंज्ञीकरण
(२६) महा निःसंज्ञीकरण
(२७) परम निःसंज्ञीकरण
(२८) सर्व निःसंज्ञीकरण
(२९) निःसंज्ञीभवन
(३०) महा निःसंज्ञीभवन
(३१) परम निःसंज्ञीभवन
(३२) सर्व निःसंज्ञीभवन
(३३) निर्विज्ञानी करण
(३४) महा निर्विज्ञानी करण
(३५) परम निर्विज्ञानी करण
(३६) सर्व निर्विज्ञानी करण
(३७) निर्विज्ञानी भवन
(३८) महा निर्विज्ञानी भवन
(३९) परम निर्विज्ञानी भवन
(४०) सर्व निर्विज्ञानी भवन
(४१) निर्धारणी करण
(४२) महा निर्धारणी करण
(४३) परम निर्धारणी करण
(४४) सर्व निर्धारणी करण
(४५) निर्धारणी भवन
(४६) महा निर्धारणी भवन
(४७) परम निर्धारणी भवन
(४८) सर्व निर्धारणी भवन
(४९) विस्मृतीकरण
(५०) महाविस्मृतीकरण
(५१) परम विस्मृतीकरण
(५२) सर्व विस्मृतीकरण
(५३) विस्मृतीभवन
(५४) महा विस्मृतीभवन
(५५) परम विस्मृतीभवन
(५६) सर्व विस्मृतीभवन
(५७) निर्बुद्धिकरण
(५८) महा निर्बुद्धिकरण
(५९) परम निर्बुद्धिकरण
(६०) सर्व निर्बुद्धिकरण

(६१) निर्बुद्धिभवन
(६२) महा निर्बुद्धिभवन
(६३) परम निर्बुद्धिभवन
(६४) सर्व निर्बुद्धिभवन
(६५) निरीहीकरण
(६६) महानिरीहीकरण
(६७) परमनिरीहीकरण
(६८) सर्वनिरीहीकरण
(६९) निरीहीभवन
(७०) महानिरीहीभवन
(७१) परमनिरीहीभवन
(७२) सर्वनिरीहीभवन
(७३) निर्मतीकरण
(७४) महानिर्मतीकरण
(७५) परमनिर्मतीकरण
(७६) सर्वनिर्मतीकरण
(७७) निर्मतीभवन
(७८) महानिर्मतीभवन
(७९) परमनिर्मतीभवन
(८०) सर्वनिर्मतीभवन
(८१) निर्वितर्कीकरण
(८२) महा निर्वितर्कीकरण
(८३) परम निर्वितर्कीकरण
(८४) सर्वनिर्वितर्कीकरण
(८५) निर्वितर्की भवन
(८६) महा निर्वितर्की भवन
(८७) परमनिर्वितकी भवन
(८८) सर्वनिर्वितर्की भवन
(८९) निरूपयोगीकरण
(९०) महानिरूपयोगीकरण
(९१) परमनिरूपयोगीकरण
(९२) सर्वनिरूपयोगीकरण
(९४) निरूपयोगी भवन
(९४) महानिरूपयोगी भवन
(९५) परमनिरूपयोगी भवन
(९६) सर्वनिरूपयोगी भवन

卐

परिशिष्ट-४

३६३ पाखंडियों का स्वरूप

एकान्त क्रियावाद-स्वरूप तथा भेद

एकान्त क्रियावादी वह होता है, जो एकान्त रूप से जीव आदि पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करता है, तथा ज्ञान के बिना केवल दीक्षा आदि क्रियाओं के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति मानता है।

जीव जैसे-जैसे शुभ अथवा अशुभ करनी (क्रिया) करता है तदनुसार उसे स्वर्ग-नरक आदि के रूप में कर्मों का फल प्राप्त होता है। संसार में सुख-दुःख आदि जो कुछ होते हैं वे सब स्व-कृत हैं, अपने किए हुए हैं, अन्य कृत् अर्थात् काल, ईश्वर आदि के द्वारा किए हुए नहीं हैं।[१]

क्रियावाद के १८० भेद

सर्वप्रथम जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष — इन नौ पदार्थों को क्रमशः स्थापित करें, तत्पश्चात् उनके नीचे 'स्वतः' एवं 'परतः' इन दो भेदों का उल्लेख करें। इसी तरह इनके नीचे 'नित्य' एवं 'अनित्य' इन दो भेदों की स्थापना करें। तत्पश्चात् काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर एवं आत्मा ये पाँच भेद क्रमशः स्थापित करें।

जैसे कि (१) जीव स्वतः विद्यमान है। (२) जीव 'परतः' (अन्य से) उत्पन्न होता है। (३) जीव नित्य है। (४) जीव अनित्य है। — इन चार भेदों को क्रमानुसार उपरोक्त काल आदि पाँचों के साथ जोड़ने से बीस भेद (४ × ५ = २०) होते हैं।

इस प्रकार अजीव आदि शेष आठ के प्रत्येक के बीस-बीस भेद समझ लें। इस तरह नौ पदार्थों के मिलकर २० × ९ = १८० भेद क्रियावादी के होते हैं।[२]

एकान्त क्रियावाद के दोष

जीव आदि पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करने से उनमें कथंचित् पर द्रव्य, क्षेत्र काल एवं भाव की अपेक्षा से जो नास्तित्व धर्म है। उनका अपलाप होता है जो वास्तव में है, तथा वस्तु में एकान्त अस्तित्व मानने से समस्त पदार्थ समस्त पदार्थमय हो जाते हैं, इस प्रकार जगत् का सारा व्यवहार ही उड़ जायेगा। अतः प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से कथंचित्-अमुक अपेक्षा से सत् तथा परस्वरूप से कथंचित् असत् है ऐसा मानना चाहिए।

---

१. *सूत्रकृताङ्ग*, शी-वृत्ति—पत्राङ्क-२१८

२. *सूत्रकृताङ्ग*, निर्युक्ति-गाथा ११६-शी-वृत्ति पत्राङ्क २१८

एकान्त क्रिया से मोक्ष प्राप्त नहीं होता और ज्ञान सम्यग् ज्ञान नहीं बनता। ज्ञान-विहीन अकेली क्रिया से किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। ज्ञानयुक्त क्रिया ही फलदायक होती है। अतः ज्ञान-निरपेक्ष क्रिया अथवा क्रिया-निरपेक्ष ज्ञान द्वारा मोक्ष होता ही नहीं। श्री तीर्थंकर भगवान ने 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः' अर्थात् ज्ञान एवं क्रिया दोनों से मोक्ष प्राप्त होने की बात कही है।

एकान्त अक्रियावाद-स्वरूप एवं भेद

जिस वाद में जीव आदि पदार्थों का एकान्ततः निषेध किया है, तथा उनकी क्रिया-आत्मा, कर्मबन्ध, कर्मफल आदि का भी जिसमें सर्वथा अपलाप किया गया है उसे अक्रियावाद कहते हैं।

अक्रियावादी के निम्न प्रकार से ८४ भेद हैं —

जीव आदि सात पदार्थों का क्रमशः न्यास करके उनके नीचे 'स्वतः' एवं 'परतः' ये दो भेद रखें। तत्पश्चात् ७ × २ = १४ पदों के नीचे काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा — इन छः पदों को रखें।

जैसे (१) जीव स्वतः यदृच्छा से नहीं है। (२) जीव परतः यदृच्छा से नहीं है। (३) जीव स्वतः काल से नहीं है। (४) जीव परतः काल से नहीं है। इस प्रकार नियति, स्वभाव, ईश्वर एवं आत्मा के साथ भी प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं। इस तरह जीव आदि सात पदार्थों के सात स्वतः, परतः के दो और काल आदि के छः भेद मिलाने से कुल ७ × २ = १४, १४ × ६ = ८४ भेद होते हैं।[१]

एकान्त अक्रियावाद के दोष

लोकायतिक, बौद्ध एवं सांख्य दर्शन मुख्यतः एकान्त अक्रियावादी हैं। लोकायतिक मत आत्मा का सर्वथा निषेध करता है। उनके मत से आत्मा ही नहीं, है, तो फिर उसकी क्रिया एवं क्रिया-जनित कर्मबन्ध आदि कहाँ से होंगे?

बौद्ध-मत समस्त पदार्थों को क्षणिक मानता है। क्षणिक पदार्थों में क्रिया होने की कोई सम्भावना नहीं है। अतः वह भी अक्रियावादी है, जिससे उनके क्षणिकवाद के अनुसार भूत एवं भविष्य के साथ वर्तमान क्षण का कोई सम्बन्ध नहीं होता। सम्बन्ध नहीं होने से क्रिया नहीं होती और क्रिया न होने से क्रिया-जनित कर्मबन्ध भी नहीं होता।

सांख्य-मत में आत्मा को सर्वव्यापी स्वीकार कर अक्रिय कहते हैं, अतः वह भी वास्तव में अक्रियावादी हैं।

इस तरह जीव आदि पदार्थों को एकान्ततः अक्रिय मानने से बंध-मोक्ष, पुण्य-पाप, जन्म-मृत्यु आदि घटित नहीं होते।

---

१. *सूत्रकृताङ्ग*, शी. वृ. पत्रांक २०८, निर्युक्ति गाथा-११९

एकान्त अज्ञानवाद-स्वरूप एवं भेद

जो ज्ञान को नहीं मानते अर्थात् अज्ञान को ही कल्याणकारी समझते हैं, वे अज्ञानवादी हैं। अज्ञानियों के ६७ भेद इस प्रकार हैं—

जीव आदि नौ तत्त्वों का क्रमशः उल्लेख करके उनके नीचे सात भंग की स्थापना करें। (१) सत्, (२) असत्, (३) सदसत्, (४) अवक्तव्य, (५) सदवक्तव्य, (६) असदवक्तव्य, (७) सद्-असद् अवक्तव्य।

जीव सत् है यह कौन जानता है? यह जानने का प्रयोजन भी क्या है? इसी प्रकार से असद् आदि शेष छः भंग क्रमशः समझ लें। जीव आदि नौ तत्त्वों में प्रत्येक के साथ सात भंग होने से कुल ६३ भंग हुए। जिनमें चार भंग अब बताये जा रहे हैं। इन्हें सम्मिलित करने से ६३ + ४ = ६७ भेद हुए।

चार भंग—(१) सत् (विद्यमान) पदार्थ की उत्पत्ति होती है यह कौन जानता है? यह जानने से लाभ भी क्या है? इसी तरह से (२) असत् (अविद्यमान), (३) सदसत् (कथंचित् विद्यमान कथंचित् अविद्यमान) और (४) अवक्तव्य भाव के साथ उपरोक्त वाक्य जोड़ने से चार विकल्प होते हैं।

एकान्त अज्ञानवाद के दोष

अज्ञान से किसी जीव का कदापि कुशल-मंगल नहीं होता। संसार में जीव पर परिभ्रमण, जन्म-मृत्यु की परम्परा आदि अनेक प्रकार के कष्ट अज्ञान के कारण ही आ पड़ते हैं।

अज्ञानवादी अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन ज्ञान से करते हैं, परन्तु ज्ञान की निंदा करते हैं। वास्तव में देखा जाए तो जीव आदि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप ज्ञान से ही समझा जा सकता है। अतः ज्ञान-सम्यग्ज्ञान कल्याणकारी है, मंगलकारी है; अज्ञान नहीं। अज्ञान के कल्याणकारी मानने वाले स्वयं महा-भ्रान्त तथा असम्बद्ध भाषी हैं।[१]

एकान्त विनयवाद-स्वरूप एवं भेद

जो विनय को ही मोक्ष का मार्ग मानते हैं, वे विनयवादी हैं। वे कहते हैं, कि विनय से ही स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है।

विनयवाद के ३२ भेद

(१) देवता, (२) राम, (३) यति, (४) ज्ञाति, (५) वृद्ध, (६) अधम, (७) माता और (८) पिता — इन आठों का मन, वचन, काया और दान से विनय करना। इस तरह ८ × ४ = ३२ भेद विनयवाद के होते हैं।[२]

---

१. *सूत्रकृताङ्ग*, शी. वृ. पत्रांक-२११ से २४१; निर्युक्ति गाथा-११९

२. *सूत्रकृताङ्ग*, शी. वृ.-पत्रांक २०८; *सूत्रकृताङ्ग*, निर्युक्ति-गाथा ११९

एकान्त विनयवाद के दोष

मिथ्याग्रह से प्रेरित होकर विनयवादी कहते हैं कि 'हमारे समस्त प्रयोजन की सिद्धि विनय से होती है।' यद्यपि विनय चारित्र का एक अंग है, मोक्ष का मूल है तथापि सम्यग् ज्ञान एवं दर्शन के बिना विवेक-रहित विनय न तो चारित्र का अंग है और न मोक्ष का मूल है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र-रूप विनय से यदि यथा-योग्य आराधना की जाए तो उस मोक्ष-मार्ग के मूल रूप विनय से स्वर्ग एवं अपवर्ग की प्राप्ति हो सकती है।

निष्कर्षतः जो जीव आदि पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं उन क्रियावादियों के १८०, जो जीव आदि पदार्थों के अस्तित्व का अपलाप करते हैं उन अक्रियावादी के ८४, जो ज्ञान का ही निषेध करते हैं, उन अज्ञानवादियों के ६७ और विनय से ही मोक्ष आदि की प्राप्ति मानने वाले विनयवादियों के ३२ भेद हैं। इस तरह कुल ३६३ भेद बताए गए हैं। ये चारों वाद एकान्तवादी एवं आग्रही होने से मिथ्या हैं, 'पाखण्ड' हैं। अतः इनका प्रतिपादन करने वालों को भी 'पाखण्डी' कहा जाता है।

卐

परिशिष्ट-५

'पासत्था' आदि साधुओं का स्वरूप

पासत्थो ओसन्नो कुसील संसत्तओ अहाछंदो।
दुग-दुग-ति-दु-णेगविहा, अवंदणिज्जा जिणमयंमि॥ १२॥

दो प्रकार के 'पार्श्वस्थ' (पासत्था), दो प्रकार के 'अवसन्न' (ओसन्न), तीन प्रकार के 'कुशील', दो प्रकार के 'संसक्त' और छः प्रकार के 'यथाछंद' जिन-शासन (जिन-मत) में अवन्दनीय कहे गये हैं।

—*गुरू वंदन भाष्य*, पू. देवेन्द्र सूरीकृत।

(१) पासत्था (पार्श्वस्थ)—जो ज्ञान आदि पास में रखे परन्तु उनका उपयोग नहीं करे, सेवन नहीं करे।

(अ) जो साधु ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र को अर्थात् तीनों के उपकरणों को पास में रखे परन्तु उनकी सम्यग् आराधना नहीं करें, केवल भेषधारी हों वे 'सर्व पासत्था' कहलाते हैं।

(ब) जो साधु दोषपूर्ण आहार-पानी ग्रहण करें, तथा साधुत्व का मिथ्या गर्व रखें वे 'देश पासत्था' कहलाते हैं।

(२) अवसन्न — जो साधु योग्य 'समाचारी' रहनी-करनी में शिथिल हों।

(अ) जो साधु पड़े रहते हों, लेटे रहते हों, प्रमादवश देह के पोषण के लिए स्थापना-भोजी-गृहस्थ के घर अपने लिए रखा हुआ इष्ट आहार ग्रहण करते हों, और संयम की क्रिया में सर्वथा शिथिल हों, वे 'सर्व अवसन्न' कहलाते हैं।

(ब) जो साधु प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, भिक्षाचर्या, ध्यान, तप एवं प्रमार्जन आदि साधुओं के लिये आवश्यक क्रियाएं नहीं करते, करते हैं तो न्यूनाधिक करते हैं, गुरु आदि की प्रेरणा से विवश होकर करते हैं और अपनी इच्छा के बिना करें वे 'देश अवसन्न' कहलाते हैं।

(३) कुशील — कुत्सित आचार-युक्त हों।

(अ) जो साधु आठ प्रकार के ज्ञानाचार की विराधना करते हैं, वे 'ज्ञान-कुशील' कहलाते हैं।

(ब) जो साधु आठ प्रकार के दर्शनाचार की विराधना करते हैं वे 'दर्शन-कुशील' कहलाते हैं।

(स) जो साधु अपनी कीर्ति एवं कामना के लिए यन्त्र, मन्त्र आदि का प्रयोग करें। बाह्य चमत्कार बतायें, स्वप्नफल, ज्योतिष, जड़ी-बूटी आदि बतायें, अपने शरीर की स्नान आदि से शोभा-विभूषा करें—इत्यादि कार्यों द्वारा चारित्र की विराधना करें वे 'चारित्र-कुशील' कहलाते हैं।

(४) संसक्त — जो गुण तथा दोष दोनों से युक्त हों।

(अ) जो साधु हिंसा आदि अनेक कर्मबंध के कारणों का सेवन करें, अन्य व्यक्तियों के गुणों को सहन न कर सकें और सुखशीलता का आचरण करें, वे 'संक्लिष्ट-संसक्त' कहलाते हैं।

(ब) जो साधु भले-बुरे के विवेक के बिना गुणी साधुओं के साथ उनके जैसे और गुणहीन, भेषधारी साधुओं के साथ उनके समान बनकर रहते हैं अर्थात् भले के साथ भला और बुरे के साथ बुरा व्यवहार करते हैं, वे 'असंक्लिष्ट संसक्त' कहलाते हैं।

(५) यथाछंद — सर्वज्ञ कथित आगमों से निरपेक्ष अपने आशय (छंद) के अनुसार चलने वाले।

यथाछंद साधु अनेक प्रकार के होते हैं। जो उत्सूत्र प्ररूपणा करते हैं, अपनी मति कल्पना के अनुसार सूत्रों के अर्थ प्ररूपित करते हैं, गृहस्थों के कार्यों में लगे रहते हैं, अन्य साधुओं अथवा शिष्यों आदि के तुच्छ अपराधों पर भी बार-बार तीव्र क्रोध अथवा आक्रोश करते हैं, पर निन्दा करते हैं, किसी पर कलंक लगाते हैं, लोगों में पूजनीय बनने के लिए मिथ्या आडम्बर करते हैं, सुखशील बने रहते हैं, आदि अनेक प्रकार के साधु जो अपनी मति कल्पना के अनुसार स्वच्छन्दतापूर्वक व्यवहार करते हैं वे 'यथाछंद' कहलाते हैं।

गुणों तथा गुणों के पक्षपात से रहित, केवल भेषधारी साधुओं को वन्दन करने से, उनका सम्पर्क करने से आत्म-गुणों की शुद्धि एवं पुष्टि होने के बदले हानि होती है। अतः उन्हें अवन्दनीय कहा गया है।

卐

परिशिष्ट-६

चौदह गुणस्थान

आत्मा के गुणों के क्रमिक विकास को 'गुणस्थान' कहते हैं।

मोह का प्रगाढ़ आवरण जीव की निकृष्टतम अवस्था है। पूर्ण चारित्र-गुण का विकास, मोह-हीनता एवं स्थिरता की पराकाष्ठा जीव की उच्चतम अवस्था है।

निकृष्टतम अवस्था का परित्याग कर उच्चतम अवस्था प्राप्त करना ही आत्मा का परम साध्य है। इस परम साध्य की सिद्धि से पहले आत्मा को क्रमशः एक के बाद एक — इस प्रकार अनेक अवस्थाओं की श्रेणी में से गुजरना पड़ता है। इन अवस्थाओं की श्रेणी को 'विकास-क्रम' अथवा 'उत्क्रान्ति मार्ग' कहते हैं। जैन शास्त्रीय परिभाषा में इन्हें 'गुणस्थान-क्रम' कहते हैं।

आन्तरिक विकास की ओर प्रस्थान करते समय आत्मा वस्तुतः संख्यातीत आध्यात्मिक भूमिकाओं का अनुभव करता है, परन्तु जैन शास्त्र में संक्षेप में उनका वर्गीकरण करके उनके १४ भाग किये गये हैं, जो चौदह गुणस्थानों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन चौदह गुणस्थानों में क्रमशः विकास की मात्रा अधिक होती है। इन चौदह अवस्थाओं के पश्चात् आत्मा की समस्त शक्तियाँ-सम्पूर्ण गुण परिपूर्ण रूप से व्यक्त होते हैं। अर्थात् आत्मा का सहज शुद्ध सच्चिदानन्दमय पूर्ण स्वरूप प्रकट होता है।

गुण-विकास की इन अवस्थाओं के नाम भी उन-उन अवस्थाओं के अनुरूप रखें गये हैं जो निम्नलिखित हैं —

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान
(२) सास्वादन गुणस्थान
(३) मिश्र दृष्टि गुणस्थान
(४) सम्यग्दृष्टि गुणस्थान
(५) देशविरत गुणस्थान
(६) प्रमत्त संयत गुणस्थान
(७) अप्रमत्त संयत गुणस्थान
(८) अपूर्व गुणस्थान
(९) अनिवृत्ति गुणस्थान
(१०) सूक्ष्म संपराय गुणस्थान
(११) उपशान्तमोह गुणस्थान
(१२) क्षीणमोह गुणस्थान
(१३) सयोगी गुणस्थान
(१४) अयोगी गुणस्थान

चौदह गुणस्थानों का स्वरूप

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान—मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से जिस जीव की दृष्टि (रूचि-श्रद्धा-मान्यता) मिथ्या-विपरीत हो जाती है, वह 'जीव' मिथ्यादृष्टि कहलाता है।

धतूरे के बीज खाने वाले व्यक्ति को जिस प्रकार श्वेत वस्तु भी पीली दिखाई देती है, उसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव, देवत्व के लक्षण-विहीन देव को परमात्मा मानता है; जिसमें गुरु के लक्षण नहीं है, उनमें गुरु की बुद्धि करता है, जो धर्म के लक्षणों से रहित है उसे धर्म मानता है और जिसमें आत्मा का लक्षण नहीं है उस जड़-शरीर में आत्म-बुद्धि करता है।

मिथ्यादृष्टि जीव की यह अवस्था विशेष ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहलाती है। मोहरूप अव्यक्त मिथ्यात्व तो जीव में अनादि से विद्यमान है परन्तु वह गुणस्थान स्वरूप नहीं है। जीव में जब व्यक्त मिथ्यात्व की बुद्धि प्रकट होती है तब उसे प्रथम गुणस्थान कहा जाता है; क्योंकि मिथ्यात्व का प्रबल उदय होने पर भी उसकी दृष्टि अमुक अंश में यथार्थ भी होती है अर्थात् मिथ्यात्वी भी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि को मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के रूप में जानता और मानता है।

इस अपेक्षा से अथवा जिन जीवों में मिथ्यात्व की अल्पता होने से दया, दान, परोपकार, वैराग्य आदि प्राथमिक कोटि के गुण हैं, उन जीवों की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि को गुणस्थान कहा जाता है।

मदिरा के नशे में अचेत बने मनुष्य को जिस प्रकार हित-अहित का ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार मिथ्यात्व से मोहित जीव आत्म-हितकर मार्ग में सच्चे-झूठे, हित-अहित, जड़-चेतन, धर्म-अधर्म का विवेक (पृथक्करण) नहीं कर सकता।

(२) सास्वादन सम्यग् दृष्टि गुणस्थान—जो जीव प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद अनन्तानुबंधी कषाय का उदय होने पर सम्यक्त्व से विचलित होकर मिथ्यात्व की ओर अभिमुख होतां है तब उस जीव को यह गुण-स्थानक प्राप्त होता है। उसका काल जघन्य से एक-समय और उत्कृष्ट से छः आवलिकाओं का है। उस जीव के स्वरूप (अवस्था) विशेष को 'सास्वादन सम्यग् दृष्टि गुणस्थान' कहा जाता है।

इस गुणस्थान से समय यद्यपि जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है, तो भी खीर खाने के पश्चात् वमन करने वाले मनुष्य को खीर के विचित्र स्वाद का अनुभव होता है। उसी प्रकार से सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व, के अभिमुख बने उस जीव को भी अमुक समय तक सम्यक्त्व गुण के तनिक स्वाद का अनुभव होता है। अतः उस गुणस्थान को 'सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान' कहते हैं।

जीव जब सर्वप्रथम पहले गुणस्थान से आगे बढ़ता है तब वह सीधा चौथे गुणस्थान पर आता है और चौथे गुणस्थान से च्युत होने पर ही वह दूसरे गुणस्थान पर आता है। दूसरा गुणस्थान पतन की ओर उन्मुख होने वाले का ही होता है। चढ़ते समय जीव को दूसरा गुणस्थान नहीं होता।

(३) सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान—मिथ्यात्व मोहनीय के शुद्ध, अर्द्धशुद्ध एवं अशुद्ध—इन तीन पुंजों में से जब अर्द्ध-शुद्ध पुंज का उदय होता है तब जीव की दृष्टि भी तनिक सम्यक् (शुद्ध) एवं

तनिक मिथ्या (अशुद्ध) अर्थात् मिश्र हो जाती है। अतः वह जीव सम्यग्-मिथ्यादृष्टि अर्थात् मिश्रदृष्टि कहलाता है और उसके स्वरूप विशेष को 'मिश्र' गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में जीव को सर्वज्ञ-कथित जीव आदि तत्त्वों पर रूचि या अरूचि नहीं होती, परन्तु ऐसी मध्यस्थता होती है, जैसी नालिकेर द्वीप के निवासियों को चावल आदि धान्य के आहार के सम्बन्ध में होती है।

जिस द्वीप में मुख्य उपज नारियल की होती है वहाँ के निवासियों को चावल, मूँग, गेहूँ आदि सम्बन्धी रूचि अथवा अरूचि होती ही नहीं है, क्योंकि उन्होंने न तो ये अन्न देखे हैं, न सुने हैं। उन्हें उन अन्नों के प्रति समभाव होता है। इस तरह मिश्र-गुणस्थानकवर्ती जीव में सर्वज्ञ प्रणीत तत्त्वों की प्रीति अथवा अप्रीति शुद्ध (सम्यक्) अथवा अशुद्ध (मिथ्या) मान्यता — इन दोनों में से एक भी नहीं होती। दोनों के प्रति समभाव होता है।

इस तीसरे गुण स्थान का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, जो उत्थान की ओर अग्रसर होने वाले तथा पतन की ओर उन्मुख होने वाले दोनों प्रकार के जीवों को होता है। अर्थात् पहले गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान में आए और चौथे गुणस्थान से भी तीसरे गुणस्थान में आए, परन्तु एक बार चौथा गुणस्थान प्राप्त होने के पश्चात् ही तीसरा तथा दूसरा गुणस्थान प्राप्त होता है।

(४) अविरत-सम्यग् दृष्टि गुणस्थान—जो जीव दर्शन-मोह का उपशम, क्षयोपशम अथवा घात कर उसे अशक्त कर सम्यग् (शुद्ध) दृष्टि (रूचि) मान्यता रखते हैं, परन्तु चारित्र-मोह के उदय से अविरत-अशुद्ध प्रवृत्त वाले हैं अर्थात् हिंसा आदि पाप-व्यापारों का त्याग नहीं कर सकते वे जीव अविरत सम्यग्-दृष्टि हैं। ऐसे जीवों का स्वरूप-विशेष अविरत सम्यग् दृष्टि गुणस्थान कहलाता है।

इस गुणस्थान को प्राप्त जीव अधिक से अधिक देशोनअर्द्धपुद्गल परावर्त जितने काल में अवश्य मुक्ति प्राप्त करते हैं। इन गुणस्थानवर्ती जीवों की शरीर से भिन्न आत्मा है, इसकी ठोस (अचूक) प्रतीति-श्रद्धा होती है, अन्य दुःखी जीवों के प्रति करुणाभाव होता है। संसार से निर्वेद होता है। मोक्ष की तीव्र अभिलाषा होती है। इसके फलस्वरूप उनके चित्त में 'शम-समभाव' क्रमशः उल्लसित होता जाता है। सम्यग्-दृष्टि जीव व्रत, नियम-चारित्र को जानने, समझने तथा चाहने पर भी उसे स्वीकार तथा पालन नहीं कर सकते, क्योंकि उनमें अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होता है।

(५) देशविरति गुणस्थान—स्थूल विरति (व्रत-नियम) गुण को रोकने वाला अप्रत्याख्यानावरण-कषाय रूप चारित्र मोह निर्बल बनने से स्थूल हिंसा आदि पापों से निवृत्ति की जा सकती है। जिन जीवों की वृत्ति एवं प्रवृत्ति में हिंसा आदि पाप-क्रियाओं की आंशिक निवृत्ति (अभाव) होती है वे देशविरत अथवा श्रावक कहलाते हैं और उनके उस स्वरूप विशेष को देशविरत गुणस्थान कहते हैं। यहाँ प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होता है।

(६) प्रमत्त संयत गुणस्थान—इस छठे गुणस्थान में (तथा उसके पश्चात् भी) प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव होने से जो जीव हिंसा आदि पाप-क्रियाओं का सर्वथा त्याग करते हैं, वे 'संयत' अथवा सर्वविरति-मुनि कहलाते हैं। संयत-मुनि भी जब तक प्रमाद का सेवन करते हैं, तब तक 'प्रमत्त-संयत' कहलाते हैं और उनके इस स्वरूप विशेष को प्रमत्त-संयत्त गुणस्थान कहा जाता है।

(७) अप्रमत्त संयत्त गुणस्थान—जब मुनि में निद्रा, विषय, कषाय, विकथा आदि प्रमाद का अभाव होता है तब वह अप्रमत्त-संयत कहलाता है। यह गुणस्थानक उत्कृष्ट से भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है।

(८) निवृत्ति, अपूर्वकरण गुणस्थान—छठे से सातवें, सातवें से छठे — इस तरह चढ़ता-उतरता झोले खाता जीव यदि सावधानी खो देता है, तो उसका पतन हो जाता है। यदि पूर्ण सावधानी बरतकर उत्तरोत्तर अप्रमाद को विकसित करता रहता है तो वह आठवें गुणस्थान में आ जाता है। अपूर्व, पहले नहीं किए हों, वैसे अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं।

अपूर्व, पहले नहीं किया हो वैसा करण करना, अपूर्वकरण कहलाता है। इस गुणस्थान में रही आत्मा विशुद्ध अध्यवसायों के प्रभाव से (१) स्थितिघात, (२) रसघात, (३) गुणश्रेणी, (४) गुणसंक्रमण और (५) अपूर्व स्थितिबंध — ये पाँच अपूर्वकरण पहले न किए हों ऐसे करण करता है।

इस गुणस्थान में समकाल में प्रविष्ट जीवों के अध्यवसायों में विवक्षित किसी भी समय परस्पर विशुद्धि में निवृत्ति-फर्क होने से इस गुणस्थान को 'निवृत्तिकरण' भी कहा जाता है।

जैसे राज्य प्राप्त करने की योग्यता के कारण भी राजकुमार को राजा, युवराज कहा जाता है, वैसे इस आठवें गुणस्थान में जीव मोह की एक भी प्रकृति का क्षय अथवा उपशम नहीं करता फिर भी इस गुणस्थान में आने वाला जीव ऊपर के गुणस्थान पर आरोहण करके मोह का क्षय अथवा उपशम करता है। इस योग्यता की अपेक्षा से उस जीव को क्षपक अथवा उपशमक कहा जाता है। चारित्र मोह के क्षय अथवा उपशम का प्रारम्भ नवें गुणस्थान में ही होता है। अतः मुख्यतः उस गुणस्थान में ही क्षपक एवं उपशमक दो भेद हो जाते हैं।

(९) अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान—इस नौवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के हैं —

(१) उपशमक और (२) क्षपक।

(अ) जो जीव चारित्र-मोहनीय कर्म का उपशम करते-करते मोह को दबाते-दबाते आगे बढ़ते हैं। वे उपशमक कहलाते हैं। वे जीव ग्यारहवें गुण-स्थानक तक चढ़ते हैं। उसके बाद अवश्य गिरते हैं।

(ब) जो जीव चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय करते-करते आगे बढ़ते हैं। वे 'क्षपक' कहलाते

हैं। वे जीव दसवें गुणस्थान से सीधे बारहवें गुणस्थान में जाते हैं।

इस नवें गुणस्थान में रहते हुए जीव (सूक्ष्म लोभ के सिवा) मोह का क्षय अथवा उपशम करते हैं, तथा नवें गुणस्थान में समकाल में साथ में आये हुए जीवों के अध्यवसायों की विशुद्धि में निवृत्ति तरतमता भिन्नता नहीं होती अर्थात् सबके अध्यवसाय समान होते हैं। इस गुणस्थान में बादर स्थूल संपराय (कषाय) का उदय होता है। अतः इसका नाम अनिवृत्ति-बादर-संपराय सार्थक ठहरता है।

(१०) सूक्ष्म संपराय गुणस्थान—इस गुणस्थान में संपराय अर्थात् कषाय का अर्थात् लोभ-कषाय के सूक्ष्म खण्डों का ही उदय होता है। इसलिए इसका नाम 'सूक्ष्म संपराय गुणस्थान' है। इस गुणस्थान के जीव भी उपशमक तथा क्षपक दोनों प्रकार के होते हैं जो उपशमक होते हैं, वे लोभ-कषाय का उपशमन करते हैं, जो क्षपक होते हैं, वे लोभ-कषाय का क्षय करते हैं।

(११) उपशान्त मोह गुणस्थान—दसवें गुणस्थान के अन्त में मोह का संपूर्ण उपशमन कर (मोह को दबाकर) आत्मा ग्यारहवें गुणस्थान में आती है, जिससे न तो उसका विपाकोदय होता है और न तो प्रदेशोदय। इसी कारण इस गुणस्थान का नाम 'उपशान्त मोह' है।

इस गुणस्थान में वर्तमान जीव आगे के गुणस्थान प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि जो जीव क्षपक श्रेणी प्रारम्भ करता है वही अगले गुणस्थानों पर आरोहण कर सकता है। परन्तु ग्यारहवें गुणस्थान का जीव उपशमश्रेणी करने वाला होता है, जिससे उसका वहाँ से अवश्य पतन होता है। (जिस प्रकार दबा हुआ शत्रु बल प्रकट होने पर पुनः आक्रमण करता है, उस प्रकार दबा हुआ मोह थोड़ी देर में अपना बल प्रदर्शित करता है, जिससे आत्मा का पतन होता है)।

इस गुणस्थान का काल जघन्य से एक-समय, उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त है। वह काल पूर्ण हुए बिना भी भव (आयु) क्षय होने से गिरे तो वह अनुत्तर विमान में देव के रूप में उत्पन्न होता है तथा वहाँ ग्यारहवें गुणस्थान से सीधा चौथे गुणस्थान को प्राप्त करता है। यदि काल के क्षय से (गुणस्थान का काल पूर्ण हो जाने से) गिरे तो वह क्रमशः सातवें गुणस्थान में आता है। अर्थात् ग्यारहवें से दसवें, दसवें से नवें, तत्पश्चात् क्रमशः आठवें एवं सातवें तक आकर फिर छठे-सातवें चढ़ता-उतरता है अथवा उससे भी नीचे उतर कर ठेठ पहले गुणस्थान में आता है। अधिक नीचे न आए तो भी छठे-सातवें गुणस्थान में तो अवश्य आता है।

(१२) क्षीणमोह गुणस्थान—जिसने मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय किया है परन्तु शेष घाती कर्म अभी तक विद्यमान हैं; दसवें गुणस्थान में मोह का घात करने वाली आत्मा सीधे इस बारहवें गुणस्थान में आती है। उसे मोह की तनिक भी परेशानी नहीं होती। इसीलिए इस गुणस्थान को 'क्षीण-मोह' कहते हैं। इस गुणस्थान में वर्तमान जीव क्षपक श्रेणी वाला होता है और वह इस गुणस्थान के अन्त में शेष तीन घातिकर्मों का क्षय करता है।

(१३) सयोगी केवली-गुणस्थान—जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय इन घाति-कर्मों को सर्वथा क्षय कर केवल-ज्ञान प्राप्त किया है तथा इस गुणस्थान में भी जिनकी उपदेश, विहार, आदि से मन, वचन एवं काया इन तीन योगों की प्रवृत्ति होने से वे सयोगी केवली कहलाते हैं। उनके इस स्वरूप-विशेष को 'सयोगी केवली' गुणस्थान कहा जाता है।

(१४) अयोगी केवली गुणस्थान—जो केवली भगवान योगरहित बनते हैं, वे अयोगी केवली कहलाते हैं। जब पाँच ह्रस्व-अक्षर काल-प्रमाण आयु शेष रहती है तब आत्मा तेरहवें गुणस्थान के अन्त में योग-निरोध की विशिष्ट प्रक्रिया के द्वारा योग-रहित बनती है। योग-रहित अवस्था चौदहवाँ गुणस्थान है।

चौदहवें गुणस्थान में आत्मा मेरु-पर्वत की तरह अटल निष्प्रकम्प बनकर बाकी बचे चार अघाती कर्मों का क्षय होने से देह-त्याग कर सिद्धक्षेत्र में चली जाती है; वहाँ से वह लौटकर नहीं आती। वह सादि अनन्त काल तक वहीं पर पूर्ण स्वरूप में रहती है। आत्मा की यह पूर्ण, शुद्ध सहज अवस्था है। आत्मा के सत्-चित्-आनन्दमय शुद्ध स्वरूप का प्रकटीकरण होना ही मोक्ष है।

卐

परिशिष्ट-७

[भवनयोग के निरूपण में प्रणिधान, समाधान, समाधि एवं काष्ठा से सम्बन्धित क्रमशः प्रसन्नचक्र राजर्षि, भरत चक्रवर्ती, दमदन्त मुनि तथा पुष्पभूति आचार्य के दृष्टान्तों का उल्लेख किया गया है। उनमें तीन दृष्टान्त यहाँ उद्धृत हैं। काष्ठा से सम्बन्धित आचार्य श्री पुष्पभूति का दृष्टान्त प्रथम परिशिष्ट में दियां गया है।]

(१) प्रणिधान का प्रभाव

प्रणिधान के सन्दर्भ में राजर्षि प्रसन्नचन्द्र के दृष्टान्त का जैन कथानुयोग में अनन्य स्थान है। उनके पिता का नाम सोमचन्द्र तथा माता का धारिणी था।

निर्गुण संसार में उनका मन नहीं लगा, अतः अपने बाल-राजकुमार को राज-सिंहासन सौंपकर उन्होंने चारित्र अंगीकार कर लिया। चारित्र-जीवन में राजर्षि तप एवं ध्यान में लीन रहने लगे।

एक बार वह राजगृही के उद्यान में कायोत्सर्ग-ध्यान में निश्चल खड़े थे। उसी समय उस मार्ग से गुजरने वाले कतिपय योद्धाओं का ध्यान उनकी ओर गया। राजर्षि सुन सके उस तरह वे परस्पर वार्तालाप करने लगे कि 'ये राजर्षि यहाँ ध्यान कर रहे हैं और इनका राज्य जाने के कगार पर है। चम्पानगरी के राजा दधिवाहन ने राजधानी के चारों ओर घेरा डाल दिया है। अल्पकाल में ही वह बाल-राजकुमार का संहार करके राज्य लेने का इच्छुक है। बेचारे बाल-राजकुमार के साथ है भी कौन?'

योद्धाओं का यह वार्तालाप सुनकर राजर्षि को राज्य एवं राजकुमार दोनों के प्रति मोह उत्पन्न हुआ। मोहवश दोनों की रक्षा करने के लिए उनमें मानसिक युद्ध प्रारंभ हुया। वे दधिवाहन का संहार कर राज्य तथा राजकुमार को बचाने के अशुभ मनोव्यापार (दुष्टचिंतन) में बहुत ही आगे बढ़ गये। मानो वह सचमुच राजा हैं ऐसे प्रणिधान में पड़कर शत्रु पर अन्तिम प्राण-घातक आक्रमण करने के आशय से शिरस्त्राण उठाने के लिए अपने शिर पर हाथ रखा।

अपने उपयोग को ऐसे अशुभ प्रणिधान में केन्द्रित कर राजर्षि ने सातवीं नरक के योग्य कर्म-दल एकत्रित किए, परन्तु ज्यों ही शिरस्त्राण उठाने के लिए उन्होंने अपने शिर पर हाथ रखा, तो चौंक पड़े क्योंकि शिर पर तो लोच किया हुआ था।

जितनी तीव्रता से वह अशुभ प्रणिधान में तन्मय हुए थे, उतनी ही तीव्रता से वह शुभ प्रणिधान, ध्यान की ओर उन्मुख हुए।

वह इस प्रकार लौटे मानो सम्पूर्ण आत्म प्रदेश में से अशुभ भावरूपी मल निचोड़ डाला।

संयम की साधना का साध्य सिद्ध अवस्था है—यह एक ही सत्य उनके ध्यान का केन्द्र-बिन्दु बन गया और गिनती की मिनटों से पूर्व एकत्रित किए हुए सातवें नरक के कर्मों का मूलोच्छेदन

दूर सात राजलोक के ऊपर सिद्धशिला पर ले जाने वाला केवल ज्ञान उपार्जित करना।

अशुभ-चिन्तन से, अशुभ प्रणिधान से मन लौटाकर शुभ ध्यान के द्वारा आत्मा की पूर्ण शुद्धि एवं सिद्धि प्राप्त करने वाले राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को कोटि-कोटि वन्दन हो।

(२) समाधान के सन्दर्भ में भरत चक्रवर्ती का दृष्टान्त (अनित्य के प्रति राग क्या?)

प्रथम तीर्थंकर परमात्मा श्री ऋषभदेव भगवान के संसारी अवस्था के युवराज-पुत्र भरत महाराज इस काल के, इस क्षेत्र के प्रथम चक्रवर्ती हैं।

एक बार शीशमहल में वह अपनी अलंकृत देह की शोभा निहार रहे थे। इतने में उनकी एक उंगली में से एक अंगूठी सरककर नीचे गिर पड़ी, जिससे वह उंगली सौन्दर्य-रहित हो गई। यह देखकर उनके मन में दुविधा हुई कि शरीर की शोभा का कारण अलंकार है या अलंकारों की शोभा का कारण शरीर है।

इस दुविधा का निवारण करके यथार्थ समाधान प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपने शरीर से समस्त अलंकार उतार डाले। तत्पश्चात् जब उन्होंने दर्पण में देखा तो सम्पूर्ण देह सौन्दर्य-(शोभा) विहीन प्रतीत हुई।

इस दृश्य से महाराजा भरत की आत्मा जागृत हो गई। उनकी अन्तर्दृष्टि खुल गयी। इस अनित्य संसार में नेत्रों से दिखाई देने वाले समस्त पदार्थ नश्वर हैं—यह सत्य उनके हृदय को स्पर्श कर गया। और ऐसे अनित्य पदार्थों के प्रति उनका समस्त राग, सूर्य के पदार्पण के साथ नष्ट होते अन्धकार की तरह नष्ट हो गया। एक छोटा-सा निमित्त पाकर महाराजा भरत अपना मन शुभ में प्रवृत्त कर वीतरागी एवं केवलज्ञानी बन गए।

(३) 'समाधि' के सन्दर्भ में दमदन्त मुनि का दृष्टान्त (महिमामयी माध्यस्थता)

हस्तिशीर्ष नगर में राजा दमदन्त का शासन था। उधर हस्तिनापुर में पाँच पाण्डवों का शासन था। राजा दमदन्त तथा पाण्डवों में शत्रुता थी। दोनों एक-दूसरे का अहित करने के अवसर की ताक में थे।

एक बार राजा दमदन्त प्रति वासुदेव जरासंध से मिलने गया जहाँ वह कुछ दिनों के लिए रुक गया। राजा की अनुपस्थिति का लाभ लेकर पाण्डवों ने दमदन्त के देश को लूट लिया और जला दिया।

कुछ दिनों बाद जब राजा दमदन्त लौटकर आया, तब उसने अपने राज्य की दुर्दशा करने वाले पाण्डवों की राजधानी पर आक्रमण कर उसे घेर लिया। नगर के सारे द्वार बन्द कर पाण्डवों ने शान्त

प्रतिकार किया परन्तु सीधा युद्ध नहीं किया। अत: राजा दमदन्त तंग आकर लौट गया।

दमदन्त राजा का हृदय वैराग्य से वासित था। अत: इस प्रसंग से उसका वैराग्य अधिक ज्वलन्त बना। राज्य, सम्पत्ति आदि समस्त सांसारिक सुखों का परित्याग कर उसने संयम-धर्म ग्रहण किया।

अप्रमत्तता से विचरते हुए दमदन्त मुनि हस्तिनापुर आए और नगर के बाहर प्रतिमा-ध्यान में स्थिर हो गए।

यात्रार्थ प्रयाण करते हुए युधिष्ठिर आदि पाण्डव वहाँ से गुज़रे तो प्रतिमा-ध्यानस्थ मुनि को देखकर वे सब उनको वन्दन करने लगे। अत्यन्त निकट से देखने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि ये तो पूर्वकाल के राजा दमदन्त हैं। पाण्डवों ने उन्हें पहचान लिया। अत: शत्रुता की क्षमा-याचना कर उनको वन्दन कर उन्होंने कृतकृत्यता अनुभव की।

तत्पश्चात् उसी मार्ग से दुर्योधन गुजरा। उसने भी मुनि को देखते ही पहचान लिया—'अरे! यह तो दमदन्त राजा है। यह जानते ही उसके मन में उनके प्रति रोष उभर आया और उसने तत्क्षण उनकी देह पर बीजोरे का प्रहार किया।'

दुर्योधन के इस व्यवहार का, कृत्य का अनुकरण कर उसके सेवकों ने ध्यानस्थ मुनिराज पर पत्थर फेंके। उन पत्थरों से मुनिराज की देह ढक गई।

कुछ समय के पश्चात् वहाँ से गुजरते समय पाण्डवों ने ध्यानस्थ मुनि के स्थान पर बड़े-बड़े पत्थरों का ढ़ेर देखा। जाँच करने पर उन्हें सब कुछ ज्ञात हो गया। अत: वे तुरन्त उनके समीप गए और पूर्ण सावधानीपूर्वक उन्होंने सारे पत्थर हटा दिए।

अविचलित रूप से प्रतिमा ध्यान में लीन मुनि को देखकर पाण्डवों ने भावपूर्वक उनका वन्दन किया, अपराध की क्षमा-याचना की और मुनि के समताभाव की अनुमोदना करते हुए वे स्वस्थान पर गए।

दुर्योधन द्वारा किए गए उपद्रव तथा युधिष्ठिर आदि पाण्डवों द्वारा की गई भक्ति दोनों के प्रति मुनि मध्यस्थ भाव में रहे।

यह है राग एवं द्वेष-दोनों की परिणति से मुक्त मध्यस्थ महात्मा का जाज्वल्यमान दृष्टान्त!

[नोट:—(४) काष्ठा के सन्दर्भ में दृष्टान्त के रूप में प्रथम परिशिष्ट में दिए गए 'आचार्य पुष्पभूति महाराज' के दृष्टान्त पर विचार किया जा सकता है।]

卐

परिशिष्ट-८

भाषा के ४२ प्रकार

[भाषा के चार प्रकार हैं—सत्य, मृषा, सत्यामृषा एवं असत्यामृषा। सत्यभाषा के १०, मृषाभाषा के १० सत्यामृषा के १०, और असत्यामृषा के (व्यवहार-भाषा के) १२—इस प्रकार कुल ४२ प्रकारों का श्री दशवैकालिक निर्युक्ति आदि में उल्लेख है। इस सम्बन्ध में पृष्ठ २४६ पर 'जणवय' आदि गाथाएं दी गई हैं, जो[१] अर्थ सहित निम्नलिखित हैं।]

सत्यभाषा के १० प्रकार

जणवय-सम्मय-ठवणा नामे रूवे पडुच्च सच्चे अ।
ववहार-भाव-जोगे दसमे ओवम्मसच्चे अ॥ २७३॥

(१) जनपद सत्य—कोंकण आदि क्षेत्रों में पानी के लिए 'पय', 'पिच्च', 'उदक', 'नीरम्' आदि भिन्न-भिन्न शब्द प्रयोग किए जाते हैं। इन शब्दों से उन जनपदों में (क्षेत्रों में) ईष्ट अर्थ का ज्ञान होता है, अतः लोक-व्यवहार चलता है। इस प्रकार ये शब्द 'जनपद सत्य' अर्थात् उन क्षेत्रों के लिए 'सत्य' कहे जाते हैं।

(२) सम्मत सत्य—कुमुद, कुवलय, उत्पल, तामरस सभी समान रूप से कीचड़ में उत्पन्न होते हैं, फिर भी ग्वाले तक अर्थात् आबालगोपाल सभी कमल को ही पंकज कहते हैं। इस तरह लोगों में कमल के अर्थ में ही 'पंकज' शब्द सम्मत होने से यह 'सम्मत-सत्य' कहलाता है।

(३) स्थापना सत्य—अलग-अलग प्रकार की अंक-रचना तथा सिक्कों आदि को देखकर जिस भाषा का उच्चारण किया जाए, वह 'स्थापना-सत्य' है—जैसे एक के अंक के आगे दो शून्य लगाने से सौ तथा तीन शून्य लगाने से हजार कहलाते हैं, तथा सिक्कों पर अमुक छाप के अनुसार रुपया, पाँच रुपये आदि कहलाते हैं।

(४) नाम सत्य — कोई व्यक्ति कुल की वृद्धि नहीं करता तो भी 'कुल-वर्द्धन' के नाम से जाना जाता है, धन की वृद्धि नहीं कर रहा हो, तो भी 'धन-वर्धन' कहलाता है, यक्ष न होने पर भी 'यक्ष' कहलाता है। ऐसे समस्त अर्थरहित नामों के प्रयोग 'नाम-सत्य' कहलाते हैं।

(५) रूप-सत्य — वेश के अनुसार गुण न होने पर भी उस प्रकार का रुप धारण करना 'रूप सत्य' है। उससे सम्बन्धित वचन भी 'रूपसत्य' कहलाते हैं, जैसे कोई कपटी व्यक्ति साधु के वेश में हो, तब उसे साधु कहा जाए यह 'रूप-सत्य' है।

---

१. आवश्यक सूत्र की हरिभद्रसूरिरचित वृत्ति तथा पन्नवणा (प्रज्ञापना) सूत्र की मलय गिरिसूरिरचित वृत्ति के आधार पर यहाँ अर्थ दिया गया है।

(६) प्रतीत्य सत्य — दूसरी वस्तु के आधार पर एक वस्तु में भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवहार करना 'प्रतीत्य सत्य' है। जिस प्रकार अन्तिम उंगली की अपेक्षा अनामिका उंगली बड़ी गिनी जाती है, परन्तु मध्यमा (बिचली) उंगली की अपेक्षा अनामिका छोटी गिनी जाती है। इस प्रकार एक ही वस्तु के साथ भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भिन्न-भिन्न व्यवहार 'प्रतीत्य सत्य' कहलाता है।

(७) व्यवहार सत्य — कुछ शब्दों के प्रयोग शब्दार्थ की दृष्टि से उचित नहीं प्रतीत होने पर भी अमुक विवक्षा से बोले जाने के कारण वे प्रयोग सत्य हैं; जैसे 'पर्वत जलता है', 'घड़ा टपकता है', 'कन्या के पेट नहीं है', 'भेड़ के बाल नही हैं' — इन समस्त प्रयोगों में वस्तुतः वैसा होता नहीं है फिर भी 'पर्वत के ऊपर की घास जल रही है', 'घड़े का पानी टपकता है', 'कन्या गर्भधारण के लिए योग्य उदरवाली नहीं है', 'भेड़ के काटे जा सके, उतने बाल नहीं है', इन आशयों से लोक-व्यवहार में वे प्रयोग होते है। अतः ये 'व्यवहार-सत्य' हैं।

(८) भाव सत्य — एक वस्तु में अनेक भाव (वर्ण आदि) हों, तो भी उनमें से किसी एक उत्कृष्ट रूप से विद्यमान भाव को प्रधानता देकर वचनों का प्रयोग करना; जैसे बगुले में पाँचों वर्ण हैं, फिर भी बगुले को श्वेत कहना 'भाव सत्य' है।

(९) योग-सत्य — योग अर्थात् सम्बन्ध से किसी व्यक्ति अथवा वस्तु को उस नाम से पहचानना 'योग-सत्य' है; जैसे छत्र रखने वाला मनुष्य छत्र न हो, तब भी छत्र के सम्बन्ध से छत्रधारी कहलाता है और 'दण्ड' रखने वाला व्यक्ति दण्ड के अभाव में भी दण्ड के सम्बन्ध से 'दण्डी' कहलाता है, यह 'योग-सत्य' है।

(१०) औपम्य सत्य — जिस प्रकार तालाब समुद्र-तुल्य नहीं होने पर भी 'तालाब समुद्र के समान है' — इस प्रकार तालाब को समुद्र की उपमा दी जाती है, यह 'औपम्य-सत्य' है।

मृषा भाषा (असत्य) के १० प्रकार

कोहे माणे माया लोभे पेज्जे तहेव दोसे अ।
हासभए अक्खाइय उवघाए निस्सिआ दसमा॥ २९४॥

(१) क्रोध-निसृत असत्य — क्रोध के आवेश में निकलने वाली वाणी क्रोध-निसृत असत्य है; जैसे क्रोध से तमतमाता पिता पुत्र से कहता है कि 'तू मेरा पुत्र नहीं है' आदि 'क्रोध-निसृत-असत्य' हैं; अथवा क्रोध के आवेश में सच्चा-झूठ जो कुछ बोला जाए वह सब 'क्रोध-निसृत असत्य' है; क्योंकि वह सब बोलते समय क्रोधी व्यक्ति का आशय दुष्ट होता है।

(२) मान-निसृत असत्य — अपनी महत्ता बताने के लिए जिस प्रकार कोई व्यक्ति अल्प धनवाला हो, फिर भी 'मैं महा-धनवान हूँ' ऐसे शब्द बोले, तो वह 'मान-निसृत असत्य' है।

(३) माया-निसृत असत्य — दूसरे को ठगने के आशय से जो सत्य-असत्य बोला जाता है, वह सब 'माया-निसृत असत्य' है।

(४) लोभ-निसृत असत्य — लोभ-वश जो मिथ्या बोला जाए, वह 'लोभ-निसृत असत्य' है। व्यापारी खोटे नाप को भी सच्चे (खरे) कहता है।

(५) प्रेम-निसृत असत्य — अत्यन्त राग के कारण 'मैं आपका दास हूँ' आदि बोला जाए वह 'प्रेम-निसृत असत्य' है।

(६) द्वेष-निसृत असत्य — द्वेष के कारण ईर्ष्यालु मनुष्य गुणवान को भी 'निर्गुण' आदि बताते हैं, यह 'द्वेष-निसृत असत्य' है।

(७) हास्य-निसृत असत्य — जिस प्रकार मसखरे व्यक्ति किसी की कोई वस्तु लेकर छिपा दें, लेकिन उनसे पूछने पर जब कहते हैं कि "मैंने वह चीज़ देखी ही नहीं है" तो यह भाषा 'हास्य-निसृत असत्य' है।

(८) भय-निसृत असत्य — चोरों आदि के भय से 'मेरे पास कुछ नहीं है' आदि असत्य बोला जाता है, वह 'भय-निसृत असत्य' है।

(९) आख्यायिक-निसृत असत्य — कथाओं में जो असम्भव बातें कही जाती हैं, वह 'आख्यायिका-निसृत असत्य' कहलाता है।

(१०) उपघात निसृत असत्य — चोर न हो फिर भी 'तू चोर' है, ऐसा आरोप लगाया जाए, 'उपघात-निसृत असत्य' कहलाता है।

* सत्यमृषा भाषा के १० प्रकार

उप्पन्नविगयमीसग जीवमजीवे अ जीवअजीवे।
तहऽणंतमीसगा खलु परित्त अद्धा अ अद्धद्धा ॥ २७५॥

(१) उत्पन्नमिश्रित सत्यामृषा — उत्पन्न जीवों के सम्बन्ध में जो मिश्रित भाषा बोली जाती है, वह 'उत्पन्नमिश्रित सत्यामृषा भाषा' कही जाती है; जैसे किसी नगर में कम अथवा अधिक बालक उत्पन्न हुए हों, फिर भी 'आज दस बालकों का जन्म हुआ है' यह कहा जाए, तो वह 'उत्पन्नमिश्रित सत्यामृषा' भाषा है क्योंकि उसमें कुछ सत्य है और कुछ असत्य। अतः यह मिश्रभाषा है।

* जिस भाषा में कुछ सत्य और कुछ असत्य (मिथ्या) हो, ऐसी मिश्र भाषा को 'सत्यामृषा' कहा जाता है, क्योंकि उसमें कुछ सच्चा होने से वह 'सत्य' भी है, कुछ झूठा होने से 'मृषा' भी है। इस तरह सत्य तथा असत्य का मिश्रण होने से वह 'सत्यामृषा' कहलाती है।

(२) विगत-मिश्रित सत्यामृषा — इसी तरह से मृत्यु के सम्बन्ध में जो मिश्र भाषा बोली जाती है, वह 'विगत-मिश्रित सत्यामृषा' भाषा है। जिस प्रकार किसी नगर में कम अथवा अधिक मनुष्यों की मृत्यु हो गई हो, फिर भी 'आज दस मनुष्य मर गए हैं' यह कहा जाता है, जो 'विगत-मिश्रित सत्यामृषा' भाषा है।

(३) उत्पन्न-विगत-मिश्रित सत्यामृषा — इसी तरह उत्पत्ति एवं मृत्यु के बारे में जो मिश्र भाषा बोली जाती है, वह 'उत्पन्न-विगत-मिश्रित सत्यामृषा' कहलाती है। जैसे किसी नगर में कम अथवा अधिक मनुष्यों का जन्म हुआ हो, अथवा मृत्यु हुई हो, फिर भी कहा जाता है कि आज दस बालक उत्पन्न हुए हैं और दस बालकों की मृत्यु हो गई है। ऐसी भाषा 'उत्पन्न-विगत-मिश्रित-सत्यामृषा' भाषा है।

(४) जीव-मिश्रित सत्यामृषा — जिस प्रकार किसी ढ़ेर में अधिक जन्तु जीवित हों, और थोड़े मृत भी हों, तो भी 'यह जीवित जन्तुओं का ढ़ेर है' यह कहना 'जीव-मिश्रित सत्यामृषा' भाषा कहलाती है।

(५) अजीवमिश्रित सत्यामृषा — किसी ढ़ेर में अधिक जन्तु मरे हुए हों, और थोड़े जन्तु जीवित हों, फिर भी 'अजीव का ढ़ेर है' यह कहना 'अजीवमिश्रित सत्यामृषा' भाषा कहलाती है।

(६) जीवाजीवमिश्रित सत्यामृषा — ऊपर की तरह जीवित एवं मृत जन्तुओं के ढ़ेर में (वस्तुतः न्यूनाधिक होने पर भी) निश्चयपूर्वक कहना कि 'इतने मृत हैं और इतने जीवित हैं' ऐसी भाषा 'जीवाजीवमिश्रित सत्यामृषा' है।

(७) अनन्तमिश्रित सत्यामृषा — मूल आदि अनन्तकाय को उसके प्रत्येक वनस्पतिकाय रूप पत्तों के साथ अथवा अन्य किसी प्रत्येक वनस्पति के साथ देखकर 'यह सब अनन्तकाय है' कहा जाए, तो 'अनन्तमिश्रित सत्यामृषा' है।

(८) प्रत्येकमिश्रित सत्यामृषा — उपरोक्त प्रत्येक वनस्पति के ढ़ेर में अनन्तकाय हो, फिर भी यह सब 'प्रत्येक वनस्पतिकाय है' यह कहना 'प्रत्येकमिश्रित सत्यामृषा' है।

(९) अद्धामिश्रित सत्यामृषा — अद्धा अर्थात् काल। यहाँ प्रसंगानुसार अद्धा शब्द का अर्थ 'रात-दिन' लेना है। जैसे कोई व्यक्ति, दिन शेष हो, फिर भी अन्य व्यक्ति को शीघ्रता कराने के लिए कहे कि 'रात पड़ गई है' अथवा रात्रि शेष हो, फिर भी उसे जगाने के लिए कहे कि 'दिन उग आया है' — यह 'अद्धामिश्रित सत्यामृषा' कहलाती है।

(१०) अद्धाद्धामिश्रित सत्यामृषा — दिन अथवा रात का एक भाग अद्धाद्धा है। प्रथम प्रहर चल रहा हो फिर भी कोई व्यक्ति किसी अन्य मनुष्य को कार्य में शीघ्रता करने के लिए कहे कि 'मध्याह्न हो गया' आदि वचन 'अद्धाद्धामिश्रित सत्यामृषा' भाषा है।

* असत्यामृषा के १२ प्रकार

आमंतणि आणवणी जायाणी तह पुच्छणी अ पन्नवणी।
पचक्खाणी भासा, भासा इच्छाणुलोमा अ ॥ २७६ ॥
अणिभिग्गहिआ भासा, भासा अ अभिग्गहम्मि बोधत्वा।
संसयकरणी भासा, वायड़ अव्वायड़ा चेव ॥ २९९ ॥

(१) आमंत्रणी — किसी को बुलाने के लिए जिन सम्बोधन वचनों का प्रयोग किया जाए, जैसे —'हे देवदत्त!' 'हे प्रभु!' आदि आमंत्रणी भाषा है। ऐसे आमंत्रण वचनों का प्रथम वर्णित तीन प्रकार की (सत्य, मृषा एवं सत्यामृषा) भाषा के लक्षणों में समावेश नहीं होता, केवल व्यवहार का हेतु होने से ऐसे प्रयोग 'असत्यामृषा' कहलाते हैं।

(२) आज्ञापनी — जैसे 'ऐसा करो', 'लो', 'ले जाओ' आदि आज्ञासूचक वचन 'आज्ञापनी' भाषा है।

(३) याचनी — जैसे 'भिक्षा दो' आदि 'याचनी' भाषा है।

(४) पृच्छनी — जैसे किसी विषय में अनजान व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से पूछे कि 'यह क्या है? ऐसा क्यों?' आदि वचन 'पृच्छनी' भाषा है।

(५) प्रज्ञापनी — 'हिंसा का त्याग करने से प्राणी दीर्घायु तथा निरोग होते हैं' — यह 'प्रज्ञापनी' भाषा है।

(६) प्रत्याख्यानी — जब कोई व्यक्ति हमारे पास माँगने आए तब उसे कहना कि 'मेरी देने की इच्छा नहीं है' — यह 'प्रत्याख्यानी' भाषा है।

(७) इच्छानुलोमा — कोई मनुष्य किसी से कहे कि 'हम साधु के पास चलें', तब दूसरा व्यक्ति कहे कि 'बहुत अच्छी बात है' ऐसी अनुमोदनात्मक भाषा को 'इच्छानुलोमा' भाषा कहते हैं।

(८) अनभिगृहीता — अनेक कार्य करने हों, तब कोई व्यक्ति किसी से पूछे कि 'अब मैं क्या करूँ?' तब दूसरा व्यक्ति उत्तर दे कि 'जो तुझे ठीक लगे सो कर' ऐसी अनिश्चित भाषा 'अनभिगृहीता' भाषा है।

(९) अभिगृहीता — 'अब यह करना' और 'अभी यह मत करना' — इस प्रकार जो निश्चित बात कही जाए वह 'अभिगृहीता' भाषा है।

(१०) संशयकरणी — जिसके अनेक अर्थ निकलते होने से अन्य व्यक्ति संशय में हो —

---

* ऊपर वर्णित तीनों प्रकार की भाषा के लक्षणों से रहित होने से जो सत्य भी नहीं है, तथा मृषा भी नहीं है परन्तु व्यवहार में ही उपयोगी है ऐसी भाषा को 'असत्यामृषा' कहा जाता है।

ऐसी भाषा 'संशयकरणी' भाषा कहलाती है, जैसे 'सैंधव लाओ' — यह कहा जाए, तब दूसरे को संशय उत्पन्न होता है कि 'क्या लाना है?'—नमक लाना है, वस्त्र लाना है, पुरुष लाना है? या घोड़ा लाना है? क्योंकि 'सैंधव' शब्द के नमक, वस्त्र, घोड़ा, आदि अर्थ होते हैं। अतः ऐसी भाषा 'संशयकरणी' भाषा कहलाती है।

(११) **व्याकृता** — 'यह देवदत्त का भाई है' आदि स्पष्ट अर्थयुक्त भाषा 'व्याकृता' भाषा है।

(१२) **अव्याकृता** — अत्यन्त गंभीर अर्थपूर्ण भाषा 'अव्याकृता' भाषा कहलाती है। इसी तरह से अस्पष्ट अर्थयुक्त छोटे बालकों आदि की भाषा भी 'अव्याकृता' भाषा कहलाती है।

इस तरह भाषा के कुल ४२ प्रकार हैं।

卐

इति शम्।

ध्यान-विचारः ॥

(मूल पाठ)

ध्यानं[१], परमध्यानम्[२], शून्यं[३], परमशून्यम्[४], कला[५], परमकला[६], ज्योतिः[७], परमज्योतिः[८], बिन्दुः[९], परमबिन्दुः[१०], नादः[११], परमनादः[१२], तारा[१३], परमतारा[१४], लयः[१५], परमलयः[१६], लवः[१७], परमलवः[१८], मात्रा[१९], परममात्रा[२०], पदं[२१], परमपदम्[२२], सिद्धिः[२३], परमसिद्धिः[२४] इति ध्यानमार्गभेदाः ॥ उक्तं च—

''सुन्न[२]-कल[३]-जोइ[४]-बिंदू[५] नादो[६] तारा[७] लओ[८] लवो[९] मत्ता[१०] ।
पय[११]-सिद्धी[१२] परमजुया झाणाई[१] हुंति चउवीसं ॥ १ ॥''

तत्र **ध्यानं**—चिन्ता-भावनापूर्वकः स्थिरोऽध्यवसायः। द्रव्यतश्चार्त्त-रौद्रे; भावतस्तु आज्ञा[१]-ऽपाय[२]-विपाक[३]-संस्थानविचय[४] भिदं धर्मध्यानम् ॥ १ ॥

परमध्यानं—शुक्लस्य प्रथमो भेदः-पृथक्त्ववितर्कसविचारम् ॥ २ ॥

शून्यं—चिन्ताया उपरमः। द्रव्यशून्यं क्षिप्तचित्तादिना द्वादशधा—

''खित्ते[१] दित्तुम्मत्ते[२] राग[४]-सिणेहा[५] इभय[६] महऽव्वत्ते[७] ।
निद्दाइ[१२]-पंचगेणं बारसहा दव्वसुन्नं ति ॥ २ ॥''

भावतो व्यापारयोग्यस्यापि चेतसः सर्वथा व्यापारोपरमः ॥ ३ ॥

परमशून्यं—त्रिभुवनविषयव्यापि चेतो विधाय एकवस्तुविषयतया संकोच्य ततस्तस्मादप्यपनीयते ॥ ४ ॥

कला—द्रव्यतो मल्लादिभिर्नाडीचम्पनेन या चटाप्यते, भावतस्तु अत्यन्ताभ्यासतः स्वयमेव देश-काल-करणाद्यनपेक्ष्य या समारोहति, अन्येन त्ववतार्यते, यथा पुष्पभूतेराचार्यस्य पुष्प(ष्य?) मित्रेण कला-जागरणं कृतम् ॥ ५ ॥

परमकला—या सुनिष्पन्नत्वादभ्यासस्य स्वयमेव जागर्ति; यथा चतुर्दशपूर्विणां महाप्राणध्याने ॥ ६ ॥

ज्योतिः—चन्द्र-सूर्य-मणि-प्रदीप-विद्युदादि द्रव्यतः, भावतोऽभ्यासादनुलीनमनसो भूत-भवद्-भविष्यद्बहिर्वस्तुसूचा विषयप्रकाशः ॥ ७ ॥

परमज्योतिः—येन सदाऽप्ययत्नेनापि समाहितावस्थायां पूर्वस्माच्चिरकालभावी प्रकाशो जन्यते ॥ ८ ॥

बिन्दुः—द्रव्यतो जलादेः, भावतो येन परिणामविशेषेण जीवात् कर्म गलति ॥ ९ ॥

परमबिन्दुः—सम्यक्त्व-देशविरति-सर्वविरति-अनन्तानुबन्धिविसंयोजन-सप्तकक्षय-उपशामकावस्था-उपशान्तमोहावस्था-मोहक्षपकावस्था-क्षीणमोहावस्थाभाविगुणश्रेणयः, उपरितने तु द्वे गुणश्रेणी केवलिन एव भवतः, इदं तु छद्मस्थस्यैव निरूप्यते। गुणश्रेणिर्नाम बहूपरितनकालवेद्यस्य दलिकस्याधः स्वल्पकालेनैव वेदम्। उक्तं च—

"उवरिमठिईदलियं हेट्ठिमठाणम्मि कुणइ गुणसेढी ॥१०॥"

नादः—द्रव्यतो बुभुक्षातुराणामङ्गुलीस्थगितकर्णानां सुसूत्कारः, भावतः स्वशरीरोत्थ एव तूर्यनिर्घोष इव स्वयं श्रूयते ॥११॥

परमनादः—पृथग्वाद्यमानवादित्रशब्दा इव विभिन्ना व्यक्ताः श्रूयन्ते ॥१२॥

तारा—द्रव्यतो विवाहादौ वधू-वरयोस्तारामेलकः; भावतः कायोत्सर्गव्यवस्थितस्य निश्चला दृष्टिः ॥१३॥

परमतारा—द्वादश्यां प्रतिमायामिवानिमेषा शुष्कपुद्गलन्यस्ता दृष्टिः ॥१४॥

लयः—वज्रलेपादिद्रव्येण संश्लेषो द्रव्यतः; भावतोऽर्हदादिचतुःशरणरूपश्चेतसो निवेशः ॥१५॥

परमलयः—आत्मन्येवात्मानं लीनं पश्यतीत्येवंरूपः ॥१६॥

लवः—द्रव्यतो दात्रादिभिः शस्यादेर्लवनम्; भावतः कर्मणां शुभध्यानानुष्ठानैर्लवनम् ॥१७॥

परमलवः—उपशमश्रेणि-क्षपकश्रेणी ॥१८॥

मात्रा—द्रव्यत उपकरणादिपरिच्छेदः; भावतः समवसरणान्तर्गतं सिंहासनोपविष्टं देशनां कुर्वाणं तीर्थङ्करमिवात्मानं पश्यति ॥१९॥

परममात्रा—चतुर्विंशत्या वलयैः परिवेष्टितमात्मानं ध्यायति, तद् यथा—

शुभाक्षरवलयं—'आज्ञाविचयादिधर्मध्यानभेदाक्षर २३'—'पृथक्त्ववितर्कसविचारं' इत्यक्षराः १०—एवं ३३ न्यस्यन्ते यत्र ॥ (१)

अनक्षरवलयं—"ऊससियं नीससियं" इत्यादिगाथाक्षराण्यनक्षरश्रुतवाचकानि न्यस्यते यत्र ॥ (२)

परमाक्षरवलयं—'ॐ अर्हं अँ रिँ हँ तँ सिँ द्धँ आँ यँ रिँ यँ उँ वँ ज्झाँ यँ साँ हूँ नमः' इति न्यस्यन्ते यत्र ॥ (३)

अक्षरवलयं—'अ आ' इत्यादीनि, ईषत्स्पृष्टतर 'य ल व' युतानि द्विपञ्चाशन्मातृकाक्षराणि 'ह' पर्यन्तानि न्यस्यन्ते यत्र ॥ (४)

निरक्षरवलयं— ध्यान-परमध्यानयोः शुभाक्षरवलये प्रविष्टत्वात् शेषध्यानभेदाः २२ न्यस्यन्ते यत्र ॥ (५)

सकलीकरणवलयं—पृथिव्यप्-तेजो-वाय्वाकाशमण्डलपञ्चकात्मकम् ॥ (६)

तीर्थंकर मातृवलयं—परस्परावलोकनव्यग्रवामजानुन्यस्ततीर्थंकरमातृ २४ वलयम् ॥ (७)

तीर्थङ्करपितृ २४ वलयम्॥ (८)
अतीता-ऽनागत-वर्तमानभावतीर्थङ्करनामाक्षरवलयम्॥ (९)
रोहिण्यादिषोडशविद्यादेवतावलयम्॥ (१०)
अष्टाविंशतिनक्षत्रनामाक्षरवलयम्॥ (११)
अष्टाशीतिग्रहवलयम्॥ (१२)
दिक्कुमारी ५६ वलयम्॥ (१३)
इन्द्र ६४ वलयम्॥ (१४)
यक्षिणी २४ वलयम्॥ (१५)
यक्ष २४ वलयम्॥ (१६)
असंख्यातशाश्वतेतरस्थापनार्हच्चैत्यवलयम्॥ (१७)
ऋषभादि परिवारभूतगणधरप्रभृतिसाधुसंख्यावलयम्॥ (१८)
महत्तरामु'ख्यसाध्वीसंख्यावलयम्॥ (१९)
श्रावकसंख्यावलयम्॥ (२०)
[श्राविकासंख्यावलयम्॥ (२१)]
भवनयोग ९६ वलयम्॥ (२२)
करणयोग ९६ वलयम्॥ (२३)
करण ९६ वलयम्॥ (२४)

पदं—द्रव्यतो लौकिकं राजादि ५, लोकोत्तरमाचार्यादि ५, भावतः पञ्चानां परमेष्ठिपदानां ध्यानम्॥२१॥

परमपदं—पञ्चानां परमेष्ठिपदानामात्मनि न्यासः आत्मनस्तदध्यारोपेण परमेष्ठिरूपतया चिन्तनमित्यर्थः॥ २२॥

सिद्धिः—द्रव्यतः लौकिकाणिमादिरष्टधा, लोकोत्तरा राग-द्वेषमाध्यस्थ्यरूपपरमानन्दलक्षणा; भावतो मुक्तिपदप्राप्तजीवानां—'से न दीहे हस्से' इत्यादि (३१)—'अहवा कम्मे णव दरिसणम्मि' इत्यादि (३१)—मीलने (६२) द्वाषष्टिगुणचिन्तनम्॥ २३॥

परमसिद्धिः—मुक्तगुणानामात्मन्यध्यारोपणम्॥ २४॥

इति संक्षेपार्थः॥

तत्र चिन्ता, भावनाऽनुप्रेक्षाव्यतिरिक्तं चलं चित्तम्। सा च सप्तधा—

प्रथमा तत्त्वचिन्ता-परमतत्त्वचिन्तारूपा। तत्राद्या जीवाऽजीवादीनां ९। द्वितीया ध्यानादीनामेव २४ भेदानाम्॥ १॥

द्वितीया मिथ्यात्व-सास्वादन-मिश्रदृष्टिगृहस्थरूपा। अत्रैतेषां स्वरूपं विपर्यस्तादिरूपं चिन्त्यम्॥ २॥

तृतीया चतुर्विधानाम्—क्रिया (१८०)-अक्रिया (८४)-अज्ञान (६७)-विनय (३२)-वादिनां-(३६३) पाखण्डिनां स्वरूपचिन्ता ॥ ३ ॥

चतुर्थी: पार्श्वस्थादिस्वयूथ्यस्वरूपचिन्ता ॥ ४ ॥

पंचमी: नारक-तिर्यङ्-नरामराणामविरतसम्यग्दृष्टीनां स्वरूपचिन्ता ॥ ५ ॥

षष्ठी: मनुष्याणां देशविरतसम्यग्दृष्टीनां स्वरूपचिन्ता ॥ ६ ॥

सप्तमी: प्रमत्तादि-अयोगिपर्यन्तानां नवानां सर्वविरतानां सिद्धानां चानन्तर १५-परम्परगतभेदानां स्वरूप-चिन्तनम् ॥ ७ ॥

भावनाध्यानमाह—

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥"—(*भगवद्गीता*, अ० ६, श्लो० ३)

आरुरुक्षोरभ्यासः ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्यभेदाच्चतुर्धा।

तत्र **ज्ञान भावना** सूत्रार्थ-तदुभयभेदात् त्रिधा—**'नाणे निच्चब्भासो'** इत्यादि ॥ १ ॥

दर्शनभावना आज्ञारुचि (१)-तत्त्व (९)-परमतत्त्व (२४)-रुचिभेदात् त्रिधा—**'संकाइदोसरहिओ'** इत्यादि ॥ २ ॥

चारित्रभावना सर्वविरत-देशविरत-अविरत भेदात् त्रिधा—**'णवकम्माणायणं'** इत्यादि। अविरतेऽप्यनन्तानुबन्धिक्षयोपशमादिजन्य उपशमादिचारित्रांशोऽस्तीति ॥ ३ ॥

वैराग्यभावना ऽनादिभवभ्रमणचिन्तन-विषयवैमुख्य-शरीराशुचिताचिन्तनभेदात् त्रिधा—**'सुविइयजगस्सभावो'** इत्यादि ॥ ४ ॥

अनुप्रेक्षा ध्यानादवतीर्णस्य, सा च द्वादशधाऽनित्यादिभेदात् **'पढमं अणिच्चभावं'** इत्यादि ॥

रोहिणी[१]-प्रज्ञप्ति[२]-वज्रशृङ्खला[३]-वज्राङ्कुशी[४]-अप्रतिचक्रा[५]-पुरुषदत्ता[६]-काली[७]-महाकाली[८]-गौरी[९]-गान्धारी[१०]-ज्वालामालिनी[११]-मानवी[१२]-वैरोट्या[१३]-ऽच्छुप्ता[१४]-मानसी[१५]-महामान[१६]-सीति विद्यादेवताः ॥

भवनयोगादिस्वरूपं चेदम्—

"जोगो[१] विरियं[२] थामो[३] उच्छाह[४] परक्कमो[५] तहा चेट्ठा[६]।
सत्ती[७] सामत्थं[८] चिय, चउगुण बारह छन्नउई ॥"

(१) योगः— जीवप्रदेशानां कर्मक्षयं प्रति व्यापारणं नियोगिनामिव जीवेन राज्ञेव योगः ॥ १ ॥

(२) वीर्यः—जीवप्रदेशैः कर्मणः प्रेरणं ध्यानाग्नौ चेटिकयेव कचवरस्य ॥ २ ॥

(३) स्थामः— जीवप्रदेशेभ्यः क्षपणार्थं कर्मप्रदेशानामाकर्षणं दन्तालिकयेव कचवरस्य ॥ ३ ॥

(४) उत्साहः— जीवप्रदेशभ्यः कर्मणामूर्ध्वं नयनं नलिकयेव जलस्य ॥ ४ ॥

(५) पराक्रमः— अधोनयनं कर्मणः संस्थितकुतुपात् तैलस्येव, घण्टिकायां वाऽमृतकलायाः ॥ ५ ॥

(६) चेष्टाः— स्वस्थानस्य कर्मणः शोषणं तप्तायसभाजनस्थजलस्येव ॥ ६ ॥

(७) शक्तिः— जीव-कर्मणोर्वियोगंप्रत्याभिमुख्यजननं, तिलानामिव तैलवियोजनं यथा घाणकेन निपीडनम् ॥ ७ ॥

(८) सामर्थ्यः— साक्षाज्जीव-कर्मणोर्वियोगकरणं खल-तैलयोरिव ॥ ८ ॥

एतेषामष्टानामपि प्रत्येकं त्रैविध्यं योग-महायोग-परमयोगादिभेदात्—जघन्यो योगः[१], मध्यमो महायोगः[२], उत्कृष्टः परमयोगः[३]। एवं वीर्य-परमवीर्यादयोऽपि वाच्याः—एवं भेदाः २४; तेऽपि प्रत्येकं चतुर्धा—प्रणिधान-समाधान-समाधि-काष्ठासमाधिभेदात्।

तत्र **प्रणिधान**मशुभेभ्यो निवर्तनम् १। **समाधानं** शुभेषु प्रवर्तनम् २। रागद्वेषमाध्यस्थ्यालम्बनं **समाधिः** ३। ध्यानेन मनस एकाग्रतयोच्छ्वासादिनिरोधः **काष्ठा** ४। प्रसन्नचन्द्र[१]-भरतेश्वर[२]-दमदन्त[३]-पुष्पभूतयो[४] यथाक्रममत्र दृष्टान्ताः ॥

एवं चतुर्विंशतिश्चतुर्गुणिता जाताः ९६ ॥

एते मरुदेव्या इव स्वभावेन जायमाना **भवनयोगाः** ॥

एत एवोपेत्याभोगपूर्वकं क्रियमाणत्वात् **करणयोगाः** ॥

करणानि तु ९६ इत्थं ज्ञेयानि—

चित्तं[२] चेतण[३] सन्ना[४] विन्नाणं[५] धारणा[६] सई[७] बुद्धी[८]।
इहा[९] मई[१०] वियक्का[११] उवओग[१२] मणाइ छन्नउइ ॥

मणाइ इति मनःप्रभृतीनि, मन एतेषामादौ कर्तव्यम्।

तत्राद्यं मनोविषयं करणमष्टधा—उन्मनीकरणं[१], महोन्मनीकरणं[२], परमोन्मनीकरणं[३], सर्वोन्मनीकरणं[४], उन्मनीभवनं[५], महोन्मनीभवनं[६], परमोन्मनीभवनं[७], सर्वोन्मनीभवनम्[८] ॥

मनसोऽशनं चिन्तनम्, तदभावोऽनशनम्। उत् प्राबल्येन गतमिव चिन्ताऽभावान्नष्टमिव मनो यस्यां सा उन्मना, उन्मना क्रियतेऽनेन उन्मनीकरणं मनोमृत्युरित्यर्थः, एतज्जघन्यम्[१]। द्वितीयमेतदेव मध्यमं[२], तृतीयमुत्कृष्टं[३], चतुर्थं जघन्यादिभेदत्रयसंलीनतात्मकम्[४]। भवनचतुष्टयमप्येवम्।

नवरं उपेत्य यत् क्रियते आभोगपूर्वकं तीर्थङ्करादिवत् [तत्] **करणम्**।

यत् त्वनाभोगेनैव स्वयमुल्लसति मरुदेव्यादिवत् तद् **भवनम्** ॥ १ ॥

द्वितीयं चित्तविषयं करणमष्टधा—निश्चित्तीकरणमित्यादि, ४, निश्चित्तीभवनमित्यादि ४।

चित्तं—त्रिकालविषयं चिन्तनम्; तद्भाव उच्छ्वासाद्यभावहेतुः ॥ २ ॥

तृतीयं चेतनाविषयं निश्चेतनीकरणमित्यादि ८ सर्वशरीरगतचेतनाद्यभावरूपं रागाद्यभावहेतुः ॥ ३ ॥

एवं निःसंज्ञीकरणमित्यादि ८ आहारादिगृद्ध्यभावरूपम्। अनेन प्रमत्तादीनामाहारं गृह्णतामपि गृद्ध्यभावः ॥ ४ ॥

निर्विज्ञानीकरणमित्यादि ८ विज्ञानाभावरूपं, यथा सुषुप्तावस्थायां न किमप्यनुभूतमपि वस्तु वेद्यते, एवमत्र जाग्रतोऽपि वस्तुविज्ञानाभावः ॥५॥

निर्धारणीकरणमित्यादि ८ धारणाऽविच्युतिरूपा, तदभावः ॥६॥

उक्तं च—

''चित्तं[१] तिकालविसयं चेय[२]णपच्चक्ख[३]सन्नमणुसरणं।
विन्नाणणेगभेयं[४] कालमसंखेयरं धरणा[५]'' ॥

[—दशवैकालिकभाष्य, गाथा-१९ पृ० १२५ अ]

विस्मृतीकरणमित्यादि ८॥ स्मृतिर्धारणाया द्वितीयो भेदः। यतः—अविच्युति-स्मृति-वासना-भेदात् त्रिधा धारणा वर्ण्यते ॥७॥

निर्बुद्धीकरणमित्यादि ८॥ बुद्धिः औत्पातिक्यादिश्चतुर्धाऽवायरूपा, अवायस्तु निश्चय उच्यते ॥८॥

निरीहीकरणमित्यादि ८॥ ईहा विचारणा, किमयं स्थाणुः पुरुषो वेति ॥९॥

निर्मतीकरणमित्यादि ८॥ मतिरवग्रहो दशधा ॥१०॥

निर्वितर्कीकरणमित्यादि ८॥ ईहोत्तरकालभावी, अवायात् पूर्व ऊहो वितर्कः **''अरण्यमेतत् सविताऽस्तमागतः''** इत्यादि ॥११॥

उपयोगो वासनारूपस्तदभावो निरुपयोगीकरणम् ॥१२॥

महा-परमादिविशेषणानि तथैव जघन्यसंयोगजभेदानि भावनीयानि। करण-भवनभेदोऽपि तथैव ९६॥

एवं करणानि ९६॥

करणैर्गुणिता ध्यान (२४) भेदाः २३०४।

एते करणयोगैः षण्णवतिसंख्यैर्गुणिताः २२११८४।

भवनयोगैरप्येवं भेदाः, उभयं ४४२३६८॥

उक्तं च—

''चत्तारि सयसहस्सा बायालीसं भवे सहस्साई।
तिन्नि सया अडसट्ठा नेया छउमत्थझाणाणं॥''

'योगो विरियं०'त्यादि

यो योग उक्तस्तस्यालम्बनानि २९०।

तत्र मनोयोगः, **'जणवयसम्मय'** इत्यादि भाषाः ४२, **'कालतियं'** इत्यादि १६, उभयं ५८। तत आसां मनश्चिन्तनावसरे मनोयोगत्वम् ५८, भाषणावसरे भाषायोगत्वम् ५८॥

औदारिककाययोगो द्वात्रिंशद्भेदो जीवभेदात्—

"पुढवि-दग-अगणि-मारुय-वणस्सइऽणंता पणिंदिया चउहा।
वणपत्तेया विगला दुविहा सव्वे वि बत्तीसं॥"

तत्र पृथि[१]व्यप्[२]-तेजो[३]-वाय्[४]वनन्तकायिका:[५]सूक्ष्म-बादरपर्याप्ताऽभेदाच्चतुर्धा। संज्ञ्यपसंज्ञि-पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदात् पञ्चेन्द्रियाश्चतुर्धा। प्रत्येकवनस्पति-विकलेन्द्रिया: पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदा:।

वैक्रियं पञ्चविंशतिधा। सप्तानां नारकभेदानां पर्याप्तापर्याप्तभेदेन चतुर्दश। वायुकायिकानां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च एकैकम्। देवानां चतुर्विधानां पर्याप्तापर्याप्तभेदेनाष्टौ—एवं २५।

आहारकं चैकविधमेव। एवं कायत्रयस्यापि भेदा: ५८। एतदन्तर्गतत्वात् तैजसस्यापि ५८। एवं कार्मणस्यापि ५८।—एवमालम्बनानि २९०॥

अत्र मन:प्रभृतीनि योगप्रसादारोहणालम्बनानि यथा वा रङ्गदानाय वस्त्रे पाश: क्रियते।

वीर्ययोगालम्बनानि— ज्ञानाचार ८, दर्शनाचार ८, चारित्राचार ८, तपाचार १२, वीर्याचार ३६—एवम् ७२।

स्थामालम्बनानि ८—

"बंधण[१]-संकमणु[२]-व्वट्टणा[३] य अपवट्टणा उदीरणया[५]।
उवसामणा[६] निहत्ती[७] निकायणा[८] च त्ति करणाइं॥"

[—*कम्मपयडी*, गाथा २]

उत्साहस्य ऊर्ध्वलोकवस्तुचिन्ता। पराक्रमस्य अधोलोकचिन्ता। चेष्टाया: तिर्यग्लोकचिन्तनम्। शक्ते: तत्त्व-परमतत्त्वचिन्ता। सामर्थ्यस्य सिद्धायतनसिद्धस्वरूपचिन्तालम्बनम्॥

॥ इति ध्यानविचार: ॥

जीवन के उपवन में यदि धर्म-कल्पवृक्ष उगाना है तो निम्न चार बातों को अपनाना अनिवार्य है:

१. सर्व जीवो के प्रति प्रेम

२. गुणी जीवों के प्रति प्रमोद

३. दु:खी जीवो के प्रति करुणा

४. दोषयुक्त जीवो के प्रति माध्यस्थ

आत्मा को परमात्म स्वरूप में परिणत करने के मुख्य साधन प्रभु का नाम-मंत्र एवं प्रभु की पावन प्रतिमा हैं ।

सागर जैसी विशाल द्वादशांगी का सार निर्मल ध्यान योग है । श्रावक और साधु के जो मूल गुण एवं उत्तरगुण हैं तथा जो जो बाह्य क्रियाएँ दर्शायी गई हैं, वे सब ध्यान योग को सिद्ध करने हेतु है ।

ध्यान सिद्धि का क्रम इस प्रकार है । ध्यान सिद्धि का उद्देश्य मुक्ति होना चाहिये, ध्यान सिद्धि के लिये मन-प्रसाद चाहिये अर्थात् चित्त प्रसन्न होना चाहिये । चित्त प्रसन्नता, अहिंसा, सयंम और तप आदि विशुद्ध अनुष्ठानों को उल्लास पूर्वक आसेवन करने से सिद्ध कर सकते हैं ।

—उपमिति सारोद्धार प्र०

साधना की शुरुआत चित्त की निर्मलता से होती है । चित की निर्मलता के बिना वास्तविक स्थिरता एवं तन्मयता आत्मसात् होती ही नही है । जिनागमो में दर्शाये हुए मोक्ष साधक प्रत्येक अनुष्ठानों की भावपूर्वक आराधना, सर्वप्रथम साधक के चित को निर्मल बनाती है, तद्उपरान्त उसके फलस्वरुप क्रमशः चित्त की स्थिरता होने पर परमात्मा में तन्मयता सिद्ध होती है ।

अहिंसा धर्म के पालन से चित्त निर्मल बनता है संयम धर्म के पालन से चित्त स्थिर बनता है तपधर्म के पालन से चित्त आत्मस्वरुप में लीन बनता हैं ।

—विजय कलापूर्णसूरिजी महाराज
(ग्रन्थ परिचय से)

मूल्य : रु० १९५

श्री चिन्तामणि पाश्र्वनाथ जैन श्वेताम्बर मन्दिर, भूपतवाला, हरिद्वार-२४९ ४१० (उ० प्र०)